UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178965

UNIVERSAL
LIBRARY

**OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY**

Call No. H 83 S 53 G Accession No. H 2606

Author शास्त्री, चतुरसेन

Title गोली

This book should be returned on or before the date last marked below.

# गोली

( सामाजिक उपन्यास )

लेखक

आचार्य चतुरसेन

जहंस प्रकाशन

मण्डी, सदर बाज़ार, दिल्ली-६.

द्धनाथ जैन,
राजहंस प्रकाशन,
सदर बाजार,
दिल्ली ६।



प्रथम संस्करण



मूल्य ६।।)

मे आ कर देख जाइए। फिर भी—अच्छा और पुष्टिकर ख
सकता। अपने परिवार को ठीक-ठीक भोजन-वस्त्र भी नहीं जुड़
बच्चों को स्कूल की फीस भी ठीक समय पर नहीं दे पाता। अभी-
अपनी ६६ वीं वर्षगाँठ के दिन मैं ने अपने मित्रों को टूटे प्यालों में चा
पिलाई है। परन्तु इस मे क्या? आज भी आप आइए लाख दो ला
की थैली ले कर, और देखिए कि मेरी लात में वह दम-खम है जो चालीस
साल पहले था। मैं इच्छा-दरिद्र साहित्यकार हूँ। अपने में मस्त।
साहित्य रचना करता हूँ अपने लिए। अपनी आत्म-तुष्टि के लिए। उस में
न प्रचार भावना है, न द्वेष भावना। केवल मनुष्य को प्यार करने और
उसे सुखी और भयहीन देखने की मेरी कामना रहती है। वही कामना
मेरे साहित्य की प्रेरक शक्ति है। उसी के बल से मैं ने चम्पा एक ऐसी
स्त्री आप के सम्मुख ला खड़ी की है, जैसी आज तक विश्व का कोई
साहित्यकार नहीं पेश कर सका। आप खुशी से मेरी मग़रूरी का तिर-
स्कार कर सकते हैं।

ज्ञानधाम-प्रतिष्ठान,
शहादरा—दिल्ली,
७-१२-५६।

—चतुरसेन

## हम क्या कहें·····?

कहने की आवश्यकता भी क्या है, क्योंकि आज कहने का जुग थोड़े ही है—करने का है। 'राजहंस' अपनी उज्ज्वल परंपरा में एक अनूठा मोती और जोड़ रहा है। पाठक-पारखी परखें हम क्या कहें।

—प्रकाशक

# समर्पण

जिस ने बिना ही शस्त्र ग्रहण किए एक ही वर्ष में इतना बड़ा अखण्ड चक्रवर्ती राज्य स्थापित कर दिया—जितना कि न राम का था, न कृष्ण का, न अशोक का था, न अकबर का, न लहरों के स्वामी ब्रिटेन का। शरीर उसने अपनी इकलौती बेटी को सौंप दिया, और चेतना अपनी जन्म-भूमि को अर्पित की। पुत्री रात-दिन सेवा रत रहती। समय बचा कर सूत कातती। उसी सूत से उस का कुर्ता बनता—धोती बनती। और जब वह फट जाते तो पुत्री मगि उन्हीं को काट-कूट कर अपनी साड़ी-कुर्ता बनाती।

यही था उस परम सत्त्व का जीवन वैभव ! अपने ही में सम्पन्न, अपने ही में परिपूर्ण !!!

उन्हीं विश्व के अप्रतिम राजनीति-चक्रवर्ती सार्वभौम सरदार वल्लभ भाई पटेल की दिवंगत पावन आत्मा को मेरा यह उपन्यास 'गोली' सादर समर्पित है।

—चतुरसेन

# गोली

# टूटे हुए सिंहासन चीत्कार कर उठे !!!

इस वर्ष मैंने ६५ वां वर्ष समाप्त कर ६६ वें में पदार्पण किया। यह पदार्पण शुभ है या अशुभ, यह बात अदृष्ट और भविष्य पर निर्भर है। स्वास्थ्य मेरा निरन्तर गिरता जा रहा है और इस समय तो मैं अस्वस्थ हूँ। गत जून मास में मसूरी गया था, वहीं से घुटनों का दर्द शुरू हो गया। इसी सप्ताह एक्सरे कराया तो पता लगा, जोड़ बढ़ गए हैं। मूल-ग्रन्थियों में भी विकार उत्पन्न हो गया है। इन कारणों से चलने-फिरने से लाचार और कमजोर भी हो गया हूँ। मानसिक-व्याधा शरीर-व्याधा से भी ऊपर है। फिर भी मैं चलता-फिरता हूँ, काम भी करता हूँ। शरीर-व्याधा की अपेक्षा मानसिक-व्याधा पर मैंने अधिक सफलता प्राप्त की है। गत वर्ष इसी अवसर पर मैंने कहा था—'मेरे आनन्द में सबका हिस्सा है, केवल मेरा दर्द मेरे लिए है।' आज भी मैं अपने इस वचन को दुहराता हूँ। इन दिनों मैं ने एक नई अनुभूति प्राप्त की है—दर्द का प्यार में विसर्जन। मेरी इसी नई अनुभूति ने मुझ से नया उपन्यास 'गोली' लिखा डाला है, जिसकी नायिका चम्पा का मैं ने 'दर्द का प्यार में विसर्जन' की मनोभूमि में शृंगार किया है। इस शृंगार का देवता है किसुन। मैं जानता हूँ मेरी इस चम्पा को और उसके शृंगार के देवता किसुन को आप कभी भूलेंगे नहीं। चम्पा के दर्द की एक-एक चीस आप एक बहुमूल्य रत्न की भाँति अपने हृदय में संजो कर रखेंगे। किसुन के दर्द की परवाह करने की आप को आवश्यकता नहीं है, क्यों कि देवताओं को दर्द व्यापता नहीं है।

एक बात और है। अपनी शारीरिक और मानसिक—दोनों ही व्याधाओं को मैं ने अपने परिश्रम से थका डाला है। आप कदाचित विश्वास न करें कि यह अस्वस्थ और भग्न पुरुष जीवन के समूचे भार को ढोता हुआ आज भी निरन्तर १२ से १८ घण्टे तक अपनी मेज पर झुका बैठा रहता है। बहुधा उस का खाना-पीना और कभी-कभी सोना भी वहीं सम्पन्न हो जाता है। अपने मन को हल्का करने की मैं ने अद्-भुत विधि निकाली है। अपने आनन्द और हास्य को तो मैं अपने मित्रों में बखेरता रहता हूँ और दर्द को अपने पात्रों को बाँट देता हूँ। अपने पास कुछ नहीं रखता। इस के अतिरिक्त मुझे एक अकल्पित-अतर्कित दौलत भी मिल गई—मुन्नी। पैंसठ वर्ष की आयु में विधाता ने मुझे अचानक ही एक पुत्री का पिता बनाकर अच्छा मसखरापन किया है। मुन्नी मुझे अब एक नया पाठ पढ़ा रही है, निर्द्वन्द्व हंसते रहने का। अब तक मेरी जीवन-संगिनी अकेली मेरी कलम थी, जो आधी शताब्दी से अखण्ड चल रही है। अब दो जीवन-संगिनी हो गईं। दूसरी हमारी मुन्नी। दोनों की दो राहें हैं—कलम रुलाती है—मुन्नी हँसाती है। आनन्द कहाँ अधिक पाता हूँ, सो नहीं जानता। आप मुझे मूढ़ कह सकते हैं। सो मूढ़ तो मैं हूँ ही।

जीवन से मोह मुझे सदा ही रहा। आज भी है, मुन्नी ने उस में और इफाजा किया है। पर शरीर-धर्म तो अपनी राह चलेगा ही। मैं इन बातों पर ध्यान नहीं देता। पर इस जन्म-दिन ने मेरा ध्यान इधर खींच लिया। सो शरीर अपनी राह पर जाय, मुझे चिन्ता नहीं है, मैं तो अपना काम ईमानदारी से कर रहा हूँ। जब तक संभव होगा करता रहूँगा। इस वर्ष परिश्रम मैं ने बहुत-बहुत किया, पर नाम लेने-योग्य ग्रन्थ तो एक ही दिया 'गोली'। परन्तु इस के अतिरिक्त भी इस जन्म-दिवस के क्षण में अपने चिर-साध्य 'भारतीय संस्कृति के इतिहास' की पाण्डुलिपि की समाप्ति पर भी हस्ताक्षर किए।

जब से 'गोली' का साप्ताहिक हिन्दुस्तान में धारावाही रूप में छपना

आरम्भ हुआ, मेरे पास इसके सम्बन्ध में पत्रों का तांता बंध गया। यह सिलसिला अब भी टूटा नहीं है। इन में जो प्रशंसात्मक थे, उन्हें पढ़ कर मैं खुश हो गया और चूमकर चुपचाप रख लिया। जवाब नहीं दिया। परन्तु जिन में शंकाएँ होती थीं, आलोचना होती थी या कुछ पूछा जाता था, उनका जवाब तो देना ही पड़ता था। फिर भी कुछ पत्र ऐसे आए हैं जिन का जवाब चुपचाप देना मैं उचित नहीं समझता। उन्हें मैं जवाब ऊँची आवाज में देना चाहता हूँ ताकि और बहरे कान भी उसे सुन लें। कुछ पत्र मेरे पास इस अभिप्राय के आए हैं जिन में पूछा गया है कि इस उपन्यास को आपने क्यों लिखा है? कहीं आप राजा-महाराजाओं को पेन्शन तो बन्द कराना नहीं चाहते? या इन गोली-गुलाम दारोगाओं को भी पैन्शन का हकदार बनाना चाहते हैं? कुछ पत्र इन से भी दो कदम आगे हैं, उनका कहना है—कदाचित् आप ऐसा साहित्य लिख कर अपना मुँह बन्द करने के एवज़ में राजा-महाराजाओं से लाख-पचास हजार रुपया घूंस में ऐंठ लेना चाहते हैं।

अफसोस कि मेरा इस प्रकार का कोई उद्देश्य नहीं है। मैं ने तो राजस्थान के साठ हज़ार निरीह नर-नारियों की एक इकाई के रूप में चम्पा और किसुन को आप के सामने उपस्थित किया है। चम्पा एक ऐसी नारी है जिसकी समता की स्त्री आप संसार के पर्दे पर नहीं ढूंढ़ सकते। जिसका व्यक्तित्व निराला है, जीवन निराला है, आदर्श भी निराले हैं, धर्म निराला है सुख-दुःख और संसार निराला है। जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। उसका और जिन साठ हज़ार नर-नारियों का वह प्रतिनिधित्व करती है, यह अद्भुत अतर्कित जीवन राजस्थान के राजाओं-रईसों ने दिया है। दुनिया ने भारतीय राजाओं के बड़े-बड़े ऐश्वर्य के किस्से सुने होंगे। पर इन साठ हज़ार नर-नारियों की दर्दनाक चीत्कार तो मैं ही विश्व के कानों में पहुँचा रहा हूँ। जिससे आप अज्ञात थे, सभ्य संसार अज्ञात था, और चम्पा का मुंह न खुलता तो अज्ञात ही रह जाता। यह मत समझिए कि चम्पा कोई कल्पित मूर्ति है। वह एक सजीव स्त्री है,

जिस की वाणी में साठ हज़ार नर-नारी बोल रहे हैं ; जिनका मुँह शताब्दियों से सिश्रा हुआ था। जिनके मुखों पर नहीं—आत्मा पर भी गुलामी के ताले जड़े हुए थे। आज उस का मुँह खुला है तो राजा-महाराजों के टूटे हुए सिंहासन भी चीत्कार कर उठे हैं। क्यों न करेंगे भला ? उन जड़े हुए जवाहरात के नीचे से सड़ी दुर्गन्ध जो उठ खड़ी हुई है। उन के मुँह इतिहास के पृष्ठों में सदा के लिए काले जो हो रहे हैं। सम्भव है इन ऐसे पत्रों के लेखक कोई भूतपूर्व राजा ही हों, या राजकुमार, इस्तमरारदार, जागीरदार, माफीदार, तथा ऐसे पुरुष हो जिन का गुज़र-बसर राजाओं की भाँति उन की छत्र छाया में बिना परिश्रम किए होता रहा हो, और अब उन्हें पसीना बहाने की नौबत आई हो। उनका घबराना स्वाभाविक है। मेरा उन्हें जवाब है, कि यद्यपि इस उपन्यास की रचना का तो यह उद्देश्य नहीं, जिनका भय उन्हों ने प्रकट किया है, पर मैं बिलाशक यह चाहता ज़रूर हूँ कि अविलम्ब इन भूत राजा-महाराजाओं की पेन्शनें ज़ब्त कर ली जाँय और वह रकम इन सताई हुई साठ हज़ार पवित्रात्माओं में बाँट दी जाय। पर अफसोस है कि मैं भारत का प्रधानमन्त्री नहीं हूँ, निरीह साहित्यकार हूँ। केवल एक आवाज दुनिया के मनुष्यों तक पहुँचाने की ही शक्ति रखता हूँ। सरकार हमारी अहिंसक है। समन्वयवादी है। पचमेल मिठाई की उसकी दूकान है। लाल रंग से वह भड़कती है। तिरंगा झण्डा फहराती है, और तिरंगी चाल चलती है। उसके राज्य में भला राजाओं को क्या भय ?

मैं तो ज़रूर यह चाहता हूँ कि जैसा मैं मेहनतकश हूँ—वैसे ही ये राजा लोग भी बनें। मुझे यदि एक बार प्रधानमन्त्री बना दिया जाय तो मैं पहली कलम इन सब राजाओं को भाखरा-बाँध पर एक-एक टोकरी और एक-एक कुदाल दे कर भेज दूँ। जिस से उनका अपच भी दूर होगा और मरने से प्रथम कुछ दिन वे ईमानदारी से अपनी कमाई के टुकड़े खाएँगे। क्या आप ने सुना नहीं लाल-क्रान्ति के दूत लैनिन ने ज़ार और उसके बाल-बच्चों को एक कलम गोली से उड़ा दिया था। आज जब रूस

के प्रतापी ज़ार के खानदान वाले इंगलेण्ड और अमेरिका के होटलों में प्लेटें धोते हैं, रूस की शाहज़ादियाँ दर्जी-खाने में बैठकर मशीनें चला रही हैं या धोबी का धन्धा कर रही हैं, तब क्या कारण है कि इन राजाओं को मुफ्त का माल-मलीदा खाने को भारी-भारी पैन्शनें अभी तक दी जा रही हैं। मैं पूछता हूँ किस पुण्य कर्म के बदले में ? क्या आप की आँखों ने देखा नहीं—कि प्रतापी जर्मन सम्राट् कैसर को भी हालेण्ड में जाकर पेट के लिए आरा-मशीन चलानी पड़ी थी ? पर इन राजाओं के तो रंग ही निराले हैं। रस्सी जल गई और ऐंठ अभी क़ायम है। सिंहासन टूट चुके हैं मगर राजा-महाराजा तो अभी मौज-मज़ा करते ही हैं। अब भी उन की करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति विदेशी बैंकों में जमा है, जब कि पैन्शनें भी मिलती हैं। मैं एक ऐसे राजा को जानता हूँ कि जिस के आज भी चौदह ट्रक ठोस सोने और—जवाहरात से भरे तहखाने में न जाने कहाँ के प्रयाण की तैयारी में लदे खड़े हैं। जब कि उनका स्वामी सुबह का चिराग हो रहा है।

आप जानते हैं जूनागढ़ के नवाब के पास पाकिस्तान जाने से पूर्व ३००० कुत्ते थे, जिन में १३ सौ विवाहित थे। पिछली बार निज़ाम हैदराबाद (विलय के बाद) जब राजप्रमुखों की मीटिंग में शरीक होने दिल्ली आए थे—तब पहले ही से उन्हों ने ५५ ताबेदार दिल्ली रवाना कर दिए थे, कि वे निज़ाम पैलेस के १०० कमरों को उन के रहने योग्य आरास्ता कर दें। उन के साथ उन की ७० बीवियों में से १५; ३६ शाहज़ादियों में से १० और ५६ डाक्टर-नर्स हज्जाम और अग़लम-बग़लम साथ थे। गए दिनों बड़ौदा के राजा ने एक घोड़ा कोई चार लाख में ख़रीदा था। एक बार एक महाराजा ने खामखाह फ्रण्टियर-मेल को एक स्टेशन पर महज़ अखबार पढ़ने के लिए ३७ मिनट लेट करने में ३७ हज़ार रुपये खर्च डाले थे। मुमकिन है कि इन बातों को सुन कर आप को हंसी आ जाय। क्यों कि आप के शरीर में लोहू तो है नहीं, पानी है। लोहू होता—तो आज क्या राजा लोग आप के लोक-राज्य में मुफ्त की

पेन्शन खाते, जब कि आज आप की फूल-सी बहू-बेटियाँ तक पेट के लिए मिहनत के मैदान में उतर चुकी हैं। और ये शर्मदार, पत्र-लेखक जो पोतड़ों के रईस मालूम होते हैं—एक साहित्यकार को ऐसा खत लिखने का साहस करते ? मैं लानत भेजता हूँ—पैन्शन लेने और देने पर, परन्तु मैं साहित्य का सर्जन इन तुच्छ भावनाओं से नहीं करता। मैं ने तो आप को यह दिखाया है—कि मानव कहाँ आहत हुआ है। एक बार उस की ओर देख तो लीजिए।

कुछ ऐसे भी पत्र आए हैं जिन में लेखक उन के भी अब्बाजान मालूम होते हैं। उन्हें शक ही नहीं— करीब-करीब निश्चय है कि यह उपन्यास लिख कर मैं डरा-धमका कर राजाओं से लाख पचास हज़ार रु० झाँसना चाहता हूँ। जी हाँ, लाख की बात तो नहीं कहता—पर ५०-५० हजार की ढेरी पर तो मुझे लात मारने के अवसर आए हैं। मैं ४० साल चिकित्सक रहा हूँ। भारत का कोई ही नामांकित राजा रहा होगा, जिस की सेवा करने की प्रतिष्ठा मुझे न मिली हो। गया चिकित्सक के नाते, पर इज्जत (?) आबरू और सौतिया डाह ने मुझे ऐसे-ऐसे मामलों का माध्यम बना दिया कि उन बातों को तो मैं अब भी ज़बान पर ला नहीं सकता। सम्भव ही नहीं कि आप उन बातों पर विचार कर सकें। विश्वास कैसे कर सकते हैं आप ? आप ठहरे मिहनत-मजदूरी करने वाले, बाल-बच्चों वाले सद्-गृहस्थ। सौ, दो सौ पाँच सौ, की आमदनी में जीवन चलाने वाले साधारण लोग। आप कैसे उन लोगों के जीवन की विचित्रता की कल्पना कर सकते हैं जो प्रति मास ५०-५० लाख खर्च कर दिया करते थे। ये भयानक खर्च कहाँ होते थे, किस मद में। आज राजस्थान के रंगीन महलों की सूनी दीवारें उस जमा-खर्च की गवाह हैं। कुछ आँखें अनहोनी घटनाएँ देखने वाली अभी जिन्दा हैं। अवसर हुआ तो किसी दिन यह पुराना पानदान भी खोल दूंगा।

अस्वस्थ होने पर भी आज मैं अपनी पैंसठ बरस की अवस्था में १५-१६ घण्टे कड़ी मिहनत करता हूँ। किसी रोज आधी रात को चुपके

: १ :

# जन्म-जात कलंकिनी

मैं जन्म-जात अभागिन हूँ। स्त्री-जाति का कलंक हूँ। स्त्रियों में अधम हूँ। परन्तु मैं निर्दोष हूँ, निष्पाप हूँ। मेरा दुर्भाग्य मेरा अपना नहीं है, मेरी जाति का है, जाति-परम्परा का है। हम पैदा ही इसलिए होती हैं कि कलंकित जीवन व्यतीत करें। जैसी मैं हूँ ऐसी ही मेरी मा थी, दादी थी, परदादी थी, उन की भी दादियां-परदादियां थीं। मेरी सब बहनें ऐसी ही हैं। मैं ने जन्म से ही राजसुख भोगा, राजमहल में पल कर मैं बड़ी हुई, रानी की भाँति मैंने अपने यौवन का शृंगार किया। हीरे-मोती मेरे लिए कंकड़-पत्थर के ढेर थे। मैं मुहरें लुटाती थी, सुनहरी छपरखाट पर सोती थी, नित-नए छप्पन भोग खाती थी। जरी

के पर्दों वाली सुखपाल पर बाहर निकलती थी या हाथी पर सुनहरे हौदे में बैठती थी। रंगमहल में मेरा ही अदल चलता था। दासियाँ और बाँदियाँ हाथ बाँधे मेरी सेवा में रहती थीं। राजा मेरे चरण चूमता था, मेरी भौंहों पर तनिक-सा बल पड़ते ही वह बदहवास हो जाता था। उस का प्रेम समुद्र की भाँति अथाह था। प्रजा उस के आतंक से कांपती थी। वह अपने हाथों मेरा शृंगार करता, मेंहदी लगाता, जूड़े में फूल गूंथता, इत्र और सुगंधों की देशी-विलायती शीशियां मेरे अंग पर बिखेरता रहता। दिन में पांच बार मैं पोशाक बदलती थी, नित्य उबटना करती थी, पान मेरे लिए महोबे से आते थे और साड़ियां बनारस से। दर्जी मेरी पौर में बैठ कर मेरे लिए नित नई पोशाकें सीता था। मेरा रसौड़ा अलग था। राजा मेरे ही साथ कासा आरोगता था। मेरे जूठे टुकड़े उसे बहुत प्रिय थे। दिन में, रात में वह मुझे निहारता। कभी चन्दा कहता, कभी चांदनी। कभी चम्पा कहता, कभी चमेली। कभी गुलाब कहता, कभी मालती। उस की उपमाएं कभी-कभी फूहड़ हो जाती थीं। पर इस की उसे चिन्ता न थी। कलमुँहे विधाता ने मुझे जो यह जला रूप दिया, वह उस रूप का दीवाना था, प्रेमी-पतंगा था। एक ओर उसका इतना बड़ा राज-पाट और वह स्वयं भी मेरे चरण की इस कनी अंगुली के नाखून पर न्यौछावर था।

उस से मुझे पाँच सन्तानें हुईं—तीन लड़कियां और दो लडके। लड़कियाँ सब मेरी जैसी उजागरी थीं और लड़के उसके अनुरूप। मेरी ये पाँचों सन्तानें राजा ही के ओरस से हुईं, पर वह उनका पिता न था ; पिता था मेरा पति, जिस का कर-स्पर्श मैंने केवल एक बार, जब मैं पन्द्रह वर्ष की थी, विवाह-मण्डप में किया था ; उसके बाद वह मेरी चाकरी में हाजिर रहा। पूरे इक्कीस वर्ष, जब तक मैं रंगमहल में रही, मेरा अंग-स्पर्श करना उसके लिए अवैध था। मेरे पलंग और मेरी पोशाकों की सार-सम्हाल करने की उसकी नौकरी थी। वह नित्य ही मेरी सुख-सेज ताजे फूलों से सजाता था। हर बार मेरी नई पोशाक मेरी खिदमत में

हाजिर करता और उतारी हुई को सहेज कर रखता। पर मेरी सेज पर वह अपनी अंगुली का भी स्पर्श नहीं कर सकता था। उस पर आरोहण करने का एक मात्र अधिकार था राजा का। राजा और मैं एक थाल में भोजन करते, उसमें बहुत-सी जूठन बच रहती। जब तक हम खाते रहते, विविध भोज्य पदार्थ अटाले के लोग परसते रहते। परोसगारी कुछ खाने न खाने पर निर्भर न थी, यह रिवाज ही था। हमारा वह जूठन से भरा थाल मेरे पति का ही हिस्सा था। वह उसे ही मिलता था, जिसकी वह सदैव अटाले की बाहरी पौर पर आतुरता से प्रतीक्षा करता रहता था। हमारे शयन-मन्दिर के बाहर वह रात भर हाजिर रह कर पहरा देता था। अत्यन्त विश्वनीय यह काम उसे विश्वासपात्र समझ कर ही सौंपा गया था। रात को दस पलंग-सेविकाएँ हमारे शयन-मन्दिर में हाजिर रहती थीं। हमारी आवश्यकताओं की सूचनाएँ वे उसे देतीं। कभी दारू की आवश्यकता होती, कभी झारी का पानी चुक जाता, कभी पानों की जरूरत पड़ती। ये सब सेवाएँ वही करता था।

वह एक सुन्दर, तरुण, भावुक और प्रेमी पुरुष था। उसकी आँखें मेरे लिए प्यासी थीं, शरीर मेरे लिए भूखा था। उसकी यह भूख और प्यास मेरी आँखों से ओझल न थी। राजा के जर्जर और रोगी तथा घावों से भरे हुए शरीर की अपेक्षा उसकी जवानी का भरा-पुरा गठीला परिश्रमी शरीर मेरे लिए कम लोभ की वस्तु न थी। फिर वह मेरा परिणीत पति था, मैं उसकी विवाहिता स्त्री थी। परन्तु मेरा धर्म मेरे साथ था। मैं उसे छू भी न सकती थी। उसकी प्यासी आँखें और भूखा शरीर देख कर बहुधा मुझे एक नशा-जैसा हो जाता था, पर इस से क्या? मेरी सेज का स्वामी तो राजा था? उसके साथ तो मैं एक चाकर से अधिक व्यवहार नहीं कर सकती थी। बहुत बार उसने मुझसे पैर दबाने की चाकरी करने की चिरौरी की। वह इसी बहाने मेरे शरीर को छूने का सुख लूटना चाह रहा था, पर मैंने स्वीकार न किया। कुछ अपने धर्म के भय से और कुछ इस भय से भी कि मेरा मन कहीं डिग न जाय।

पर, मैं उस पर कृपा बहुत करती। हमारा जूठा थाल तो उसे नित्य मिलता ही था। राजा के सब उतारे हुए वस्त्र भी मैं उसे दे देती। रंगमहल की रद्दी और फालतू चीजें भी। उन सब से उसने अपना घर सजाया था और सजे हुए घर का उसे बहुत गर्व था। उस ने बहुत बार चिरौरी की कि एक बार मैं उस के घर को अपने चरणों से पवित्र करूँ। पर इक्कीस वर्ष तक भी उस की यह इच्छा मैं पूर्ण न कर सकी। अलबत्ता बच्चे सब उसी के पास रहते थे। उन की पूरी सार-सम्हाल उसी पर थी। वह उन का पिता था। वे उस की औरत से उत्पन्न नहीं हुए थे, वे उस की पत्नी से उत्पन्न हुए थे। मैं उस की पत्नी थी, पर मुझ से उन बच्चों का कोई सरोकार न था। पाठक-पाठिकाओं को मेरी यह कहानी निराली-सी लगेगी, अटपटी-सी लगेगी। अटपटी मुझे भी लगती है। स्त्री हूँ, स्त्री-हृदय रखती हूँ, कुछ बुद्धि भी है। इसी से तो कहती हूँ कि मैं जन्म-जात अभागिनी हूँ, स्त्री-जाति का कलंक हूँ। स्त्रियों में अधम हूँ। परन्तु मैं निर्दोष हूँ, निष्पाप हूँ। मेरा दुर्भाग्य मेरा अपना नहीं है, मेरी जाति का है, जाति परम्परा का है, क्योंकि मैं गोली हूँ।

: २ :

# नाम नहीं बताऊंगी

देखिए, मैं अपनी समूची कहानी आप को बताने पर आमादा हूँ। निस्सन्देह आप को वह अद्‌भुत और अनहोनी-सी लगेगी। कभी न सुनी हुई बातें और कभी न देखे हुए तथ्य आप के सामने आएंगे। मैं सब कुछ आप-बीती आप को कह सुनाऊँगी। कुछ भी छिपाकर न रखूंगी। परन्तु मैं न तो अपना असली नाम आप को बताऊँगी, न उस ठिकाने या ठाकुर का, जिस की पर्यंकशायिनी मेरी माँ थी। न उस राजा का, जहाँ मैं ने रानी के समान इक्कीस वर्ष रंगमहल में बिताए। न मैं उस रियासत का नाम बताऊँगी जहाँ मैं थी। मेरे लड़के-बच्चे हैं। बहुत-कुछ तो वे जानते हैं, परन्तु अपनी माँ की कलंक-कहानी को जहाँ तक वे न जानें, न सुनें, यही अच्छा है। खास कर इसलिए भी कि अब न वे राजा रहे, न रियासतें। उन सब का गणराज्य में विलय हो गया। राजस्थान की शताब्दियों की गुलामी की बेड़ियाँ टूट गईं। वहाँ की प्रजा भी, जो कभी गूंगी, बहरी, असहाय और परमुखापेक्षी थी, अब वाचाल हो गई। अब तो राजस्थान में नया जीवन, नया रंग-ढंग, नया जोश लहरें मार रहा है। बुरी बातों की अब भी कमी नहीं है। पर सैकड़ों वर्षों की गुलामी की कलौंस मिटते-मिटते आखिर वक्त तो लगेगा ही। आज़ादी की इस

हवा में हम गोलियाँ भी आज़ाद हो गई हैं, और हमारे लड़के-बच्चे भी, जिन का खून राजाओं और ठाकुरों के यहाँ बंधक था, आज़ाद हो गए हैं। अब वे जितना चाहें पढ़-लिख सकते हैं, काम-धंधा कर सकते हैं, नौकरी कर सकते हैं। खुद दूसरों को नौकर रख सकते हैं। वे अब स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र नागरिक हैं। मेरे लड़कों ने भी विश्वविद्यालय की उच्च उपाधियाँ प्राप्त की हैं। एक प्रसिद्ध एडवोकेट है, दूसरा अभी दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ रहा है। लड़कियों में एक एम०बी०बी०एस० पास करके राजस्थान के एक नगर में प्रसिद्ध डाक्टर है। उस ने संभ्रान्त कुल के एक दाक्षिणात्य ब्राह्मण से विवाह किया है। उस के दो फूल-जैसे सुन्दर बच्चे भी हैं। दूसरी लड़की एक भूतपूर्व राजा की पत्नी है। ऐसी हालत में यह भला कहाँ मुनासिब होगा कि मैं अपना सही परिचय आप को दूँ। और मेरे ये बच्चे, जो आज प्रतिष्ठित नागरिक हैं, यह जान जाएँ कि वे एक गोली की औलाद हैं; जिस का रक्त पीढ़ियों की परम्परा से उस के राजपूत ठिकानेदार के घराने में बंधक था; जिस की माता ने विवाह की वेदी के बाद पति का स्पर्श नहीं किया और जो स्वयं अपने ठिकानेदार की लड़की के विवाह में दहेज में दी गई और उस लड़की के पति राजा की भोग्य वस्तु रही; विवाहित पति का जिसे स्पर्श भी निषिद्ध था; जो इक्कीस वर्ष दहेज की दौलत की भाँति एक कामुक राजा की पर्यंकशायिनी रही और जिसने अपनी अवैध सन्तान को अपने उस पति पर डाल कर निर्लज्जता की पराकाष्ठा कर दी, जिस से उस ने इक्कीस वर्ष सेवक की भाँति व्यवहार किया।

नहीं नहीं, ऐसी अधम औरत का सच्चा परिचय सभ्य पुरुष को नहीं दिया जा सकता और उस की प्रतिष्ठित सभ्य नागरिक संतान को तो कतई नहीं। इसलिए मैं अपने जीवन की अद्भुत और रोमांचकारी कहानी तो सच्ची-सच्ची सब को सुनाऊंगी पर नाम ठिकाने सब झूठे और काल्पनिक बताऊंगी, आप चाहे पढ़ें या न पढ़ें।

: ३ :

# विगत इतिहास

जी हां, बीते हुए युग की बीती हुई बातों का इतिहास भी आप ज़रा सुन लीजिए। राजपूती जीवन के शौर्य, वीरत्व और तलवार की यशोगाथा तो आप ने बहुत सुनी होगी, पर सामन्तशाही की स्वेच्छाचारिता ने उन के घरेलू जीवन में भी भीषण कलंक उत्पन्न कर दिए थे, उन में एक हमारी गोलियों की जाति थी। हम जन्म-जात ग़ुलाम थे। हमें न अपनी सन्तानों पर कोई अधिकार था, और न हम कोई निजू सम्पत्ति रख सकते थे। न पति का पत्नी पर अधिकार था, न पत्नी का पति पर। हमें भेड़-बकरियों के रेवड़ की भाँति बेचा जा सकता था। दहेज में दान दिया जा सकता था। एक-एक राजपूत राजा और ठिकानेदार की लड़की के विवाह पर १०, २०, ५०, १०० तक गोलियां दहेज में दी जाती थीं। गोले-गोलियों का महत्व दहेज के हाथी-घोड़ों तथा वस्त्र-रत्न सब से अधिक था। दहेज में आ कर सब गोलियों को उस राजपूत कन्या के पति की उप-पत्नी या रखेल की भाँति रहना पड़ता था। उनका जूठा भोजन करना, उनके उतरे कपड़े पहनना, उन की चरण-सेवा करना और उन की उचित तथा अनुचित सभी आज्ञाओं का निर्विरोध पालन करना, हम सब गोले-गोलियों का धर्म था। यह नौकरी न थी धर्म था, जिस का पालन न करने पर हमें नर्क में जाने का भी

भय था। तिस पर भी बीते हुए युग में, जब तक अंग्रेजों के बनाए हुए कानूनी अंकुश का प्रभाव राजस्थान पर न हुआ, तब तक बहुत-सी गोलियों को राजा के मरने पर सती भी होना पड़ता था। बहुत करके तो दहेज या दान में आई हुई गोलियों का विवाह हमारी ही जाति के किसी गोले से कर दिया जाता था। पर वह विवाह केवल इसलिए होता था कि हमारी संतान का वह केवल वैधानिक पिता बन जाय। जिस गोले से गोली का विवाह होता था, वह बूढ़ा भी हो सकता था, नपुंसक भी हो सकता था। खास कर सुन्दरी और तरुण गोलियों के लिए तो ऐसा ही दूल्हा तजवीज किया जाता था। पति से पत्नी का, गोले से गोली का शरीर संबंध प्राय. नहीं हो पाता था। गोली ठाकुर की, राजा की पर्यकशायिनी चरण-सेविका या पलंग-दासी के रूप में रहती थी। राजा-रानी, ठाकुर-ठकुराइन जब परस्पर सम्भोग-रत रहते थ, तब भी हम गोलियों को उपस्थित रहना पड़ता था और उन्हें शराब पिलाना या उन की वासना को भड़काने वाली दूसरी सेवाएं करनी पड़ती थीं। गरज हम से ठाकुर-राजा का कुछ भी गोपनीय न था। विवाह हमारा इसलिए किया जाता था कि जो सन्तान उत्पन्न हो, वह विवाहित पति की घोषित कर दी जाय और उस की जाति गोला-गोली ही रहे, वह राजपूत न कहलाए। वह न गुज़ारा पाने की हकदार हो, न रियासत की दावेदार। परन्तु किसी-किसी गोली दासी पर राजा या ठिकानेदार विशेष कृपा किया करते थे। उन्हें वे पड़दायत बना लेते थे। ये पड़दायत बाकायदा अर्थात् घोषित उप-पत्नियाँ कहलाती थीं। वे पर्दे में रहती थीं। अपने को साधारण गोली से अधिक इज्जतदार समझती थीं और राजा या ठाकुर के मर जाने पर उस के साथ चिता में भी जलती थीं। ऐसे भी उदाहरण राजपूताने के इतिहास में हैं जब कि एक-एक राजा के साथ ५०-१०० पड़दायतें सती हुई हैं। जहाँ राजा की रानियाँ सती होने पर सुप्रतिष्ठित होती थीं, वहाँ ये रखेलियाँ भी राजा के साथ जल मरना अपनी शान और अपना धर्म समझती थीं। इन पड़दायतों का

विवाह नहीं होता था, न कोई गोला-गुलाम उन का पति होता था। न उन की संतान गोला-गोली कहलाती थी। परन्तु वह सन्तान शुद्ध राजपूत भी नहीं कहला सकती थी। न वह राजा हो सकती थी, न राजा का उत्तराधिकार पा सकती थी। उस का दर्जा राव-राजा का होता था। आप ने राजस्थान के अनेक राव-राजाओं के नाम सुने होंगे। इन्हें कुछ गुज़ारा राजा देता था, पर विवाह इन का भी गोलियों में ही होता था। राजपूत की बेटी से ये विवाह नहीं कर पाते थे। इन में से अनेक राजसी ठाठ से रहते या राजा के बड़े ओहदेदार भी होते थे, परंतु न तो शिक्षा, न योग्यता ही उन्हें राजपूतों के बराबर बना सकती थी। राजपुत्र होने से ही उन के भाग्य का कलंक नहीं मिट सकता था। वे राजा और ठाकुर के विलास-व्यभिचार से दासियों और अपत्नियों से उत्पन्न फालतू सन्तान थे।

राजस्थान-विलय के समय हमारी जाति के ६० हजार से भी अधिक गोले-गोलियाँ राजाओं और ठाकुरों के रनवासों में उनकी स्वेच्छाचारिता और विलास-वासना का शिकार बने हुए थे। मैं यह भी कह सकती हूँ कि अब भी स्वतंत्र भारत में भी इन गोलियों का नितान्त अभाव नहीं हो गया है। रस्सी जल गई है, पर उसके बल नहीं गए हैं। ये लोग अब राजा नहीं रहे, ठिकानेदार नहीं रहे। उन की राजनीतिक स्वेच्छाचारिता-पूर्ण सत्ता खत्म हो गई। पर उनके घरों में अब भी गोले-गोलियां वही गुलामी का जीवन व्यतीत कर रही हैं। अधिक नहीं तो कम ही। स्वतंत्र भारत में भी इन भूतपूर्व राजाओं की विवाह- शादी में गोलियां दहेज में दी गई हैं, जिनकी तरफ राजस्थान के समारोह-उद्घाटन-शूर मन्त्रियों को ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं मिली।

यह दुराचार निस्संदेह राजपूतों के उस कठिन और अनिश्चित जीवन की प्रतिक्रिया स्वरूप पैदा हुआ था। जो उन्हों ने मध्य युग में व्यतीत किया था। तब प्रत्येक राजपूत को नंगी तलवार रख कर सोना पड़ता था और किसी भी क्षण वह समर में जूझ सकता था। मरना और

मारना ही उसका पेशा था, ध्रुव ध्येय था। इसी से राजपूत अपने बुद्धि-वैभव को नहीं बढ़ने देते थे। अफीम का घोल पीते थे, शराब में भुत्त रहते थे, जिससे वे मरने-जीने की बात सोच-समझ न सकें और जब चाहें कट मरें। अफीम का नशा तीर और तलवारों की लड़ाई के लिए अधिक उपयुक्त था, क्योंकि इस से एक प्रकार की जड़ता शरीर में आती थी और तीर-तलवार के आघात की वेदना की अनुभूति कम होती थी। युद्ध से लौटने पर शिकार और स्त्री दो ही उन की भोग-सामग्री होती थी। मुसलमानों के हरमों में हज़ारों स्त्रियों की भीड़-भम्भड़ इन हिन्दू राजाओं की ही देखा-देखी बढ़ी, और इन की शुरुआत हुई दक्षिण से, जहाँ विजयनगरम् के राजा के रंगमहल में ८ हजार स्त्रियाँ थी। उन के अनुकरण पर बहमनी बादशाहों ने भी स्त्रियों के रेवड़ भरे। फिर इस हरम का परिष्कृत रूप मुग़लों के ऐश्वर्य का प्रमुख चिन्ह बन गया, जब कि उनका साम्राज्य सुदृढ़ पायों पर स्थापित हो गया था। मुग़लों ने राजपूतों से मेल किया, रोटी-बेटी का व्यवहार किया, राजनीतिक और सांस्कृतिक सहयोग किया। तब यह स्वाभाविक ही था कि उन अशक्त और मुग़लों के दर्बारी राजाओं पर मुग़ल ऐश्वर्य का भी सीधा सांस्कृतिक प्रभाव पड़ता, और ऐसा ही हुआ भी। बहुपत्नीत्व तो था ही, धार्मिक रूप में निर्बाध मुसलमानों में भी और हिन्दुओं में भी। उधर मुग़लों के खिराज़ में भी सुन्दर लड़कियों का एक अनुपात अनिवार्य हो गया था। देश-देश के सूबेदार अपने-अपने प्रान्त से छांट-छांट कर सुन्दर लड़कियां मुगल दर्बार में वार्षिक खिराज के साथ भेजते थे, जो मुग़ल हरम की शोभा बढ़ाती थीं, बादशाहों और शाहजादों की अंकशायिनी और प्रिय साकी होती थीं। फिर गुलाम (लौंडी, खोजा) आदि भी थे। ऐसी हालत में, जब कि इन राजपूतों की लड़कियां मुग़लों की प्रधान बेगम और बादशाहों की मा बन गई थीं, क्यों न इन बुराइयों के बीज उनके रंगमहल में उगते ? वे उगे, जिन के फलस्वरूप हमारी—गोलियों की, गोलों की—गुलाम जाति बनी। इन की लड़कियां राजपूत ठाकुरों और राजाओं की रखेलियां, उप-पत्नियां

और भोग-दासियां थीं और लड़के टुकड़-खोर गुलाम दास। राजपूतों की दासता और स्वेच्छाचारिता की पूर्ति ही इनका धर्म था।

अंग्रेज़ी शासन में कुछ दशा बदली थी, क्योंकि इस प्रथा को कायम रखना उन सिद्धान्तों के प्रतिकूल था, जिन पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार प्रतिष्ठित थी। व्यक्तिगत स्वाधीनता का अधिकार और अपने जीवन को अपनी इच्छा के अनुसार बनाए रखने का हक दूसरों को भी उसी प्रकार की स्वाधीनता देते हुए स्वीकार किया गया और व्यवहार में लाया जाने लगा। इसलिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चाकरों पर मालिकों का अधिकार मानने से इन्कार कर दिया। उस ने इन स्वत्वों को अस्वीकृत ही नहीं किया, अपितु एक कानून बनाकर उन स्वत्वों का उपभोग करना एक जुर्म करार दे दिया। इस प्रकार ब्रिटिश राज्य की सब रियासतों में तो चाकरों और गोलों के ऊपर मालिकों के अधिकार का खात्मा हो गया और सब गोले चाकर फिर से स्वतंत्र हो गए, पर यह कानून उस भू-भाग में प्रचलित नहीं हुआ जो देशी राज्यों के अधिकार में था। वहां यह प्रथा बराबर जारी रही। इन राज्यों की प्रजा शिक्षा की कमी के कारण अपने अधिकारों से बेखबर थी। इसलिए हमारे मालिक राजपूत अपने अधिकारों पर दृढ़ता के साथ जमे रहे और उन का उपभोग करते रहे। चाकरों ने, गोलों ने भी कभी इसका विरोध नहीं किया। गोलों को चाकर कहा जाता था, नौकर नहीं। नौकर स्वेच्छा से नौकरी कर और छोड़ सकता था, पर चाकर ऐसा नहीं कर सकता था। मालिक गोलों को खाना कपड़ा, विवाह आदि का खर्च देते थे। मौसर का खर्चा सिर्फ घरजा-चाकरों को ही मिलता था। घरजा-चाकर वह था जो घर ही में उत्पन्न हुआ हो। चाकर किसी हालत में न मालिक की आज्ञा का उल्लंघन कर सकते थे, न सेवा छोड़ सकते थे। चाकरों की संतान पर मालिक का स्वत्व होता था। उन की जिन लड़कियों को मालिक अपनी लड़की के दहेज में देते थे, वे लड़कियां भी अन्य सामान के साथ दहेज की सम्पत्ति हो जाती थीं। कभी-कभी कुटुम्ब का कुटुम्ब दहेज में दे डाला जाता था।

: ४ :

# मेरी मा

मेरी मा के अन्नदाता एक छोटे-से ठिकाने के ठाकुर थे। उन के ठिकाने की आय बहुत सीमित थी, जिस की पूर्ति वह डाके डलवा कर करते थे। उन के अमल-पानी और रनवास के खर्चे इसी से चलते थे। उन के अधीन जोरावर धाड़ेमार डाकुओं की टोलियां थीं। यह टोलियां ठिकाने में डाका नहीं डालती थीं, दूसरे राज्यों में ऊँटों पर चढ़ कर लूट-मार करती थीं। लूट के माल में से एक-तिहाई ठाकुर को मिलता था, शेष डाकू लोग बांट लेते थे। इन डाकुओं की बदौलत ठिकाने में भी ठाकुर की भारी धाक थी। ठिकाने का कोई बनिया या दूसरी जाति का रैयत अपने बेटे-बेटी का विवाह उस समय तक नहीं कर सकता था जब तक ठाकुर को लाग न दे दे। लाग में एक छकड़ा भर आटा, मैदा, घी, चीनी, चावल, कपड़ों के थान और कुछ नकद रुपए भी होते थे। रैयत की हैसियत के अनुसार इस लाग की मात्रा कम या अधिक होती थी। लाग ले कर लड़के या लड़की वाला ठाकुर की गढ़ी में हाजिर हो कर अरदास करता था कि उसके बेटे-बेटी का विवाह मंज़ूर होने का हुकुम फर्माया जाय। ठाकुर तब लाग की जिन्सों की पड़ताल करते थे। संतोषजनक होने पर विवाह की स्वीकृति देते थे। जो कोई लाग नहीं

देता था उस की बारात लूट ली जाती थी, या दुलहिन उड़ा दी जाती थी। विवाह होने के बाद दुलहिन को सब से पहले ड्योढ़ियों में हाज़िर होना पड़ता था, पसन्द आने पर कभी-कभी ठाकुर ही सर्वप्रथम दुलहिन का कौमार्य भंग करते थे। केवल ठाकुर के सजातीय राजपूत और ब्राह्मण ही इस लाग-डाट से मुक्त थे।

मेरी मा सपरिवार अपने माता-पिता के साथ यहाँ दहेज में आई थी। उस समय उस की आयु केवल ग्यारह वर्ष की थी। मेरी मा के माता-पिता, भाई-बहन सब मिला कर सात जने थे। मेरी मा सब से छोटी और सुन्दरी थी। ठाकुर की उस पर शुरू से ही नज़र थी। मेरी मा के पिता एक वीर पुरुष थे। तलवार चलाने में उन के जोड़ का आदमी आसपास न था। अपनी शूरता की विशेषता के कारण ही वह सपरिवार घोड़ा और तलवार सहित दहेज में दिए गए थे। विवाह के समय कुँवरी की आयु भी मेरी मा के समान कच्ची थी। वह मेरी मा को बहुत मानती भी थी। सुसराल आ कर मेरी मा कुँवरी की खास खवास के रूप में रात-दिन चाकरी में हाज़िर रहती थी। आगे चल कर वह पलंग-सेविका बना दी गई, और फिर पैर में सोना दे कर पड़दायत बना दी गई। पड़दायत बना देने के कारण मेरी मा का विवाह किसी गोले से नहीं हुआ। वह ठाकुर की रखेलियों में रही। यह गोले-गोलियों के लिए कम सम्मानजनक बात न थी। पड़दायत का मामला भी एक खास घटना के कारण हुआ। एक दिन ठाकुर एक युद्ध में गए। यह युद्ध वास्तव में एक धाड़ थी। किसी दूसरी रियासत के राजा की एक बारात ठिकाने की सीमा में हो कर गुज़र रही थी। सूचना पा कर धाड़ेती लोग सांडनियों पर सवार हो कर उस के पीछे लग गए। पर बारात के साथ काफी सिपाही और लाव-लश्कर था, इसलिए ठाकुर स्वयं भी इस मुहिम पर डाकुओं के साथ गए। इस समय मेरी मा के पिता घोड़े पर सवार ठाकुर की रकाब के साथ थे। बारात पर धाड़ पड़ी तो बारात के लोगों ने डट कर डाकुओं का मुकाबला किया। उस

में ठाकुर के प्रायः सभी साथी डाकू मारे गए। ठाकुर भी घायल हो कर घोड़े से नीचे गिर गए। मेरी मा का पिता भी ठाकुर की रक्षा करने में वीरतापूर्वक लड़ कर घायल हुआ। पर वह ठाकुर को रणक्षेत्र में गिरता देख, उन्हें मरा हुआ समझ, उन के घोड़े पर बैठ अपने प्राण ले कर घर लौट आया और उस ने ठाकुर के मरने की खबर आ सुनाई। ठाकुर के मरने की खबर सुन कर गढ़ी में रोना-पीटना मच गया। ठकुराइन ने पीले वस्त्र पहने, हाथों में मेंहदी रचाई, मांग में सिंदूर दिया और चिता सजवा कर वह उस में बैठ गई। सती रानी की जय-जयकार से दिशाएँ गूंज गईं। रानी जल कर खाक हो गई। पर अभी चिता ठण्डी भी न हो पाई थी कि ठाकुर घायल अवस्था में गिरते-पड़ते आ पहुँचे। ठाकुर को जीता जागता देख कर सब लोग सक्ते की हालत में रह गए, और जब ठाकुर ने ठकुराइन के सती होने का समाचार सुना, तब उन्होंने अपने सिर के बाल नोच डाले। बड़ी कठिनाई से ठाकुर के कोप से मेरी माता के पिता की रक्षा हुई और तभी से उन्होंने मेरी मा को बाकायदा ठाकुर की भेंट कर दिया। मेरी मा के अद्वितीय रूप और सौन्दर्य पर ठाकुर तो पहले से ही लट्टू थे, उसने उसके पैरों में सोना दे कर पड़दायत बना लिया। किन्तु उन्होंने मेरी मा के पिता की तलवार और घोड़ा छीन लिया और यह आन फेर दी कि अब से कोई गोला ठिकाने में कभी न घोड़े पर चढ़ने पाएगा, न तलवार बांध सकेगा।

ठाकुर की तीन ठकुरानियां और थीं, पर वे सब निकम्मी थी। एक तो बूढ़ी और कुरूप एवं मूर्खा थी। ठाकुर का उस से आमना-सामना कभी-कभी साल-छः महीना तक नहीं होता था। ठकुरानियों के अतिरिक्त दो पड़दायतें भी और थीं, पर उम्र उन की भी अधिक हो गई थी। इन के अतिरिक्त इक्कीस खवास गोलियां भी थीं। पर उन सब के विवाह हो चुके थे। वे सब बारी-बारी से रनवास में ठाकुर की सेवा करती थीं और फिर अपने घर चली जाती थीं। प्रतिदिन बारह खवासें रनवास में चाकरी करतीं। छः दिन को और छः रात को। जिनकी चाकरी की

बारी नहीं होती वे अपने घर अपने धनी के साथ रहतीं। उनके घर भी ड्योढ़ियों में ही थे। घर क्या थे, कोठरियां थीं। इन खवासों के जो बच्चे होते थे, उन के पिता उन के विवाहित पति ही होते थे। लड़कियां गोली तथा लड़के चाकर कहलाते थे।

दोनों पड़दायतों के कोई सन्तान न हुई थी, न तीनों ठकुरानियों से ही सन्तान हुई। ठिकाने के उत्तराधिकारी के लिए ही ठाकुर ने इस कुँवरी से ब्याह किया था। नई ठकुराइन बड़ी भावुक और सुन्दरी थी। ठाकुर उस पर रीझे थे। ब्याह के दूसरे ही साल नई ठकुराइन ने एक कन्या को जन्म दिया था। इतने दिन बाद कन्या के ही जन्म से ठाकुर ने बड़ी खुशी मनाई थी। परन्तु ठाकुर के मरने की खबर सुन अकेली नई ठकुराइन ही सती हुई, दूसरी स्त्रियों ने इस की परवाह न की।

ठाकुर को नई ठकुराइन के मरने का बड़ा रंज हुआ। पर मेरी मा को पा कर वह शीघ्र ही सब कुछ भूल गए। और तब मेरा जन्म हुआ। मेरी मा पड़दायत के प्रतिष्ठित पद पर थी। इस लिए मेरे पिता के स्थान पर ठाकुर की ही मुहर लगी। मैं गोली तो थी, पर चाकर न थी, क्योंकि मेरा बाप गोला दारोगा नहीं, ठाकुर था। मेरी मां को इस का गर्व था। मा पर अब दो बच्चों के पालने का भार था। एक मेरा, दूसरी कुंवरी का, जो अब तीन बरस की हो गई थी।

ठाकुर के घर में रसोड़ा सब का अलग-अलग था। खवास और चाकर तो अपने-अपने घर खाते ही थे। तीनों ठकुराइनों और दोनों पड़दायतों की भी रसोई अलग-अलग बनती थी। कोई किसी का शरीक न था। रसोड़ा मेरी मा का भी अलग था और अब अपने माता-पिता से उस का कोई सरोकार न था। ठाकुर का रसोड़ा भी अलग था। आप को यह सुन कर आश्चर्य होगा कि सब का भोजन पृथक्-पृथक् बनता था। परन्तु आप यह जान कर भी आश्चर्य करेंगे कि सब को प्रतिदिन एक दिन का पेटिया अटाले से मिलता था। पेटिया का अभि-

प्राय आटा, दाल, चावल, घी, ईंधन, तरकारी आदि है। ठाकुर की गृहस्थी पीढ़ी दर पीढ़ी से इसी तरह चलती आई थी। प्रतिदिन सब को केवल एक दिन का पेटिया मिलता और सब अपना-अपना भोजन अपने सेवकों-चाकरों से बनवा कर खाते-पीते।

भोजन ठाकुर का भी अलग होता। उन का शयनागार भी पृथक् था। खवास गोली, चाकर और इधर-उधर के माल तो उन के अपने ही एकांत शयनागार में सेवा करते थे। जिस दिन वह मेरी मा, किसी ठकुराइन या पड़दायत के यहाँ रात्रि व्यतीत करने को जाते थे उस दिन तीसरे पहर एक लोटा भांग उस स्त्री के यहां भेजी जाती थी। भांग बहुत बढ़िया मेवा आदि डाल कर बनती थी। यह इस बात का संकेत होता था कि आज रात ठाकुर की उन्हीं के शयनागार में अवाई है। बस, तत्क्षण सिंगार-पटार, सार-सम्हाल की धूम मच जाती थी। शयनागार फूलों से सजाया जाता, इत्र से सुवासित किया जाता। दारू की बोतलें मंगाई जातीं। पान तैयार किए जाते, गजक तैयार होती। पलंग की चादरें बदली जातीं। तकियों की तादाद बढ़ाई जाती। मसनदें करीने से लगतीं। ठाकुर काफी रात तक बाहर अपने गोले खवासों की जी-हुजूरियों में घिरे गणों, किस्से और उलटी-सीधी खबरें सुनते रहते। कभी-कभी डाकू साथियों के आ जाने पर वह देर तक माल-टाल का बंटवारा करते। चाभी-कूची सब गोले खवासों के पास रहती। रुपए-पैसे और उनका हिसाब भी वे ही रखते थे। उन की ओर से तनिक भी दगाबाजी की सम्भावना न थी। बहुत रात बीते वह रनवास में आते। ठकुराइन या पड़दायतें उन का स्वागत करतीं। मेरी मा मुझे और कुंवरानी को खूब सजा कर गुड़िया-सी बना देती। ठाकुर आ कर हमें प्यार करते, खिलाते। फिर मेरी मा के संकेत पर खवास हमें दूसरे कमरे में ले जा कर सुला देती। इस के बाद शयनागार में पलंग-दासियां हाजिर होतीं। किसी हाथ में ठण्डे पानी की झारी, किसी हाथ में पंखा-मोरछल। किसी के हाथ में मद्य-पात्र और प्याले। मद्य का प्रथम प्याला मेरी मा

ढाल कर ठाकुर को देती। ढाढिनें मांड़ गातीं—'दारुड़ो दरबारां, पियो उमराव।' फिर खवासें भर-भर कर जाम मेरी मा को और ठाकुर को देती और वे दीन-दुनिया को भूल रस-रंग में डूब जाते। ऐसा ही राजपूती जीवन का ढर्रा उन दिनों राजस्थान में चला करता था।

: ५ :

# चारणों का प्रभाव

कुंवरानी और मैं शीघ्र ही हिल-मिल गईं। कुँवरानी मुझसे ढाई-तीन साल बड़ी थी। सुन्दरी मैं अधिक थी। मेरा रंग गोरा था। कुंवरानी सांवली थी। राजपूतों में बहुत कम गोरा रंग मिलता है। मैं ज़रा नाजुक भी थी, मेरे नाक-नक्श सब सुडौल थे। कुंवरानी ज़रा भारी शरीर की थी। नाक उसकी ज़रा चपटी थी, पर आँखें बड़ी पानीदार थीं। मा हम दोनों को समान भाव से रखती, पालती थी। मैं तो उसकी बेटी थी ही, कुंवरानी बिना माता की तथा मा के स्वामी और स्वामिनी की बेटी थी। कुंवरानी की मा के साथ मेरी मा का भी लगभग वही रक्त-संबंध था, जो मेरा और कुंवरानी का था। इसी से मा का कुंवरानी पर विशेश प्यार था, आदर भी मुझसे अधिक था। वह कपड़े भी मुझ से बढ़िया पहनती थी। खाना मुझे अभी भी बहुधा कुंवरानी के जूठे के रूप में ही मिलता था। पर कुंवरानी मेरा जूठा न खा सकती थी। इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था। कुंवरानी के पुराने सभी वस्त्र मुझे मिलते थे। कुछ तो काट-छाँट कर तभी मेरे लिए ठीक कर लिए जाते थे कि बड़ी होने पर काम आएंगे। ठाकुर मुझे भी बहुत प्यार करते थे। असल बात यह थी कि मेरी मा ने उनका मन मोह लिया था।

ठकुराइन के जीते जी वह उतना खुल कर मेरी मा के साथ घनिष्टता नहीं बरत सकते थे। उसके मरने पर उन्होंने मा को पड़दायत बना और पैरों में सोना दे बहुत बड़ी इज्जत दी थी। आप हंस सकते हैं, परन्तु हम गोलियों के लिए सचमुच यह बड़ी प्रतिष्ठा की चीज थी। आजकल प्रतिष्ठा का मापदण्ड बदल गया है। तब हम गोला-गुलामों की प्रतिष्ठा का यही मापदण्ड था। किसी गोली का पड़दायत पद पर जाना और पैरों में सोना पहनना सचमुच ही गौरव और प्रतिष्ठा की चरम सीमा थी।

धीरे-धीरे हम दोनों ही बड़ी होने लगी। हमारे पिता ठाकुर पहले ही काफी उम्र के थे, अब वह वृद्ध होने लगे। राजपूतों का जीवन बड़ा असंयत और अस्त-व्यस्त होता है। एक प्रकारकी रूक्षता, कर्क शता और कठोरता उन के जीवन में घुली-मिली रहती है। ठाकुर साहेब का जीवन भी ऐसा ही था। साधारणतः वह पढ़े-लिखे व्यक्ति थे। स्नान, पूजा-पाठ वे नित्य करते थे। मुझे बचपन के वे दिन याद आते हैं, जब हमारे घर के पुरोहित पोपले मुँह वाले बूढ़े ब्राह्मण नित्य प्रातःकाल गंगोदक और अक्षत ले कर ड्योढ़ियों में आते और 'जय पृथ्वीनाथ' कह कर ठाकुर साहेब का अभिनन्दन करते थे। उनके सिर पर पवित्र गंगोदक और अक्षत का मार्जन करते थे। संस्कृत के श्लोक उच्च स्वर से पढ कर रोली-चंदन का तिलक देते थे और ठाकुर साहेब नतमस्तक हो ब्राह्मण का यह सब प्रसाद ग्रहण करते थे। ब्राह्मण हमारे ऊपर भी अक्षत-पुष्प का मार्जन करते थे। उन का पोपला मुँह मुझे बहुत अच्छा लगता था। जब वह 'जय हो, जय हो' का उच्चार कर के मेरे माथे पर और कुंवरानी के मस्तक पर अक्षत-पुष्प डालते थे, तब हम लोगों को हंसी आ जाती थी। ठाकुर साहेब शैव थे। नित्य शिवाले में जा कर लिंगार्चन करते थे। संस्कृत के बहुत श्लोक, भक्ति के कवित्त और दोहे उन्हें याद थे। डिंगल की कविता का उन्हें शौक भी था। कदाचित. वह डिंगल की कविता कभी-कदास करते थे। ठाकुर साहेब के घराने का चारण साल में एक-दो बार ठिकाने में

आता। बहुत बूढ़ा चारण था। उसकी सफेद दाढ़ी थी। लाल आँखें थी। वह बड़े डील-डौल का शानदार आदमी था। कवित्त पढ़ने का ढंग उस का बड़ा प्रभावशाली था। उस की वाणी सतेज और चेष्टा उत्तेजक होती थी। जब वह वीर रस की कविता-कवित्त, दोहे ऊंचे स्वर में पढ़ता, तब अपने भाई-बन्दों के साथ दरबार में बैठे ठाकुर झूम-झूम जाते। विदायगी में चारण को एक सौ एक रुपया, एक पाग और सिरो-पाव मिलता था। प्रशस्ति में चारण जो उच्चारण करता था, उस का अभिप्राय यह होता था कि आप के बाप-दादों ने हमारे बाप-दादों को एक करोड़ पसाव बख्शाया था, आप का यह दान भी करोड़ पसाव से कम नहीं है। मुझे याद आता है कि कुँवरानी के विवाह में ठाकुर ने इस चारण को घोड़ी दी थी, और महाराज की ओर से, जिन्हों ने कुँवरानी को ब्याहा था, इसे एक हाथी और एक गांव दिया गया था।

उन दिनों राजस्थान में चारणों का बड़ा मान था। कोई राजा-ठाकुर चारण का अपमान करने का साहस नही कर सकता था। यह भी एक विचित्र-सी बात है कि जैसे राजपूतों से हम गोलों-गोलियो, चाकरों और गुलामों की जाति उत्पन्न हुई, जो ठाकुरों की खरीदी सम्पत्ति के समान गुलाम की भाँति जीवन-यापन करते थे—वैसे ही उन्हीं में से इन चारणों की भी जाति का उदय हुआ था। पर ठाकुर-राजा जहाँ हम चाकरों से चरण-सेवा कराते थे, वहाँ इन चारणों की स्वयं चरण-सेवा करते थे। वे ब्राह्मणों का भी सत्कार करते थे, पर वह सत्कार दान-मान तक ही सीमित था। चारणों का सत्कार दूसरे ही ढंग का होता था। बहुत बार तो चारणों की पालकी में राजा को कंधा लगाते सुना गया है। चारण केवल राजपूत ही का दान अंगीकार करता तथा उसी का अन्न ग्रहण कर सकता था, किसी अन्य जाति का नहीं।

यहाँ मैं चारणों की मर्यादा की एक कहानी सुनाऊंगी। दाता के पिता बड़े कांटे के ठाकुर थे। वह उस जमाने के पुरुष थे, जिस जमाने में राजपूतों की तलवार में जंग नहीं लगती थी। उन का ठिकाना तो

आज से भी छोटा था, पर ठसक बहुत थी। एक बार ऐसा हुआ कि प्रसिद्ध चारण कवि करणीदान जी ठिकाने में आए। करणीदान जी बड़े भारी कविराज थे। बड़े-बड़े राज-दरबारों में उन का मान था। अनेक राजाओं ने उन्हें करोड़ पसाव दान दिया था। वह जिस राजा का यश बखानते थे, वह राजस्थान में विख्यात हो जाता था। वह हर ठिकाने जा-जा कर कीर्ति गान स्वयं करते थे। बड़े-बड़े छत्रपति उन्हें दान-मान से संतुष्ट कर के उन से अपना कीर्ति-गान कराते थे। चारण की वाणी द्वारा ही राजाओं और ठाकुरों की कीर्ति अमर रहती थी।

ठाकुर ने जब चारण की अवाई की सूचना सुनी, तब वह वेश बदल कर सोलह कोस चल कर गए और उन्हों ने चारण की पालकी में कंधा लगाया। चारण को इस बात की कुछ भी खबर न पड़ी। जब गांव का सिवाना निकट आ गया, तब चारण ने कुछ क्रुद्ध हो कर कहा—"अरे, यह ठाकुर तो बड़ा घमण्डी प्रतीत होता है। हम उस के सिवाने में आ पहुँचे और वह अभी तक हमारी खोज-खबर को नहीं आया। हमारी सवारी यहीं से लौटा दो, हम इस गाँव में नहीं जाएंगे।"

यह सुनते ही ठाकुर पालकी से निकल कर कविराज के सामने आए और बोले—"बाबाजी, मैं तो सोलह कोस से आप की पालकी में कंधा दिए आ रहा हूँ।" ठाकुर का परिचय पा और उन की ऐसी सेवा देख चारण प्रसन्न हो गए। एक रात उन्हों ने ठिकाने में वास किया। जब चले तब बोले—"ठाकुर, मेरा एक नियम है। जब कोई राजपूत या तो युद्ध में जय प्राप्त करता है या वीर-गति को प्राप्त होता है, तभी मैं उस का यश-गान करता हूँ—नहीं तो नहीं। सो मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न हूँ। परन्तु मेरी वाणी तुम्हारे यश में तभी फूटेगी, जब तुम या तो वीरता से युद्ध-जय करो या रणभूमि में काम आओ।"

इतना कह कर चारण चले गये और ठाकुर के मन में बात घर कर गई। उन दिनों लड़ाई-झगड़े तो होते ही रहते थे, पर अंग्रेजी राज के प्रताप से युद्ध नहीं होते थे। राजपूतों का प्राचीन जीवन अब खत्म हो

रहा था। राजस्थान ज्यों-ज्यों अंग्रेजों की छत्र-छाया में आता जाता था, राजपूत आलसी होते जाते थे। दिन पर दिन और वर्ष पर वर्ष बीत गए, पर ठाकुर को युद्ध में जाने का प्रसंग हाथ न लगा। चारण से कीर्त्ति गान सुनने की उन की तीव्र अभिलाषा थी, पर वह पूर्ण न हुई। मैं पहले ही बता चुकी हूं कि डाका और मार-धाड़ की वारदातें होती रहती थीं, पर ऐसे अभियान प्रशंसनीय नहीं होते थे, न चारण इन्हें वीरता में परिगणित करते थे।

इसी बीच चारण मर गए। पर अपनी पत्नी से मरते समय वसीयत कर गए कि ठाकुर की सेवा का ऋण मेरे ऊपर है; यदि तेरे जीवित रहते ठाकुर वीर कृत्य करे तो तू उस की विरद बखानना। एक दिन ठाकुर को कुछ ऐसा ही सुयोग लग गया। उन्हों ने सुना कि मराठों की सेना उन के सिवाने में हो कर अभियान कर रही है। बस, वह अपने बारह भाई-बन्दों को संग ले उस विपुल वाहिनी का मार्ग रोक खड़े हो गए। मराठा सरदार ने बहुत समझाया-बुझाया, लोभ-लालच दिया, पर ठाकुर ने एक न सुनी और युद्ध कर के वह वीरगति को प्राप्त हुए। यह सूचना चारणी ने पाई तो उस ने उन की विरद बखानी, जो सारे राजस्थान में गाई जाने लगी। ऐसा ही उन दिनों चारणों का प्रताप और राजपूतों की सनक थी।

: ६ :

# यौवन की देहरी पर

हम दोनों चन्द्रकला की भाँति बढ़ती गईं। ज्यों-ज्यों हम बढ़ती गईं, हमारा रूप निखरता गया। खास कर मेरे रूप की ख्याति सारे ठिकाने में फैल गई। कुंवरी तो ठिकानेदार की बेटी ही थी, पर मैं बेटी होने पर भी बेटी नहीं थी। रूप-गुण में श्रेष्ठ होने पर भी तथा एक ही पिता की संतान होने पर भी, मैं कुंवरी की बराबरी नहीं कर सकती थी। मैं उस की जूठन खाती और उतरन पहनती थी। वह छपरखट पर सोती, मैं गुदड़ी पर। फिर भी कुंवरी के मन में छोटे-बड़े का कोई भाव न था। वह मुझे बहुत प्यार करती थी, एक पल भी मेरे बिना नहीं रह सकती थी। मैं भी कुंवरी को बहुत प्यार करती थी। ज्यों-ज्यों मैं समझदार होती गई, मा तमीज़ और अदब की शिक्षा मुझे देती गई। मैं यह समझ गई थी कि कुंवरी स्वामिनी है और मैं चाकर। इस मर्यादा का उल्लंघन मैं कभी नहीं कर सकती थी। छोटी ही उम्र में मैं शील और विनय से रहना सीख गई। कुंवरी को मैं बाईजीराज कह कर पुकारती और कुंवरी मेरा नाम ले कर, चम्पा कह कर। कभी एक बार भी मैं ने उसे उस के नाम से—चन्द्रवदन कुंवरी कह कर—नहीं पुकारा। हम दोनों खूब हंसी-चुहल करतीं, बाग में झूला झूलतीं, गीत गातीं। सर्वत्र ही मैं कुंवरानी का एक अंग-सी बनी रहती थी। ठाकुर ने हमारे साथ के लिए

आठ-दस लड़कियाँ और जुटाई थी। सब गोलियाँ थीं, कुछ घरजा थीं, कुछ बाहर से आई थीं। हमजोलियों का जमाव वास्तव में बाईजीराज के दहेज के लिए किया जा रहा था। हम सब एक साथ ही खाती-पीती और सोती थीं। परन्तु सभी अपने को बाई का चाकर समझतीं और विविध भाँति उस की सेवा तथा मनोरंजन करतीं।

ज्यों-ज्यों हम बड़ी और समझदार होती गई, हम समझती गई कि हम दहेज की दौलत हैं। हमारा पृथक कोई अस्तित्व नहीं है। हमारा अपना विवाह कभी न होगा। हमारा भाग्य बाईजीराज के भाग्य से बंधा है। उस का सुख-दुःख, सुहाग-अभाग हमारा सुख-दुःख सुहाग-अभाग है।

कुंवरानी ठाकुर को बापू कहती थी। पर मैं बापू नहीं कह सकती थी। मैं उन्हें दाता कहती थी। यही मुझे सिखाया गया था। मेरी मा मुंह पर उन्हें सरकार-अन्नदाता कहती और पीछे जब उन की चर्चा होती तब धणी कहती थी। ठाकुर बहुधा गोद में बैठा कर मुझे प्यार करते थे। मेरी भोली-भाली बातों से वह बहुत खुश होते थे। कुंवरी से कभी लड़ाई होती तो रोते-रोते मेरी हिचकियाँ बंध जाती थी। तब ठाकुर मुझे गोद में ले कर चुमकार-पुचकार कर हर तरह मेरा मन रखते थे।

इस तरह मैं बड़ी हुई। यों तो चाकर थी, गुलाम थी, गोली थी, पर खूब ठसक से, राजसी ठाट से, मौज-मजे से मेरा बचपन बीता। अभाव क्या होता है, मैं ने नहीं जाना। मैं अपने में खुश थी। कभी मुझे अपनी स्थिति नहीं अखरी। अपनी गुलामी मुझे चुभी नहीं। यहाँ तक कि जब कुंवरी के ब्याह में सब गोलियों के साथ मुझे भी दहेज में दे दिया गया और समूचे जीवन पर गुलामी की मुहर लग गई, तब भी मुझे कुछ बुरा न लगा। डोली में बैठती बार कुंवरानी-जैसी हौस मुझे भी थी। मैं ने कभी यह अनुभव नहीं किया कि विवाह मेरा नहीं, कुंवरानी का हुआ है यद्यपि मैं अब यौवन की देहरी पर खड़ी थी।

: ७ :

# नज़रबाग में

उन की अवाई की गढ़ी में धूम मच गई। वह राजा थे, राज-राजेश्वर थे, उन की सवारी के आगे धौंसा वजता था, इक्कीस तोपों की सलामी होती थी। आगे-पीछेफौज चलती थी। भाट और चारण विरद बखानते थे। बाईजीराज के साथ उन के ब्याह की चर्चा थी; इसी चर्चा को क्रियात्मक रूप देने वे गढ़ी में पधारे थे। ठाकुर का ठिकाना उन की ही रियासत में था, ठाकुर उन का जागीरदार और रैयत ही था। इस से गढ़ी में राजाके स्वागत-सत्कार की भारी धूम मचगई।

मैं सहमी-सी कुछ चाव में, कुछ भय में, कुछ उद्वेग में डूबी-सी न जाने मन में कैसी भीतरी उथल-पुथल अनुभव कर रही थी। मुझे कोई हुक्म न था, मुझे कोई काम न था, मेरे ऊपर किसी का ध्यान न था। गढ़ी में जैसे और सब थे वैसी ही मैं भी थी, फिर भी न जाने क्यों एक अजीब गुदगुदी मेरे मन में हो रही थी। अकारण ही मैं हंसने लगती, मन में ऐसा समझती जैसे बहुत व्यस्त हूँ। कभी-कभी दौड़-धूप करने लगती। बिना काम काम में फंस जाती। बाईजीराज की अटारी गढ़ी में जनानी ड्योढ़ियों की सब से ऊपरी मंजिल पर थी। वहां बड़ी धूमधाम थी। कुंवरी कुछ खुश थीं या नहीं, मैं नहीं कह सकती। पर वह न मेरी तरह हंसती थीं, न चुलबुलाहट से इधर-उधर दौड़ लगाती थीं. एक प्रकार से सुस्त-सी, कुम्हलाई-सी बहुधा पलंग पर पड़ी रहतीं। जब मैं उन के पास जाती तब वह अपनी कमल-सी बड़ी-बड़ी आंखें उठा कर जैसे होंठों-ही-होंठों में कुछ कहतीं। क्या कहतीं, यह मैं नहीं जानती थी, पर उन को इस तरह देखने पर मैं मुँह में आंचल ठूस कर हंस देती और वहां से भाग खड़ी होती थी। हकीकत यह थी कि महाराज की अवाई की गढ़ी में जब से धूम मची थी, मेरा मन उन्हें देखने को मानो सब से अधिक आतुर था। उसी भांति कुंवरी का भी। सच पूछो तो उन का इस तरह मेरी ओर देखने का अर्थ था, उन्हें किसी तरह देखने भर की इच्छा। जैसे वह आंखों-ही-आंखों में पूछ रही थीं—क्यों री, वह कैसे हैं, जिन के आगे धोंसा बजता है, पीछे तोपें छूटती हैं। बरकंदाज, सिपाही, प्यादे दौड़ते हैं, सरदार-हाकिम जी-हजूरी करते हैं, सिर पर मोर्छल ढरता है, चारण-भाट विरद बखानते हैं, और सब से अधिक यह कि बाबू-ठाकुर हमारे दाता उन्हें अन्नदाता कह कर पुकारते और उन की चर्या करते हैं।

उन के साथ इतनी भीड़ गढ़ी में घुस पड़ी कि तिल धरने को जगह न रही। चारों ओर जहां तक आंखें जातीं भीड़ ही भीड़, आदमी ही आदमी, सिर ही सिर। कहीं हाथी मैदान में खड़े सूंड़ हिला रहे हैं, कहीं

घोडे हिनहिना रहे हैं। पांत की पाँत। अवलक, सब्जा, कुम्मैत, बछेरा, पचकल्यानी। जगह-जगह यही चर्चा। सईस घोड़ों की मलाई-दलाई कर रहे है। घोड़े घी और रातव खा रहे हैं। हाथियों के लिए रोट सेंके जा रहे हैं। भिश्ती बराबर मैदान में पानी छिड़क रहे हैं, पर धूल दबती नहीं है। गढ़ी का सारा मैदान रावटियों से भर गया। उन में राजपूत हैं, सरदार हैं, गुमाश्ते हैं, कारभारी हैं, सिपाही हैं, बरकंदाज हैं। हे राम, एक आदमी के साथ इतने आदमी ? हाथी, घोड़े, पियादे, सिपाही ? पर वह आदमी कहाँ है ? यही तो असल बात थी, जिसे मै जानना चाहती थी, देखना चाहती थी, पर यह क्या मुझ गोली के लिए कुछ आसान बात थी ?

कुंवरी का मन ठीक न था। कभी ठीक रहता भी न था। सदैव से ही वह मितभाषिणी थीं। काम की बात बोलती थीं। बहुत कम हंसती थीं और यह तो मैं कह ही चुकी हूँ कि रंग उन का जरा सांवला था। मै गोरी-चिट्टी थी। फिर भी वह रानी, मै बांदी। कोई भी देखते ही यह पहचान जाता।

दाता बहुत व्यस्त थे। सारे ही मेहमानों की खातिर-तवाजह का भार उन पर था। वह अपने कामदार तनसुखराय के साथ सलाह-मशविरा करने में, बातचीत करने में व्यस्त थे। कभी-कभी चिंतित भी। अपने भोजन और वस्त्र का भी उन्हें ध्यान न था।

अटाले में रसोई की जबरदस्त तैयारी थी। कितने बकरे, मेढ़ें काटे गए थे। भांति-भांति के मांस-व्यंजन बन रहे थे। दिल्ली और जयपुर के मशहूर हलवाई पकवान और मिठाइयां बना रहे थे। मैं सब देख आती और जो देखती, कुंवरी को आ सुनाती। सुन कर कुंवरी कुछ कहती नहीं। केवल उसी भांति बड़ी-बड़ी आंखों से मुझे देखती। उस देखने का अर्थ था एक प्रश्न—क्या उन्हें देखा तू ने ? और मैं जैसे भी बने उन्हें देखने को फिर वहां से भाग जाती।

सांझ का झुटपुटा हो गया था। गढ़ी में दीपावली की तैयारियां हो

रही थीं। खवास और नाई मशालों को जला कर कुप्पियों से उन पर तेल गिरा रहे थे। बहुत लोग इधर से उधर, भीतर से बाहर और बाहर से भीतर जा-आ रहे थे। अन्नदाता इस समय कहां होंगे, यही मन में सोच-विचार करती हुई ड्योढ़ियों के पिछवाड़े मैं नज़रबाग में जा पहुंची। राजा ड्योढ़ियों के पिछवाड़े वाले बडे कमरे ही में ठहरे थे, यह मुझे मालूम था। कई दिन से ड्योढ़ियों का वह हिस्सा सजाया जा रहा था। दो नए द्वार बनाए गए थे, नया रंग-रोगन किया गया था, नए पलंग, कुर्सी और पंखे लगाए गए थे। कई बार मैं स्वयं जा कर वहां की धूमधाम देख चुकी थी। इस लिए यह तो मैं जानती ही थी कि राजा का डेरा यहीं, इसी कमरे में है। कमरे की एक खिड़की इसी नज़रबाग में थी। उसी खिड़की की राह राजा को देखने के इरादे से मैं नज़रबाग में जा पहुंची थी। अभी अंधेरा नहीं हुआ था। पर सब कुछ धुंधला-सा लग रहा था। बारी में से हो कर कमरे की तेज रौशनी छन रही थी। कमरे में विलायती झाड़ी की रौशनी का प्रबन्ध किया गया था। यह मैं ने देखा था। यह बारी बहुत ऊंची थी। बारी से कैसे राजा को देखा जाए? कुछ क्षण जैसे मैं असमंजस में पड़ी खड़ी रही। बारी के पास ही हार-सिंगार का एक झाड़ था। झाड़ की घनी डालियां बारी तक पहुँच रही थीं। बहुत बार खेल-खेल में मैं इस हारसिंगार की डालियों पर चढ़ कर ढेर-से फूल चुन लाई थी। इस बार भी मैं राजा को देखने के इरादे से झाड़ पर चढ़ गई। चढ़ कर उस खिड़की की ओर बढ़ी हुई डाल पर आगे को झुक कर मैं खिड़की के भीतर झांकने लगी। भीतर राजा क्या कर रहा है, यह देखने की उत्सुकता में मैं भूल गई कि वह अकेली डाल मेरा भार सहन भी कर सकेगी या नहीं। आखिर बाल-बुद्धि ही तो ठहरी! अपने शरीर का सारा बोझा डाल पर डाल कर मैं खिड़की पर झुक गई। पर वह डाल चरमरा कर टूट गई और मैं औंधे मुंह धरती पर आ रही। मेरे मुंह, बाल और कपड़ों में धुल भर गई। चोट भी लगी। मैं उठ ही रही थी और खीझ तथा चोट के दर्द से रोना चाह

रही थी कि किसी ने अंक में भर कर मुझे उठा लिया। मेरे कपड़ों की धूल झाड़ी और मुझे पकड़ कर खड़ा कर दिया। और तभी मैं ने सुना एक सर्वथा अपरिचित कण्ठ-स्वर—"चोट तो नहीं लगी ?" रोना और चोट का दर्द मैं भूल गई और मैं ने उलट कर देखा—उस अंधेरे में भी उन के कान के हीरे साफ चमक रहे थे। उज्ज्वल परिधान, कुसुमल पाग, कण्ठ में मोतियों की माल, यत्न से संवारी और कान की ओर चढ़ाई हुई मूंछें, बड़ी-बड़ी तेजपूर्ण आंखें, भव्य व्यक्तित्व।

मैं बालिका थी। अनाड़ी थी, मूर्खा थी। पर यह समझने में मुझे एक क्षण की भी देर न लगी कि स्वयं महाराजाधिराज ही सम्मुख विराजमान हैं। उन्हों ने मेरी मूर्खतापूर्ण करतूत देख ली है, उन्हों ने मुझ मूर्खा को दया कर के उठाया है। उन्हीं का मुख-स्पर्श और उन्ही का कृपा-वचन मुझे उपलब्ध हुआ है। मैं ने तो राज-परिवार में अदब-कायदा-तमीज की शिक्षा पाई थी। मैं ने सिर झुका कर, हाथ बांध कर अरदास की—'घणी खम्मा अन्नदाता।'

राजा ने कोमल स्वर से कहा—"चोट तो नही लगी ?"

"नही, अन्नदाता।"

"कौन है तू ?"

"चाकर अन्नदाता।"

"यहां क्या कर रही थी ?"

"घणी खम्मा, तकसीर माफ हो अन्नदाता, मैं हुजूर के दर्शन करने के इरादे से बारी में झांक रही थी।"

राजा ने आगे बढ़ कर मेरा हाथ पकड़ लिया। अरे, वह हाथ तो मुझ से भी अधिक नर्म-गर्म था। वह मुझे खीचते हुए-से एक ओर ले चले। पतंग जैसे डोर से आप ही खिची चली जाती है, मैं उन के साथ हो ली। नजरबाग में एक मकराने की चौकी पड़ी थी, वहां बैठ कर उन्होंने मुझे सिर से पैर तक देखा। एक स्मित रेखा उन के होंठों पर

और आनन्द की चमक उन की आँखों में व्याप गई। कुछ देर वह मुझे देखते रहे। उस अर्ध अंधकार में, जैसे कुछ निश्चित, कुछ अनिश्चित भाव से। फिर बोले—"तेरा नाम क्या है ?"

"मैं चम्पा हूँ, अन्नदाता !"

"किस की चाकरी में है तू ?"

"बाईजीराज की, अन्नदाता !"

राजा कुछ क्षण चुप रहे। फिर हंस कर बोले—"तेरी बाई ने तुझे यहां भेजा था ?"

"नहीं अन्नदाता, यह तकसीर तो मैं ने ही की, मुझ से ही यह चूक हुई।" मैं ने हाथ बांध कर कहा और सिर नीचा किए खड़ी रही।

बहुत देर तक राजा बोले नहीं। शायद मेरे रूप, मेरे नवयौवन, मेरे विनय को मन-ही-मन तोलते रहे। फिर जैसे एक भावावेशित स्वर में बोले—"चम्पा, जा मेरे लिए दारू ले आ।"

और मैं 'घणी खम्मा अन्नदाता' कह कर एक बार अच्छी तरह उन्हें प्रणाम कर के तेजी से चल दी।

: ८ :

"....."

दारू मैं ने कभी पी नहीं, हाथ से छूई भी नहीं। कुंवरी की अटारी में दारू का निषेध था। राजपुरोहित पंडित सोमनाथ ने कुंवरी को दारू के गुण-दोष बताए थे, वे मैं ने भी समझे थे। कुंवरी बहुत कोमल, समझदार और एक प्रकार से भावुक स्त्री थीं। वह दारू से घृणा करती थीं। कभी-कभी दारू के विरुद्ध मत भी प्रकट करती थीं। मेरा मत भी कुंवरी से मिलता था। पर मा को मैं ने दाता को दारू देते देखा था। दाता सदैव मा के यहां आ कर दारू नहीं पीते थे। नित्य वह मा के कमरे में जाते भी नहीं थे। जब आते थे तब, बहुत देर बाद, केवल सोने के लिए आते थे। उन का आरोगना, दारू पीना, खाना-पीना सब बाहर ही होता था। उन के गोले-चाकर उन्हें यह सब बाहर ही जुटाते थे; पर कभी-कभी ऐसा भी होता था कि दाता मा के कमरे में ही दारू पीते, कांसा भी आरोगते और वहीं रात्रि को सोते भी थे! उस दिन मा को बहुत-से नए प्रबन्ध करने पड़ते थे। मा उबटना लगा कर आचूड़ स्नान करती थी। नई पोशाक धारण करती थी, इत्र-फुलेल लगाती थी। बढ़िया पान के बीड़े लगते थे, माली बहुत-सी फूल-मालाएं, गजरे लाता

था। रसोड़े में विविध पक्वान्न और मांस पकते थ, हम सब उस दिन इन सब तैयारियों में जुटे रहते थे। दारू की बोतलें तीसरे ही पहर को निकलवा कर बर्फ में दबा दी जाती थी। उस दिन दाता भी बड़े ठाठ से मा के यहां आते थे। वह स्नान कर के नई पोशाक धारण करते थे। उन के साथ दो-चार गोले-खवास भी आते थे। मिठाइयां, इत्र, फूल-मालाएं, वह भी लाते थे। उस दिन सूर्यास्त से कुछ पहले ही दाता जनाने में पधार जाते थे। पधारने पर पहरे लग जाते थे, ऊपर चांदनी में जाजिम बिछ जाती, मसनदें लग जातीं। गजक और भुने हुए मांस प्लेटों में चुन लिए जाते। उस दिन मा बहुत व्यस्त रहती थी। व्यस्त हमें भी रहना पड़ता था। पर जब दाता मसनद पर विराजमान हो जाते, तब मा हमें एक संकेत करती थी और हमें छुट्टी मिल जाती थी। दाता के गुलाम चाकर भी छंट जाते थे। एकाध पहरे पर हाजिर रहता। एकाध गोली भीतर। यों दाता मा के साथ अकेले रहना पसन्द करते थे। परन्तु इन सब बातों से, इस प्रबन्ध से मुझे बड़ा कौतूहल होता था। दारू के विषय में बुराई तो बहुत सुनती थी, पर दारू की इतनी धूम-धाम देख मन में होता था—दारू है कोई भारी चीज। और वह कैसे पी जाती है, यह देखने-जानने की दुर्दम्य लालसा बहुधा मैं मन में दबा नहीं पाती थी तथा बहुधा छिप कर बहुत रात तक मा का और दाता का दारू पीना देखती रहती थी। बहुत-सी बातें मैं जान गई थी, बहुत-सी समझ गई थी। दाता आग्रह कर के मा को दारू पिलाते, उस की जूठी आप पीते, एक-दो पैग पीने पर दोनों की चेष्टाएं बदल जातीं। उन की बात-चीत, भाव-भंगी और व्यवहार सब छिप कर मैं देखती, तो बिना पिए ही मुझे भी दारू का नशा हो जाता। और मेरा कलेजा धड़कने लगता। फिर मैं अपनी गुदड़ी में आ पड़ती और सोचा करती कि इसी प्रकार कभी-न-कभी दारू मुझे भी पिलानी पड़ेगी, किसी-न-किसी को। पर किस को? मैं यह सोचने लगी थी, पर उत्तर न पाती थी। सो आज अचानक, अकस्मात् साक्षात् अन्नदाता ने जो मुझ से दारू मांगी और उन

संक्षिप्त दो शब्दों की आज्ञा के साथ उन के नेत्रों से जो चमक निकली, उस से तो मेरा कलेजा बांसों उछलने लगा और मैं पसीने में नहा गई। मेरा रोम-रोम थर्रा उठा। मैं ने सोचा—हे राम, आज अभी अन्नदाता को दारू पिलानी होगी। मेरे शरीर के प्रत्येक रोम-कूप नेत्र बन गए थे और उन सब चित्रों को विविध रंगों में देख रहे थे, जो मैं ने छिप कर मा और दाता के दारू आरोगने के समय देखे थे। इन सब चित्रों पर मेरा नवयौवन, मेरी चाह, मेरी लालसा और साथ ही भीति, आशंका घबराहट इन सब ने मिल कर मुझे अधमरा कर डाला था।

मैं भागी आ रही थी, जैसे सूखा पत्ता आंधी की झपेट में घूमता पेंच खाता उड़ता है। पर मैं जाऊं कहां? दारू मुझे कहां मिलेगी? कुंवरी की अटारी में तो है नहीं। दाता से कहना सम्भव नहीं। वहां भीड़-भाड़ में मेरा पहुंचना सम्भव न था। फिर मुझे वह सब तैयारी भी तो करनी चाहिए, जो मैं छिप कर मा को करते देख चुकी थी। मैं ने सोचा, पहले मुझे नहा-धो कर पोशाक बदलनी चाहिए। मैं जल्दी-जल्दी नहाई, जो पोशाक बढ़िया-से-बढ़िया हो सकती थी वह पहनी, आंखों में काजल दिया, गालों पर विलायती पाउडर लगाया, माथे पर बिंदी। इत्र मेरे पास था, एक रेशमी बड़ा-सा रूमाल भी था। उसे मैं ने इत्र से शराबोर कर दिया और बार-बार उसे मुंह पर फेरने लगी। पचासों बार मैं कांच के सामने खड़ी हुई। न जाने मुझे क्या हो गया था। मैं बौखला गई थी। मेरी मति मारी गई थी। मैं अपना मुंह देखते न अघाती थी। मुंह की ही क्या बात, मैं तो अपने अंग के एक-एक उभार को देख रही थी। अजी, देख नहीं रही थी, आंखों में ही नाप-तोल कर रही थी। आज तक मैं ने न जाना था कि मैं यौवन की देहरी में कदम रख चुकी हूं। जवानी की कितनी दौलत मेरे पास है, आज पहली बार मैं ने देखा। अब आप हंसिए। मैं अपनी उस समूची दौलत को अपने वस्त्रों में लपेटे, अपने निपट अनाड़ीपने से उसे राह में बखेरती-गिराती अपनी कोठरी से चली। वहां मैं ने कुछ भी न छोड़ा। सब कुछ लाद ले चली और आई मा के पास।

मा अकेली पलंग पर लेटी थी। एक खवास उस के पैर दबा रही थी। मैं ने आते ही घबराहट-भरे स्वर में कहा—"मा, उन्हों ने दारू मांगी है।"

"किन्हों ने ?"

"अन्नदाता ने।"

मा ने न समझ कर कहा—"क्या दाता ने ?"

"नहीं, अन्नदाता ने, दरबार ने।"

मा एकदम चमक कर पलंग पर उठ कर बैठ गई। उस ने उत्तेजित स्वर में कहा—"क्या कहा, दरबार ने दारू मांगी है, तुझ से ?"

"हां मा !" मेरा मुंह सूख रहा था। कलेजा धड़क रहा था।

मा ने सिर से पैर तक घूर कर मुझे देखा। मैं ने जो नया शृंगार किया था उस पर उस की नजर ठहर गई, फिर उस ने खवास को वहां से चले जाने का संकेत किया। एकान्त होने पर उस ने धीरे से कहा—"तुझे दरबार के दर्शन कहां हुए ?"

"नज़रबाग में।"

"वहां तू क्या करने गई थी ?"

मैं ने घबड़ा कर कहा—"मैं···मैं···योंही उधर चली गई थी।"

"अन्नदाता क्या वहां थे ?"

"वह नज़रबाग में टहल रहे थे।"

"और कोई भी वहाँ था ?"

"अकेले दरबार ही थे, और कोई वहां न था।"

"यह कितनी देर की बात है ?"

"इसी शाम की।"

मा ने दीवार की घड़ी पर नजर डाली। ६ बज रहे थे। उस ने

कहा—"अब तो नौ बज रहे हैं।" मैं ने भी घड़ी की ओर देखा। इतना समय बीत गया, इस का मैं ने ध्यान भी नहीं किया था। नहाने-धोने, सिंगार करने में तीन घंटे बर्बाद हो चुके थे। मैं भय से पीली पड़ गई। मा ने कहा—"मूर्खा, तुझे तुरन्त मुझ से कहना था।" वह झपट कर पलंग से उठ खड़ी हुई। खवास को उस ने आवाज दे कर अपनी खास बांदी केसर को तुरन्त भेज देने को कहा।

कुछ ही देर में केसर आ गई। कोई पच्चीस बरस की छरहरी युवती थी। मा की पलंग-दासी। सुन्दरी, चतुर और राजसेवा में दक्ष। केसर के आने से पहले ही मा ने धीरे से मुझे से पूछा—"कुंवरी से तो नहीं कहा ?"

मैं ने कहा—"नहीं।"

"कहना नहीं। और होशियार रहना, दरबार को नाराज न कर देना, अदल से काम करना, मैं केसर को तेरे साथ भेजती हूँ। लेकिन वह बाहर रहेगी।" यह कह कर उस ने दो श्रेष्ठ मेवे की दारू की बोतलें बर्फ में दबी हुई निकाल कर तौलिए में लपेट कर मुझे पकड़ा दीं और मैं उन्हें बगल में दबा कर कर बोली—"मा, इतनी देर जो हो गई, दरबार सो न गए होंगे ?"

"यह सब पूछताछ केसर कर लेगी। पर तू क्या दारू देना जानती है ?"

मैं ने सिर हिला दिया। मा ने क्षण भर मुझे नख से शिख तक देखा। फिर झटपट एक-दो गहने मेरे कण्ठ में डाल दिए। एक मोती की लड़ मेरे बालों में खोंस दी। आंख का फैला हुआ काजल आंचल से पोंछ दिया। गालों पर फिर पाउडर लगा दिया। और कहा—"जा, पर घोड़ी की तरह दौड़ न लगाना, जिस से पसीना-पसीना हो जाए। कायदे से जा।"

मैं ने डरते हुए कहा—"मा, अन्नदाता गुस्सा करेंगे तब ?"

"केसर सब ठीक कर लेगी। जा।" मा ने संकेत ही से केसर को सब कुछ कह-सुन दिया।

और मैं चल दी उन दोनों बोतलों को बगल में दबाए। कलेजा मेरा धड़क रहा था, रक्त की प्रत्येक बूंद उछल रही थी, यंत्रवत् मेरे पैर उड़े जा रहे थे। मेरे होश-हवास ठिकाने पर थे या नहीं, नहीं कह सकती। मैं जैसे हवा में उड़ी चली जा रही थी अथवा तत्ते तवे पर चल रही थी।

: ६ :

# राजा के शयन-कक्ष में

ड्योढ़ियों पर पहुँच कर केसर ने डचोढ़ीदार से बहुत आहिस्ते से कहा—"अन्नदाता से अर्ज कर दे कि चम्पा खिजमत में हाजिर आई है।" डचोढ़ीदार एक बूढ़ा राजपूत था। उस की सफेद दाढ़ी हवा में फहरा रही थी। वह सफेद पायजामे पर सफेद अंगा और उस पर उदयपुरी कोट पहने था। पाग भी उस की सफेद थी। बड़ी-बड़ी मूँछें कान में उलझी थीं। वह तलवार गोद में धरे अपनी विशाल ढाल के सहारे ऊंघ रहा था। केसर का स्वर सुन कर उस ने सावधान हो कर और मन्द स्मित स्वर में नेत्रों से एक विशेष प्रकार का संकेत करते हुए कहा—"जाओ भीतर, हुक्म है तुम्हारे लिए, अन्नदाता जाग रहे हैं।"

द्वार पर मोटा रूईदार पर्दा लटक रहा था। उस ने पर्दा उठा कर हमें राह दिखाई। पहले केसर और पीछे उस की परछाईं की भांति—जैसे उस की पीठ पर चिपकी हुई होऊँ—बिना पद-शब्द किए मैं भी भीतर कक्ष में जा पहुँची। राजा के वहां ठहरने से पहले मैं उस कमरे को देख आई थी। तब उस की सजावट हो रही थी। पर इस समय तो उस के ठाठ ही कुछ और थे। अन्नदाता पलंग पर पौढ़े थे, एक हलकी पीले रंग की रेशमी रजाई उन के पैरों पर पड़ी थी और दो-तीन तकियों के सहारे

कुछ उठंगे हुए वह किसी अंग्रेजी पत्रिका के चित्र देख रहे थे। गंगा-जमनी काम का आदमी के कद के बराबर पेचवान पास रखा था और उस में मे खमीरी तमाखू की मस्त सुगन्ध उठ कर कमरे में महक रही थी। एक गोला युवक उनके पैर दबा रहा था और एक बूढ़ा चाकर हाथ बांधे एक कोने में खडा था। अन्नदाता थोड़ी-थोड़ी देर में पेचवान का कश ले कर छत की ओर धुएँ का बवंडर छोड़ देते थे। कमरे में सन्नाटा था और दीवार की घड़ी की खट-खट मुझे, मेरे ही हृदय में धड़कन-सी लग रही थी। पलंग के पायताने कुछ कम्बल, कुछ धुस्से करीने से तह किए रखे थे। खिड़कियों पर गुलाबी छींट के पर्दे पड़े थे और उन के पास पुष्पाधारों में ताजे फूलों के गुलदस्ते सजे थे। पलंग के नीचे चांदी की बड़ी चिलमची पर सुगन्धित घास करीने से बिछी थी। कभी-कदास दरबार उस में खांस-खखार लेते थे।

केसर ने चुपचाप निकट जा अन्नदाता के चरणों में सिर नवा कर

ढोक दी। मैं ने भी कांपते-कांपते आगे बढ़ कर उस का अनुकरण किया। फिर केसर ने संकेत से चाकर को बुला कर एक चौकी उठवा कर पलंग के निकट रखवाई, उस पर गजक और भुने हुए गोश्त की चांदी की रकाबियां सजा दीं। केसर के संकेत से मैं ने दारू की दोनों बोतलें चौकी पर रख दीं और एक तरफ़ हट कर मैं जड़वत् खड़ी हो गई। केसर के संकेत से चाकर ने बर्फ और सोडे की बोतलें ला कर चौकी पर रख दीं। फिर केसर ने सुवासित पानों के बीड़ों से भरा हुआ चांदी का पानदान बगल से निकाल कर चौकी पर रख दिया। संकेत से मुझे समझा भी दिया कि ये पान हैं। अब तरुण गोला चरण-सेवा छोड़ चुपचाप उठ खड़ा हुआ। केसर ने उसे संकेत से एक ओर बुला कर पूछा—"सिगरेट कहां हैं?" गोले ने बक्स से सिगरेट से भरा चांदी का डिब्बा और दिया-सलाई ला कर चौकी पर रख दी। अब केसर ने आंख उठा कर चारों ओर देखा और बूढ़े चाकर से संकेत से पूछा—"सब ठीक है या और कुछ?" चाकर ने संकेत ही से कहा—"सब ठीक है।"

केसर ने पूछा—"पेचवान पर तेरी ही चाकरी है?"

बूढ़े ने हामी भरी। तो केसर ने कहा—"तो तू बाहर बैठ।" फिर उस ने तरुण गोले से भी संकेत से चले जाने को कहा। गोला कक्ष से चला गया। इतना तूम-तड़ाम हुआ, परन्तु अन्नदाता को जैसे कुछ मालूम ही न हुआ। वह उसी भांति चुपचाप उस पत्रिका के पन्ने पलटते और पेचवान का कश खींचते रहे। हमारे कक्ष में आने के बाद एक बार भी उन्हों ने आंख उठा कर हमारी ओर न देखा। मुझे यह देख कर भारी आश्चर्य हो रहा था कि केसर सब सामान इस प्रकार जुटा रही थी जैसे वर्षों से वह अन्नदाता की सेविका रही हो, उन की आवश्यकताओं और आदतों को जानती हो।

अन्त में उस ने जल की झारी को अच्छी तरह जांच कर देखा। चांदी भी झारी जल से भरी हुई थी। गिलास पास रखे थे। उस ने दारू पीने के पैग और गिलासों की ओर देखा, संकेत से मुझे दिखाया।

तीन-चार तौलिए भी उस ने वहाँ रख दिए।

यह सब काम खतम कर उस ने एक बार फिर कमरे में चारों ओर देखा और संतोष की सांस ली। फिर उस ने साभिप्राय मेरी ओर देखा। मैं तो भीता-चकिता हरिणी की भाँति उस साभिप्राय आंखों को ताकती ही रह गई। रास्ते भर उस ने बहुत-सी सीख दी थी, उन में से कुछ मैं ने समझी, कुछ नहीं समझी। जब वे सब बातें और आगे-पीछे होने वाली घटनाएं इतनी तेजी से मेरे मस्तिष्क में घूमने लगीं कि मेरा सिर चकरा उठा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मैं अभी बेहोश हो कर गिर जाऊंगी। परन्तु इसी समय केसर ने आगे बढ़ कर अन्नदाता के चरणों में प्रणाम किया और स्थिर शान्त स्वर में कहा—"मैं हुजूर की खिजमत में ड्योढ़ियों पर हाजिर हूँ।" और वह एकदम मुंह फेर कर चल दी और पर्दा उठा कर कमरे से बाहर हो गई। कमरे में अब मैं ही अकेली राजा के साथ रह गई। मैं पीपल के पत्ते की भांति कांप रही थी और मेरा शरीर पसीने से भीग गया था। जीभ तालू से सट गई थी और मैं किसी भी क्षण बेहोश हो सकती थी।

राजा ने अब पत्रिका एक ओर फेंक दी। वह तकिए के सहारे ज़रा उठ कर बैठ गए।

पेचवान में कश लेते हुए एकटक मेरी ओर देखते रहे। फिर उन्हों ने कहा—"तू किस की चाकरी में है?"

"बाईजीराज की, अन्नदाता!"

"यहाँ तू उन की इजाजत से आई है?"

"मैं अन्नदाता के हुक्म से आई हूँ।"

"किस से पूछ कर?"

"मा से।"

"कुंवरानी से नहीं पूछा?"

"नहीं सरकार!"

राजा ने फिर एक कश पेचवान से लिया और धुएँ का बादल छत की ओर बनाया। फिर पूछा—"वह औरत कौन है ?"

"मा की पलंग-दासी है, अन्नदाता !"

"क्या नाम है ?"

"केसर है, सरकार !"

"उसे तू साथ लाई ?"

"मा ने भेजा है, सरकार !"

राजा ने पेचवान छोड़ दिया। करवट बदली। तकिया उठा कर सीने पर रखा और मेरी ओर बिना देखे ही कहा—"सिगरेट दे।"

मैं ने आगे बढ़ बक्स से एक सिगरेट निकाली, उसे राजा के होंठों से लगाई, दियासलाई से सुलगाई और दियासलाई ऐश-ट्रे में डाल दी। राजा चुपचाप सिगरेट के धुएं के छल्ले बनाते और छत की ओर फेंकते रहे। इतनी बातचीत और पहली सेवा की सफलता से उत्साहित हो कर मेरा मन जरा ठहर गया। दिल की धड़कन कम हो गई, साहस लौट आया। मैं ने केसर की सीख, अपने अनुभव और सहज ज्ञान का सहारा लिया। गिलास में बर्फ और सोडा डाला और एक पैग दारू उंडेल कर गिलास ले, राजा के निकट आई और कांपते हाथों गिलास को मूक मौन भाव से राजा के आगे बढ़ा दिया। देख कर राजा मुसकराए, उन्हों ने मेरी ओर एक विचित्र दृष्टि से देखा। पैग लिया और एक-दो सिप ले कर गिलास मेरी ओर बढ़ा दिया। आगे बढ़ कर मैं ने पैग थाम लिया। राजा सिगरेट के धुएं के बादल बनाते रहे। मैं पैग लिए खड़ी रही। जब इशारा पाती गिलास बढ़ा देती, राजा एक सिप ले कर पैग मुझे थमा देते और सिगरेट पीते। सिगरेट खत्म हुई। मैं ने दूसरी सुलगा दी। पैग खत्म हुआ, मैंने दूसरा भरा।

पैग हाथ में ले कर राजा तकिये पर कोहनी टेक एक ओर को जरा और उठंग गए। हुक्म दिया—बैठ।" हुक्म के साथ उन्होंने पलंग पर

जगह बनाते हुए आँख से संकेत किया। मैं डरती-सी जरा टिक कर बैठ गई। इस बार राजा अपने ही हाथ में पैग लिए रहे। फिर उन्होंने पूछा—"तू पीती है ?"

"नहीं सरकार।"

"नहीं क्यों ?"

"बाईजीराज की अटारी में दारू नहीं आती।"

राजा ने हुँकारा भरा। पैग खाली हो गया। मैंने तीसरा भर कर बढ़ाया। राजा ने कहा—"तू पी।"

"अन्नदाता, मैं ने कभी नहीं पी।"

"आज पी।"

"अन्नदाता·····"

"हमारा हुक्म है," उन्होंने गिलास हाथ में ले कर मेरे मुँह से लगा दिया। मैं ने एक घूंट पी। एक लकीर-सी कलेजे तक खिच गई। राजा ने गिलास उसी तरह मेरी मुट्ठी में दबा हुआ अपने मुँह की ओर बढ़ाया। मैं ने अरदास की—"सरकार, मैं दूसरा पैग हुजूर की खिजमत में पेश करती हूँ।"

राजा ने मेरी मुट्ठी में दबे उस गिलास को जैसे और भी कस कर दबाते हुए कहा—"दूसरा क्यों ? यही दे।" और उन्होंने एक ही सांस में पैग खाली कर के कहा—"पान।"

मैं ने चार बीड़े पान पानदान से निकाल कर अपने ही हाथों से राजा के मुँह में रख दिए। राजा ने पेचवान की ओर नज़र की। मैं दौड़ी हुई द्वार तक गई, फुसफुसा कर केसर से बोली—"सरकार शायद पेचवान पीना चाहते हैं।" और दूसरे ही क्षण केसर नई चिलम में खमीरी तमाखू डाल कर रख गई। मैं चौथा पैग तैयार करने लगी। राजा ने कहा —"ठहर, यहां बैठ।"

और मैं उन के सिरहाने एक तकिए के सहारे बैठ गई। मेरे चारों

ओर का वातावरण अम्बरी तमाखू के सौरभ से महक रहा था। घड़ी टिक्-टिक् कर के एक-एक सैकिण्ड आगे बढ़ी जा रही थी, गलती रात की ओर। साहस मेरा बढ़ रहा था। मैंने फिर पैग भरे और उन्हों ने उसी भांति पहले मुझे पिलाया। अब दारू मेरे मस्तिष्क में एक नई उत्तेजना उत्पन्न कर रही थी। सारे शरीर में एक नई सिहरन उठ रही थी। मैं ढीठ और साहसी होती जाती थी। रात गल रही थी और पैग खाली हो रहे थे। पान, सिगरेट और पेचवान अपनी-अपनी बारी से आते थे, जाते थे। उस एक ही रात के कुछ क्षणों में मैं जैसे जन्म-जन्म की पलंग-सेविका बन गई थी। एक अवश आसक्ति मेरे हृदय में भरती जा रही थी। और जब·····।

: १० :

# अब मैं लौटी

तारों की छांह में ही केसर मुझे उठा कर वहाँ से ले चली। उस ने एक रेशमी चादर पलंग से उठा ली थी, उसे अच्छी तरह मेरे शरीर पर लपेट कर एक प्रकार से मुझे अपने अंक में भर, वह चुपचाप निःशब्द वहाँ से चल दी। उन से उस ने एक शब्द भी नहीं कहा। वह भी बोले नहीं। उसी भाँति सोते रहे अथवा जगते-अधजगते पड़े रहे। मेरा अंग-अंग कांप रहा था, चलने की शक्ति मुझ में नहीं थी। मैं चल रही थी या सो रही थी, यह मैं नहीं जानती थी।

केसर ने अपनी कोठरी में ले जाकर मुझे अपने बिछौने पर सुला दिया। ठण्डे पानी का एक गिलास दिया। मुँह में मेरे काँटे पड़े थे और वह सूख रहा था। पानी पी कर मैंने न जाने क्या कहा। केसर ने भी वह सुना नहीं। मेरे कान के पास मुँह लाकर उस ने धीरे से कहा—"तू अब सो जा।" फिर अच्छी तरह वस्त्र से मुझे ढांप कर वहाँ से चल दी। कोठरी को बाहर से बन्द कर दिया।

न जाने वह कहाँ चली गई और जब वह लौट कर आई, पहर दिन चढ़ गया था। सूरज की धूप छन कर कोठरी में आ रही थी। मैं जग गई थी, पर मेरा एक-एक हाड़ दर्द कर रहा था।

केसर ने आकर कहा- -"जा, अपनी कोठरी में जा, नहा ले और कपड़े बदल ले। फिर कुछ खा-पी। तब मा के पास जाना।"

तीसरा पहर बीत रहा था। मैं केसर की कोठरी से निकल कर अपनी कोठरी की ओर चली। एक विचित्र और अभूतपूर्व आलस्य और अवसाद अब भी मेरे अंगों में था। अपनी कोठरी में आ कर मैं फिर चारपाई पर पड़ गई। बहुत देर पड़ी रही। रात की सब ज्ञात-अज्ञात सुखद बातें स्वप्न की भाँति मेरी आँखों में घूम रही थीं और रह-रह कर मेरे अंगों में सिहरन हो उठती थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे मैं पृथ्वी से अधर हवा में लटक रही हूँ।

बहुत देर मैं आँख बन्द किए पड़ी रही। फिर उठी। आवश्यक कृत्य किए, नहाई और कपड़े बदले। अब मुझे बड़ी भूख लग रही थी। परन्तु रसोड़े से कुछ मिलना संभव न था। कोठरी में कुछ मिठाई रखी थी, वही मैं ने खाई और उठ कर ठण्डा पानी पिया। फिर मैं बिछौने पर पड़ गई। बहुत देर तक पड़ी रही। संध्या का अंधकार फैल गया। मैं अकेली थी। अकेले पड़े-पड़े मैं बेचैन हो गई। रात हो गई थी, दिया-बत्ती जल गए थे, जब मैं धीरे-धीरे संकोच से सिकुड़ी-सी मा के कमरे की ओर जा रही थी।

*　　*　　*

मैं घबरा रही थी कि न जाने मा क्या कहेगी। क्या पूछेगी! परन्तु वे सब बातें उसे मैं कैसे बताऊँगी! कैसे कहूँगी! मा ने मुझे देख कर कुछ नहीं कहा। न कुछ पूछा। उस ने एक विचित्र दृष्टि से मेरी ओर देखा। उस के होंठों पर एक मीठी स्मित रेखा और नेत्रों में संतोष की झलक थी। उस की उस दृष्टि को देख मैं कुछ ऐसी लजाई कि दौड़ कर मैं ने उस की गोद में अपना मुँह छिपा लिया। मा ने मेरे सिर पर दोनों हाथ रख कर मुझे अपनी छाती से लगा लिया।

ऐसा प्यार और संरक्षण मैं ने कभी आज से प्रथम मा से नहीं पाया था। बड़ी देर तक मैं उसी तरह मा के वक्ष में मुँह छिपाए खड़ी रही। जब मैं ने मुँह उठाया तब देखा, मा का मुँह आँसुओं से भीगा हुआ है। उस ने आहिस्ता से मुझे अपने वक्ष से अलग किया और कहा--"अन्नदाता ने पसाव भेजा है।" सुन कर मैं ने मा के मुँह की ओर देखा। मैं ने देखा उस की दृष्टि सामने चौकी पर रखे, पीले कपड़े से ढांपे हुए एक बड़े-से ढेर पर लगी

है। मैं ने भी उसी ओर नज़र उठाई। कौतूहल और उत्सुकता से मैं ने जा कर ढेर पर का वस्त्र हटाया। देख कर मेरी आँखें चौंधिया गईं। एक भारी जोड़ा था, जैसा कुँवरी पहनती थीं। कुछ जड़ाऊ गहने थे। ढेर सोने की मोहर थीं। मिठाई और मेवे के थाल थे। ये सब इतनी चीज़ें किस के लिए आई हैं? मैं ने मा से आँखों ही आँखों में प्रश्न किया। मा ने अभिप्राय समझ कर मुसकरा कर कहा—"यह महाराज श्री ने तेरे लिए पसाव भेजा है।"

"मेरे लिए ?" मेरे मुँह से टूटे-फूटे शब्द निकले। आँखे फाड़-फाड़ कर मैं उन सब चीज़ों को देखने लगी। अपने जीवन में मैं ने इतनी चीजें कभी नहीं देखी थीं। ये सब क्या मेरे लिए हैं, मेरे लिए···! मैं आनन्द से विह्वल हो गई। मेरा कलेजा उछलने लगा और मैं ने परेशान हो कर मा की ओर देखा। मा ने कहा—"वह जोड़ा पहन।"

मेरा मुँह सूख गया। क्या मैं ? काँपते हाथों से मैं ने जोड़ा छुआ। इसी समय केसर आ गई। वह सीधी मेरे पास आई। अपने हाथों से उस ने मुझे जोड़ा पहनाया, सब गहने सराह-सराह कर पहनाए। फिर मेवा और मिठाई से भरा थाल मेरे सामने रख कर कहा—"खाओ, रानीजी !" मैं लजा गई। मै ने केसर की गोद में मुँह छिपा लिया। मेरी आँखों में आँसू उमड़ आए। केसर ने हंस कर मेरे मुँह में मिठाई ठूंस दी। उस ने न जाने क्या-क्या कहा, वह सब समझने-सुनने की परिस्थिति में उस समय मैं नहीं थी। मैं उसी भाँति केसर की गोद में पड़ी यही सोचती रही कि आज मुझे फिर उस शयन-कक्ष में ले जाया जाएगा या नहीं। भय, उल्लास, उद्वेग और लाज से मैं अभिभूत हो रही थी। मा और केसर धीरे-धीरे मेरे ही सम्बन्ध में बातें कर रही थीं। इसी समय केसर ने कहा—"अन्नदाता चले गए। जाते समय जुहार करने मैं गई थी। महाराज ने मुझे यह पंचलड़ी और पांच अशर्फियाँ इनाम में दीं।"

अन्नदाता चले गए। न जाने क्यों, मेरे कान में यह वाक्य बंदूक की गोली की भाँति लगा। मैं ने मुँह उठा कर केसर की ओर देखा। केसर ने एक बार मुझे देखा। अपनी गोद में मुझे खींच कर वह उसी भाँति मा से मेरे और अन्नदाता के नए सम्बन्ध और भावी परिस्थितियों के अनुमान तथा सम्भावित परिणामों की चर्चा करने लगी। उन सब बातों को मैं अपने दोनों कानों से नहीं, अपने सम्पूर्ण रोम-कूपों से सुनने लगी।

इसी समय मा ने कहा—"खड़ी हो, देखूं, जोड़ा ठीक नाप में बैठा है या नहीं।" मैं खड़ी हुई। मा ने और केसर ने मेरे चारों ओर घूम-

फिर कर देखा। संतोष प्रकट किया। फिर केसर ने मुझे मा के कद्दे-आदम शीशे के सामने ला खड़ा किया। उस जोड़े और जड़ाऊ गहनों में अपना नवल रूप देख मैं पागल हो गई। लज्जा और आनन्द के भावातिरेक से बौखला कर मैं मा के पलंग पर मुंह छिपा कर औंधी पड़ रही।

: ११ :

# बात फैल गई

कुंवरी को किसी-न-किसी रूप में इस बात का पता चल गया। मुंह से उन्हों ने मुझ से कुछ नहीं कहा, पर उन की आँखों में एक भय और विरक्ति की रेखा मैं ने देखी। यह रेखा मरते दम तक उन की आँखों में रही। जैसा कि मैं कह चुकी हूँ, वह बहुत भावुक और मानिनी तथा मितभाषिणी थीं। मैं समझती हूँ कि उन के सामने वह घटना जब विकृत हो कर पहुँची, तब उन के हृदय को चोट तो लगी ही होगी। वह स्वाभाविक भी था। पर मैं भी इस सम्बन्ध में क्या कर सकती थी। आरंभ में मैं कुछ अपराधिनी-सी, लज्जित-सी उन के सामने जाती, पर पीछे एक ढीठ भाव मेरे मन में उत्पन्न हो गया। जैसे मैं ने उन की परवाह करनी ही छोड़ दी। मेरा यह भाव-परिवर्तन भी उन्होंने देखा—परन्तु इस पर भी उन्हों ने मुझ से कुछ नहीं कहा। हाँ, अब मैं उन के हृदय से दूर अवश्य हो गई। वह मुझे देख कर दिल की बातें नहीं कहती थीं, मेरे न आने पर कभी बुलाती नहीं थीं, हंस कर कभी बोलती नहीं थीं। पहले जैसे वह प्यार करतीं, सरल भाव से अपनी आवश्यकताएं बतातीं, वह सब अब नहीं करती थीं। परन्तु मैं ने अपने अदब-कायदे और विनय में कुछ भी परिवर्तन नहीं आने दिया था। यद्यपि मैं अब उन की ओर

से बेपरवाह हो गई थी, फिर भी जब उन के सामने होती थी, तब पहली जैसी अधीनता से ही बातें करती थी।

दाता के कान में भी शायद यह बात पड़ चुकी थी। मैं ने देखा कि मुझे देख कर उन का मुंह गम्भीर हो जाता था और जैसे वह कुछ परेशान से हो जाते थे। मैं ने यह भी देखा कि मेरे प्रति उन का पहले-जैसा मोह और ममता का भाव अब न रह गया था। मुझे देख कर अब वह हंस कर मेरा हाल-चाल नहीं पूछते थे। हंसी-ठट्ठा नहीं करते थे। असल बात यह थी कि वह अपनी पुत्री को बहुत चाहते थे। पुत्री मैं भी उन्ही की थी, पर बिना माता की अपनी उस पुत्री के प्रति उन के मन में बड़ी गाढ़ी प्रीति थी। वह उन की एकमात्र संतान भी तो थी। मैं तो उन की संतान होने पर भी संतान न थी। मातृहीना कुंवरानी स्वभाव से ही गम्भीर, मितभाषिणी, एकांत प्रिय और नाजुक थीं। ठाकुर साहब उन का बड़ा खयाल रखते थे और अब उन्हें इस अकल्पित घटना का पता लगा, तब तो उन का मन मातृहीना पुत्री के लिए द्रवित हो उठा। उन्हें कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे यहीं से, विवाह से पूर्व, सौभाग्योदय से पहले ही उन की प्रिय पुत्री का दुर्भाग्य उदित हो गया। पर प्यार उन का मेरे प्रति भी कम न था। कुंवरानी के बाद मैं ही तो उन की आत्मीया थी, जिस में उन के रक्त का अंश था। फिर उन की सेवा और आवश्यकताओं का मैं ही सब से अधिक खयाल रखती थी। कब कहाँ, क्या वस्तु दाता को चाहिए, यह मुझ से अधिक कौन जानता था? दाता भी यह बात जानते थे। इसी से वह मुझे देख कर प्रसन्न रहते थे। उन की उदासीनता देख कर भी मैं ने अपना भाव बदला नहीं, उन की सेवा-सुश्रूषा वैसे ही यत्न और तत्परता से करती रही। फलतः मेरे प्रति उन की उदासीनता देर तक टिकी नहीं रही और वह फिर मुझ से उसी भांति खुश रहने लगे। ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे मेरे विषय में भी उन्हों ने मन-ही-मन में कुछ वैसा ही निर्णय कर लिया था—जैसा कुंवरानी के सम्बन्ध में।

धीरे-धीरे विवाह की चर्चा और तैयारियां सरगर्मी से होने लगीं। नए वस्त्र, नए आभूषण, नए सामान जुटाए जाने लगे। मुझ से यह छिपा न रहा कि वस्त्राभूषण आदि कुवरानी के लिए ही नहीं, मेरे लिए भी तैयार हो रहे थे। मैं फड़कते हृदय से आने वाले दिनों की प्रतीक्षा कर रही थी। विवाह कुंवरानी का हो रहा था, पर उस की उत्सुकता मुझे ही अधिक थी। बहुधा मैं उस रात की बातों को एक-एक कर याद करती, हंसती, रोती और छटपटाती। अब आगे क्या होगा। मुझे कभी कोई बात बताता नहीं था, कोई मुझ से सलाह करता नहीं था। मा से अवश्य दाता की सलाह होती थी, पर मुझ से वह भी कुछ कहती न थी। हां, मेरी गतिविधि और रहन-सहन पर अवश्य कड़ी नजर रखती थीं। और, केसर तो जैसे मेरे ऊपर थानेदार नियत कर दी गई थी। वह मेरे साथ दासी की भांति अधीनता से अवश्य व्यवहार करती थी, पर हर बात में उस की सख्त नज़र थी। इस लिए दिन में अनेक बार मुझे उस के उलाहने और उस की डांट-डपट भी सहनी पड़ती थी। शुरू में मेरे लिए ये सब बातें असहनीय-सी लगी थीं, पर अब मैं अनुशासन-प्रिय हो गई थी · मैं ने अपनी बहुत-सी आदतें बदल डाली थी। इन्हीं पांच-छः मासों में मेरी जैसे काया-पलट ही हो गई थी। एक अल्हड़ बछेड़ी, हवा में उड़ने वाली तितली जैसे भारी भरकम गरिमामयी स्त्री बन चुकी थी। और अब यह मेरा नया जीवन मुझे भा गया था और मैं तन-मन से इस नए जीवन में रम गई थी।

हवेली में मेरी इज्जत बहुत बढ़ गई थी। सभी दासियां-दास मेरी आव-भगत करने लगे थे, यहाँ तक कि मा भी अब मुझ से और ही ढंग से, कुछ दब कर बोलती थी, यद्यपि मेरी प्रत्येक चेष्टा, रहन-सहन, बात-चीत सब पर उस की कड़ी दृष्टि रहने लगी थी। मेरी तनिक-सी भी असावधानी पर वह मुझे सावधान करती। अब मै मनमाने तरीके से, सटर-पटर कपड़े पहन कर इधर-उधर नहीं घूम सकती थी। कपड़े-लत्ते से, सब तरह मुझे चाक-चौबन्द रहना पड़ता था। मेरे लिए कई नई

पोशाकें तैयार की गईं। एक बड़ा-सा बक्स खरीद कर मुझे दिया गया। उस में मेरी सब अशर्फियाँ और मेरे सब जेवर रखे रहते थे। जब मैं अकेली रहती, तब भीतर से अपनी कोठरी का द्वार बन्द कर उन्हें देखती। अशर्फियों को गिनती। भाँति-भाँति के मंसूबे बनाती। मैं नहीं जानती थी कि मेरा भविष्य क्या होगा। परन्तु एक बहुत बड़ी बलवती आशा मेरे हृदय में जम कर बैठ गई थी। और भीतर-ही-भीतर मैं अपने को कुछ असाधारण-सा अनुभव करती थी। परन्तु इस सम्बन्ध में किसी से मैं कुछ कहती-सुनती नहीं थी। केसर अब अधिक मेरे ही पास रहती थी। वह अब एक दासी की भाँति मेरी सेवा करती तथा अधीनता और आदर से बातचीत करती थी। वह मुझे 'रानीजी' कह कर सम्बोधन करती थी। पहले उस का यह सम्बोधन मुझे व्यंग्य-सा प्रतीत होता था, किन्तु अब जैसे मैं ने अपना यह नया नाम स्वीकार कर लिया था, और कभी-कभी सचमुच मैं रानी की ही भाँति व्यवहार करती और अपने को रानी ही समझती थी। मा और केसर मेरी सभी हलचल और छोटी-छोटी चेष्टा का पूरा ध्यान रखती थीं और अब मैं भी जैसे अपना गौरव समझ गई थी और उसी के अनुसार रहने, व्यवहार करने लगी थी।

: १२ :

# नए जीवन की राह पर

परन्तु महाराजाधिराज ब्याहने नहीं आए। राजपुरोहित, चारण, भाट और राज्य के दीवान उन की कटार और फेंटा ले कर आए। राजपूताने का यह पुराना दर्बारी कायदा था, जो कदाचित् उस जमाने का था जब कि राजा लोग युद्धरत रहते थे, उन्हें बहुत कम फुर्सत रहती थी, दूर देश के यातायात साधन सुलभ न थे और राजा को स्वयं अधिक समय न था, खासकर ब्याह-जैसे फालतू काम के लिए। देर तक युद्धस्थली या राजगद्दी को सूनी छोड़ कर अनुपस्थित होना उन्हें श्रेयस्कर न था, कदाचित् निरापद भी न था। जी हां, मैंने ब्याह को एक फालतू काम कहा। राजाओं के ब्याह उनके जीवन की ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएं न थीं, जिन का उन के जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़े। ये ब्याह तो होते हो रहते थे, कभी-कभी तो वर्ष में दो-चार। उन की गिनती कौन करता था ? और परवाह किसे थी ? ठाकुर-ठिकानेदार अपनी लड़कियां रनवास में ठूंस देना लाभदायक समझते थे। इस से उन्हें दो लाभ थे, लड़की रानी बन जाती थी और ठिकानेदार को सदा बड़ी-बड़ी रियासती सुविधाएं वे आसानी से राजा से दिलाती रहती थीं। ये ठाकुर-ठिकानेदार भले ही एक गांव के ठाकुर-ठिकानेदार क्यों न हों, उन का रुतबा बढ़ जाता था। वे राजा के ससुर बन जाते थे और अपने इस पद का अधिक

मे-अधिक लाभ उठाते थे। यह तो रही छोटे ठाकुर-ठिकानेदारों की बात। बड़े-बड़े छत्रधारी राजा भी बड़े-बड़े महाराजाओं के रनवासों में अपनी बेटी जैसे-तैसे ठूंस देने में ही अपनी भलाई समझते थे। प्रथम लाभ तो इस से यह होता था कि वे दोनों राज्य आपस में सम्बन्धी और मित्र बन जाते थे। न केवल परस्पर लड़ने का खतरा हट जाता था, अपितु आवश्यकता होने पर शत्रु से लड़ने में वे एक-दूसरे का हाथ बटाते थे। इस के अतिरिक्त राज्य के भीतरी-मे-भीतरी भेद-समाचार उन्हें मिलते रहते थे। उन के लिए सब सुविधाएं सुगमता से प्राप्त होती थीं। उन की लड़कियां रनवास में आ कर उन की राजदूत बन जाती थीं और महत्वपूर्ण राजनीतिक सेवाएं करती थीं। इन सब कारणों से, चाहे बड़ा छत्रधारी राजा हो, चाहे कोई छोटा ठाकुर-ठिकानेदार, वह इस बात का पर्वाह नहीं करता था कि राजा की आयु क्या है, वह बूढ़ा है या कुरूप, आदमी है या जानवर। और लड़की सौतों पर जाती है या सती होने के लिए। वे तो यत्न-विधि से अपनी लड़कियां छत्रपति राजाओं को देते ही थे। संक्षेप में उन की लड़कियों की शादियाँ पतियों से नहीं, राजगद्दियों से होती थीं। वे पत्नी नहीं, रानी बनाई जाती थीं। उन में से बहुतों को जीवन में कभी-कभी एक बार ही पति-सहवास प्राप्त होता था। कभी वह भी न होता था। कभी ब्याह के तुरन्त बाद ही चिता पर जीवित जल कर सती-धर्म निबाहना होता था। पर बहुधा तो वे एक अनावश्यक, उपेक्षणीय अदद की भाँति महलों में पड़ी दासियों, गोलियों और खवासों के साथ दिन काटतीं तथा राजा की गोलियों, पड़दायतों, सौतों और नित नए मालों के साथ रंगरेलियों के किस्से कहती, सुनती, कुढ़ती रहती थीं। पति पर उन का कोई अधिकार नहीं होता था। दूसरी स्त्रियों से सम्पर्क रोकने की उन में भावना भी न थी, यह तो जैसे होता था, स्वाभाविक ही था। अन्नदाता कभी-कदास उन के महलों में भी पधार जाते थे। यही उन के लिए सब से बड़े सौभाग्य की बात थी। ऐसे ही वे दिन थे और ऐसे ही रीति-रिवाज उन दिनों राजस्थान में थे। मतीत्व

का उन्हें पूरा निर्वाह करना पड़ता था, यद्यपि राजा पक्का लम्पट और शराबी होता था। वे पर-पुरुष को देख भी नहीं सकती थीं, छू भी न सकती थीं। राजा के मर जाने पर उन्हें सती होना पड़ता था। ऐसा भी उदाहरण है कि विवाह के बाद छत्तीस वर्ष वह पति-गृह में रही और इस बीच उस ने एक बार भी पति का स्पर्श नहीं किया। फिर दूर देश में युद्ध में पति का देहान्त हुआ, तो उसे उस पति की पाग गोद में रख कर चिता में जल कर सती होना पड़ा। अब आप इसी एक उदाहरण से राजस्थान के राजाओं और उन के रनवासों में रहने वाली रानियों के असाधारण जीवन को समझ सकते हैं।

यद्यपि महाराजाधिराज ब्याहने नहीं आए थे, तथापि राज-पुरोहित के साथ लवाजमा बहुत था। हाथी, घोड़े, प्यादे, सेवक, दास-दासी, पालकी, नालकी, रथ, बहली, ऊंट, सिपाही, सवार, चाकर, गोलों की गिनती न थी। गढ़ी के बाहर मैदान में दूर तक रावटियों की पांत पड़ गई थी।

गोरी पल्टन का बाजा खास तौर से मंगाया गया था। इस के अतिरिक्त गवैए, रंडियाँ, भाँड़, आतिशबाज, कलावन्त दूर-दूर से आए थे। कुछ बुलाए गए थे, कुछ खबर सुन कर अपने-आप ही इनाम-इकराम के लालच से चले आए थे। वे जत्थे बाँध कर इधर-उधर घूमते, जहाँ-तहाँ अपने करतब दिखाते, शोर मचाते, लम्बे-चौड़े आशीर्वाद और शुभ-कामनाएं जोर-शोर से बकते-झकते फिर रहे थे। शोर, धूल, गर्द और भीड़-भाड़ का अंत न था। सैकड़ों मंगते, ब्राह्मण, भाट आप ही आ जुटे थे। जहाँ-तहाँ वे भी जोर-शोर से विरद बखान रहे थे। कोई सुने या न सुने, इस बात की उन्हें चिन्ता न थी। सैकड़ों भट्टियों पर सौंफ, गुलाब, दाख और अन्य मेवों की दारू खींची जा रही थी। सैकड़ों बकरे-मेंढ़े काटे जा रहे थे। विविध मांस और पकवान बन रहे थे। उन की गंध वातावरण में फैल रही थी। दिन भर भिश्ती लोग छिड़काव करते, रात को सैकड़ों नाई, खवास मशालें जलाते। पर न धूल का बवंडर दबता था और न अन्धकार दूर होता था। अव्यवस्था और भीड़भाड़ ऐसी थी

कि कोई किसी की नहीं सुन रहा था। विधि-नियम के अनुसार विवाह सांगोपांग सम्पन्न हुआ। सब रीति-रिवाज अपनाए गए। सब मंगल-विधान किए गए। यज्ञ-वेदी रची गई। अग्नि प्रदक्षिणा हुई। सप्तपदी हुई। ग्रन्थि-बन्धन हुआ। हथलेवा हुआ। दूल्हे के स्थान पर फेंटा और कटार ने सब कार्यों और रस्मों की पूर्ति की। राज-पुरोहित ने सारे अनुष्ठान किए। विशेष बात यह हुई कि कन्या-दान के समय मैं और नौ और, कुल दस गोलियां भी दहेज में दे दी गईं। हमें भी एक विशेष प्रकार के वस्त्र पहनाए गए। हम से भी गृह-देवताओं का पूजन, उपवास और षोड़शोपचार कराया गया। एक प्रकार से हमारा भी उस फेंटे और कटार के साथ आधा विवाह सम्पन्न हो गया। पूरे दस दिन बरात की पहुनाई हुई। दाता ने कुंवरी को बहुत-सा धन, रत्न-मणि दहेज में दिए। हाथी, घोड़े, दास दिए। वर-पक्ष की ओर से घर के सब सेवकों को सिरोपाव, सोने-चांदी के कड़े और नकदी भी इनाम में दी गई। राज-पुरोहित को घोड़ा और चारण को हाथी दिया गया। इस प्रकार धूम-धाम से कुंवरी का विवाह सम्पन्न हुआ। कारचोबी के काम की पालकी में कुंवरी की सवारी चली। उस के पीछे दहेज में दी गई हम दस गोलियों की दस डोलियाँ चलीं। डोलियों के पीछे सुखपाल पर राज-पुरोहित, हाथी पर दीवान और घोड़ों, बहली और रथों पर दूसरे सर-दार, कर्मचारी और सैनिक चले। सब से आगे ऊंटों पर धौंसा बजता चला। सब से पीछे घुड़सवार और पैदल पल्टन। चार कोस सीमा पर आ कर दाता ने आंखों में आंसू भर कर कुंवरी को विदा किया। फिर वह मेरी डोली के पास आए। न जाने क्या सोच कर वह मुझ से लिपट गए। हिलकियाँ बाँध कर रो उठे। उन्हों ने केवल इतना कहा—"चम्पा ! कुंवरी की मर्यादा भंग न करना। यह न भूलना कि तू मेरी छोटी बेटी है और कुंवरी बड़ी।" मैं ने रोते-रोते दाता के पैरों में ढोक दी, पर मेरे मुंह से बोल न फूटा और मैं डोली में बैठ गई। हम लोग आगे बढ़ चले—अपने नए जीवन की राह पर।

: १३ :

# राजमहल में

राजधानी की बात मैं क्या कहूँ ? वहाँ के तो सब ठाट ही निराले थे। कभी न देखी, कभी न सुनी बातें मेरे देखने-सुनने में आईं। मेरी छोटी-सी बुद्धि, मेरा नन्हा-सा दिल भला उन सब को अपने में कहाँ समेट सकता था ! सारा नगर हमारी अवाई में सजाया गया था। बन्दनवार, तोरण, ध्वजा-पताका और रंग-बिरंगे द्वार, भाँति-भाँति के बाजे, ढोल, दमामे, शहनाई, नफीरी, नक्कारे जिन के गर्जन-तर्जन से सारा नगर हिल रहा था। लम्बे-लम्बे बाजारों में दूर तक कतार बाँधे बन्दूकधारी सेना की पंक्ति, जिनके पीछे खड़े हज़ारों आबाल-वृद्ध नर-नारी, तुमुल हर्ष-नाद, गगनभेदी जय-ध्वनि। घरों की अटारियों पर से नगर-वधूटियाँ झाँक रही थीं। रंग-बिरंगी उन की पोशाकें इन्द्रधनुष-सी लग रही थीं। ठौर-ठौर पर मंगल-गान हो रहे थे। बड़ा लम्बा जलूस था। आगे ऊँटों पर धौंसा बजता जाता था। उस के पीछे हाथी पर राज का झण्डा था। झण्डे के पीछे घुड़सवार टुकड़ी और उसके बाद कुंवरानी की कारचोबी की पालकी और हमारी डोलियाँ, जिन सब पर पीले पर्दे पड़े थे। और उनके पीछे हाथियों पर दहेज की सामग्री, जिस का ताँता दूर तक बँधा चला गया था। सोने-चाँदी के असाबल्लम लिए सैकड़ों चाकर, खवास,

प्यादे भड़कीली पोशाकें पहने आगे-पीछे चल रहे थे। अनेक सिपाही बरकंदाज घोड़ा कुदाते आगे-पीछे दौड़ कर इन्तजाम कर रहे थे। हमारी सवारी बढ़ी चली जा रही थी राजमहल की ड्योढ़ियों की ओर। चारों ओर नर-मुण्ड ही नर-मुण्ड नजर आ रहे थे। मेरा कलेजा मुंह को आ रहा था। रह-रह कर मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे यह सब मेरे ही लिए हो रहा हो। क्षण-क्षण में मैं भूल जाती थी कि ब्याह मेरा नहीं, कुंवरी का हुआ है और मैं दहेज में दी हुई एक गोली हूँ, चाकर हूँ। सब

के ऊपर एक बात मेरे मन पर जम कर आ बैठती थी; वह यह कि मैं तो ठाकुर की बेटी हूँ, गोले-चाकर की बेटी नहीं। और मेरी मा रानी न सही पड़दायत तो सरदार की है. अतः मेरी इज्जत कुछ कम नहीं। हाय री इज्जत !

ड्योढ़ियों में सवारी घुसी। राज्य के सब बड़े-बड़े कारबारी, दीवान, अफसर और सरदार दरबारी जन ड्योढ़ियों पर हमारी अगवानी के लिए हाजिर थे। हाथी, घोड़े और भीड़भाड़ पीछे रहती गई और हमारी सवारी एक के बाद दूसरे द्वारों को पार करती हुई राजमहल में घुसती गई। ढोल-दमामे भी सब पीछे रह गए। अब एक बड़े महल के प्रशस्त आँगन में हमारी सवारियाँ उतारी गईं। चारों ओर कनातें खडी कर के पर्दा किया गया था। सारा महल मकराने के संगमर्मर का था। फर्श पर मक्खी के भी पाँव रपटते थे। जब मैंने सीढ़ियों पर डोली से निकल कर कदम रखा तब मैं आपे में न थी। मे नहीं जानती थी कि कुंवरी कहाँ गई और मेरी साथिन दूसरी गोलियाँ किधर गईं। एक बूढ़ी-सी औरत मुझे हाथ पकड़ कर एक ओर ले चली। चारों ओर से मैं कपड़ों में लिपटी हुई, घूंघट से घिरी हुई उस औरत के पीछे चली। कानों में चारों ओर बहुत-से लोगों के चलने की आहट आ रही थी। महल के प्रशस्त प्रांगण में शायद सलामी की बन्दूकें दागी जा रही थीं। उन की कड़कड़ाहट मुझे चौका रही थी। कभी-कभी मेरे पैर लड़खड़ा जाते थे। कई बार तो मैं गिरते-गिरते बची। अन्ततः एक खूब सजे-धजे कमरे में मैं पहुँची। सारा फर्श सफेद-काले पत्थर का था। बड़े-बड़े दालान थे। उन में फूलों के गुलदस्ते सजे थे। कद्दे-आदम दो शीशे लगे थे। दीवारों पर सुनहरी और रंगीन नगों की पच्चीकारी हो रही थी। सामने की बारहदरी में दो मोर पच्चीकारी में उभारदार बने थे। द्वार बहुत ऊँचे थे। उन पर लाल रूईदार पर्दे पड़े थे। भीतर फर्श पर साफ चाँदनी बिछी थी। एक ओर चाँदी का पलंग था, दूसरी ओर सुनहरी काम की कौच, कुर्सियाँ पड़ी थीं। एक बड़ी-सी संगमर्मर की मेज पर बड़े-से काँच

के पात्र में लाल मछलियाँ तैर रही थीं। भारी-भारी झाड़-फानूस, हाँडियाँ छत में लटक रहे थे। हे परमेश्वर, यह सब मेरे लिए था! केवल मेरे लिए? मेरा घर। मुझे अपनी वह अन्धेरी तंग कोठरी याद आ रही थी, जहाँ मैंने अब तक की अपनी समूची जिन्दगी बिताई थी। बीते हुए दिन एक-एक कर के आँखों में घूम रहे थे। दिल जैसे पसलियों से निकला पड़ता था। मैं पागल की भाँति कभी इधर-उधर, ऊपर-नीचे देखती, कभी सोचती—कुंवरानी कहाँ हैं, मेरी और साथी-संगिनें कहाँ हैं? अब आगे क्या होगा? मेरे लिए सब कुछ नया था, सब कुछ अनहोना था। सब कुछ मेरी मूढ़ बुद्धि से बाहर था। सच तो यह है कि मैं बौखला गई थी और मेरे होश-हवास ठिकाने न थे।

मुझे वहाँ छोड़ कर वह औरत कहीं चली गई थी। दो-चार लौंडी-बाँदियाँ इधर-उधर आती-जाती दीख रही थीं। वे इधर-उधर कुछ सामान ला रही थीं। कुछ आवश्यक चीजें कमरे में रख रही थीं। पर मुझ से कोई न बोल रहा था। मैं अपने ही में सिमटी-सिकुड़ी-सी चुप-चाप जैसी आई थी वैसी ही एक ओर बैठ गई थी। इसी समय केसर वहाँ आई। उसे देखते ही मेरे मन को ढाढ़स हुआ। वह वैसी ही शाँत, तत्पर और सक्रिय थी जैसे यहाँ वह पहले भी रह गई हो। उसने कहा—"कपड़े बदल लो, हाथ-मुँह धो लो, कलेवा आ रहा है। कलेवा कर के नहाना। तब श्रीजी के दर्शन को चलना होगा।" उस ने मेरे उस बड़े सन्दूक का ताला खोला। कितना भद्दा लग रहा था मुझे वहाँ वह मेरा सन्दूक। और उस में रखी हुई वे सब चीजें, जो कभी मैं बड़े चाव और यत्न से देखती-रखती थी, आज मुझे कितनी तुच्छ और भद्दी लग रही थीं।

कपड़े बदल कर मैं ने कुछ खाया, फिर स्नान करने गई। गुसल-खाना मेरी उस कोठरी से भी बड़ा था। उस में फव्वारा, शावर बाथ, टब, तौलिए, साबुन, शैम्पू, कंघी, ब्रुश, तेल-फुलेल, पाउडर और न जाने क्या-क्या सजा था। सफेद दूध-सा टाईल का वहाँ फर्श था। मेरे बाप-

दादो न भी कभी ये सब चीजें न देखी थीं। न काम में ली थीं। चीनी के टब में पानी भरा था। बड़ी देर तक मैं मूढ़ बनी यह सब देखती रही। फिर मैं सब लाज-संकोच छोड़ कपड़े एक ओर फेंक टब में घुस गई। फव्वारा मैंने खोल दिया और निर्द्वन्द्व हो कर हंसिनी की भाँति जल में किलोल करने लगी। उछाह से मैं भर गई और आनन्द के सागर में शराबोर हो गई। बड़ी देर तक मैं उस श्वेत विशाल टब में, स्वच्छ शीतल जल में मछली की भाँति खेलती रही, फव्वारे की धार शत-सहस्र कणों में बिखर कर मेरे वक्ष पर, पीठ पर आघात कर रही थी। वह कितनी प्रिय और सुखद-सी प्रतीत हो रही थी। खुली हुई मेरी सघन केश-राशि जल में तैर रही थी। मेरी तीन दिन की यात्रा की थकान न जाने कहाँ विलीन हो रही थी। कभी-कभी ध्यान आता था—क्या यह स्वप्न तो नहीं है? परन्तु नहीं। अब यह मेरे जीवन का नित्य का भोग उपस्थित था।

बहुत देर तक मैं जल-विहार करती रही। अन्ततः मैं ने साबुन से शरीर को और सिर को खूब धोया। उपस्थित वस्तुओं में से जिस का भी मैं इस्तेमाल कर सकती थी, इस्तेमाल किया। और जब मैं बाहर आई, केसर प्रतीक्षा कर रही थी। उसने संतोष की नज़र से मुझे देखा। मैंने चुपचाप पोशाक बदली। अन्नदाता ने जो जोड़ा मुझे बख्शा था, उसे ही आज मैं ने धारण किया। केसर ने बिल्कुल नए ढंग पर मेरे बाल बांध दिए। फिर कहा—"चलो अब, श्रीजी के दर्शन करने। फिर कुंवरानी के महल में हाजिर होना होगा।" और मैं यन्त्र-चालित-सी केसर के पीछे चल दी। केसर ही उस भंवर में मेरी नाव की खिवैया थी।

: १४ :

# महारानी के सामने

श्रीजी के दर्शन-पूजन के बाद हम रंगमहल की ओर चलीं, मैं और केसर, कुंवरानी को जुहार करने। आगे मैं और मेरे पीछे केसर छाया की भाँति। यह भी एक नई बात थी। अब तक तो सब कामों में आगे

केसर ही थी, उस के पीछे छाया की भाँति मैं रहती थी। पर अब तो सभी बातें नई थीं। ज्यों-ज्यों मैं आगे बढ़ती जाती थी, मेरे दिल की धड़कन बढ़ती जाती थी। पैर सौ-सौ मन के हो रहे थे, जैसे उन में पारा भर दिया हो। मुझे ऐसा लग रहा था, जैसे मै वध-स्थली पर जा रही हूँ। कुंवरानी को मैं प्राणों से बढ़ कर प्यार करती थी। यहाँ वही मेरा सब से बड़ा सहारा थीं। सदैव बचपन ही से हम एकदिल थीं। मन की गाँठ वह मेरे सामने ही खोल पाती थीं। मैं भी दो घड़ी उन्हें न देख पाऊं तो छटपटाने लगती थी। यद्यपि मै ने कभी अदब भंग नहीं किया था, फिर भी मैं कभी उन से डरी नहीं। पर आज स्थिति ही कुछ और थी। मेरा मन चाहता था कि कुंवरानी के सम्मुख जाने से पूर्व ही मै मर जाऊँ। कुएं-पोखर में डूब मरूँ। केसर ने मुझे समझा दिया था कि उन से सावधान रह कर बातें करना। वह जब से आई है, रो रही हैं। उन का जी अभी ठिकाने नहीं है। राह में उन्हों ने कुछ भी खाया-पिया नहीं है। उस ने यह भी बता दिया था कि अब उन की मान-मर्यादा का भी खयाल रखना होगा। अब वह कुंवरानी नही, महारानी हैं। सारी ही बात मैं सुन रही थी, उन बातों का मतलब भी मैं समझ रही थी। फिर भी केसर ने बता दिया था कि सारा रोना-धोना तेरे ही कारण है। महाराज ने तुझे पृथक् महल दिया है। इसी से। तो मैं ही अपनी प्राणाधिक-प्रिय कुँवरी के इस अन्तःविवाद का कारण हूँ। मैं जन्म-जात अभागिनी, चाकर-गुलाम-गोली उन की सौत बन कर यहाँ रंगमहल में धँसी हूं। इतना ही नहीं, उन के नव-वधू के प्रथम सुहाग पर लात मार कर उन्हीं की सुहाग-सेज को, जो भी किसी हिन्दू कुमारी के जीवन का सब से बड़ा सौभाग्य और स्त्री मात्र की सब से बहुमूल्य भाग्य-सम्पदा है, अपने चरणों से दूषित कर चुकी हूँ। हाय राम, इसी सौभाग्य-सेज के अधिकार का मूल्य चुकाने को तो शत-सहस्र राजपूत बालाओं ने जौहर की ज्वाला में अपने को भस्म किया था! इसी सौभाग्य-सेज के अधिकार का गर्व प्रत्येक हिन्दू स्त्री को अपने प्राणों से भी

अधिक है। वही मैं ने कलुषित कर डाली है और अपनी इस कुत्सा पर मैं प्रसन्न हूँ, संतुष्ट हूँ, उद्ग्रीव हूँ; और अब उसी कुत्सा का यह पुरस्कार, यह साज-शृंगार, महल-अटारी ? लाज और ग्लानि से मैं अधमरी हो गई। परन्तु मैं इस में क्या कर सकती थी, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा था। मेरा इस में अपराध क्या था, यह मैं नहीं जान पा रही थी। केसर की सारी बातें सुन कर भी मै चुप ही रही। शंका-समाधान भी भला क्या हो सकता था। यों लाज से मैं धरती में गड़ी जा रही थी। धड़कते कलेजे मैं ने कुंवरानी के रंगमहल की पौर में पैर रखा। पौर में पैर रखते मैं ठिठकी, केसर ने चुपके से मुझे आगे धकेल दिया। एक बार भयभीत दृष्टि से मैंने उसकी ओर देखा, उस ने होंठों ही में कहा—"हौसला करो, चलो।"

मैं तो अपने ही महल को देख कर दंग थी। वहाँ जो कुछ था, वह मैं ने अपने जीवन में कभी देखा न था। रंगमहल के पौर में पैर धरते ही जैसे मेरा सिर घूमने लगा। वहाँ की शोभा, सुषमा, गरिमा, भव्यालोक-सी माधुरी देख कर मेरा सिर चकरा गया। समूचा फर्श दूध के समान धवल मर्मर का था। दीवारों पर रंगीन पच्चीकारी, ठौर-ठौर पर रंगीन फव्वारे, छतों पर सुनहरी काम, अनगिनत बिल्लौरी झाड़। सुन्दर पींजरों में देश-विदेश के दुर्लभ पक्षी। उन का कलरव, देश-देश के फूलों के झाड़, लता-गुल्म। एक-से-एक बढ़ कर दालान, कमरे-कक्ष, जहाँ लाल कनात और ईरानी कालीनों का ऐसे फर्श, जिन पर पैर रखते ही पैर हाथ भर धँस जाता था! बड़े-बड़े कद्दे आदम शीशे-आइने, जिन में प्रतिबिम्बित भव्य महल की छवि एक दूसरे ही महल की झाँकी का भ्रम उत्पन्न करती थी। यह सब देख कर मैं बौखला गई। केसर मेरे पीछे छाया की भाँति चल रही थी। उसी मे मुझे ढाढ़स बँधा था। दालानों, कमरों और गैलरियों तथा सीढ़ियों का अंत ही न था। हम बढ़े चले जा रहे थे। जगह-जगह सिपाही, अरसावरदार, चोबदार, लाल रंगीन वर्दी पहने, ढाल-तलवार लगाए, अपने-अपने काम में मुस्तैद।

चाकर, खवास, जी-हुजूरिए, लौंडे, बाँदी, दीवान, मुत्सद्दी, मुफ्ती और न जाने कितने कारभारी सरकारी लोग भाँति-भाँति की पोशाकें पहने इधर से ऊधर आ-जा रहे थे। हम ज्यों-ज्यों रंगमहल की भीतरी पौर में घुसते गए, भीड़-भाड़ बढ़ती गई। अंत में हम शीशमहल में जा पहुँचे।

कारचोबी की मसनद पर कुँवरी सादा परिधान पहने अधोमुखी बैठी थीं। दो-चार बांदियाँ हाथ बांधे दीवार से चिपकी खड़ी थीं। बाहर की भीड़-भाड़ का शोर यहाँ बिल्कुल न था। प्रशस्त गवाक्षों से दूर तक फैले हुए हरे-हरे लान और मोरपंखी के पौधों की कतारें एक अजीब दृश्य उपस्थित करती थीं। प्रांगण में जो बड़े-बड़े लाल और सफेद गुलाब क्यारियों में फूले थे, उन्हें चारों ओर से घेर कर रंगीन फव्वारे इन्द्र-धनुष के भू-अवतरण का समां बाँध रहे थे। कक्ष में जो ताजा जूही, चंपा, चमेली और हारसिंगार के फूलों के तोरण और गुच्छ सजाए गए थे, उन की महक चन्दन, अगरू, केसर और कस्तूरी की धूप-गन्ध से मिल कर मनुष्य की चेतना को उन्मत्त कर रही थी। प्रभातकालीन मलय मारुत मंद-मंद बह रही थी। सामने ही सरोवर का भव्य दृश्य था, जिस पर सारस, चकोर, हंस कलरव कर रहे थे।

कुवरी ने सादा केसरी साड़ी पर चांपानेरी चूनरी लपेट ली थी। उन के मेंहदी-चित्रित हाथों में लाख का नवीन चूड़ा और मस्तक पर सौभाग्य-बिन्दु उन की सुषमा को चार चाँद लगा रहा था। इस समय उन के शरीर पर दो-चार गहने थे और उनका मुँह विषाद से भरा हुआ था। पहले ही कह चुकी हूँ कि उन का रंग गोरा न था। पर इस समय जो गरिमा उन के मुखमण्डल और अंग में थी, उस से वह महामहिमामयी महारानी-सी दीख रही थीं। मैं जलमुंही, जिसे रूप का बड़ा घमण्ड था, इस रूप पर भारी जोड़ा सजा कर ठसक से वहाँ पहुँची थी। कुंवरी का वह गरिमामय सादा स्वरूप देख मैं लाज में गड़ गई। मैं ने देख लिया—लाख रूप हो, लाख शृंगार, मैं गोली हूँ, दासी हूँ, चाकर हूँ, जन्मजात गुलाम हूँ। मेरा यह रूप मुलम्मे का रूप है। यह साज-शृंगार किराए

का है। ऊपर से लादा हुआ है। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे अभी-अभी मेरा कलेजा फट जाएगा। मुझे जैसे अपनी सुध ही नहीं रही। मैं अन्धी की तरह दौड़ कर कुंवरी के चरणों में 'घणी खम्मा अन्नदाता' कहती हुई भूमि पर गिर गई और दोनों हाथों से उन के चरण पकड़ लिए।

मैं ने अपने हाथों पर उन के शीतल हाथों का स्पर्श अनुभव किया। मैं ने यह भी जाना कि उनके हाथ काँप रहे हैं। केसर ने मुझे सहारा दे कर उठाया। आँसुओं की धारा मेरे नेत्रों से बह रही थी। जैसे मैं मर रही हूँ, ऐसा मुझे लग रहा था। सारी दुनिया मेरे चारों ओर जैसे लट्टू की भाँति घूम रही थी। हिचकियाँ लेते हुए मेरे होंठों ही में टूटे-फूटे शब्दों में निकला—'घणी खम्मा अन्नदाता' और मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे महाकाल रात्रि का अन्धकार चारों ओर से घिरा चला आ रहा है। कुछ ही क्षणों में मेरे कान और नेत्र निकम्मे हो गए। मैं मूर्च्छित हो कर गिर गई।

नहीं कह सकती, कब तक। परन्तु जब आँखें खुलीं तब मैं ने देखा, मैं कुंवरानी के सुनहरी छपरखट पर मखमली गद्दे पर पड़ी हूँ और कुंवरानी मेरे ऊपर झुकी धीरे-धीरे अपने हाथों में चंदन के बीजने से हवा कर रही हैं। ज्यों ही मैं ने आँखें खोलीं, कुंवरानी के ये शब्द मेरे कानों में पड़े—"चम्पा, मेरी बहन! तुझे क्या हो गया है? कैसा जी है तेरा?"

अब मैं ने उनके मुँह की ओर देखा। आँखें उन की सूज कर फूल गई थीं और वे लाल गुड़हल का फूल हो रही थीं। आँसू उन में न थे। सूनी दृष्टि थी। सूखे होंठ और पीला मुख। तत्क्षण ही मेरी दृष्टि कक्ष में चारों ओर घूम गई। छोटा-सा ही कक्ष था, पर सब नीचे से ऊपर तक सुनहरी काम से सजा हुआ। फर्श पर सुर्ख मखमली गद्दा, द्वार पर पीली साटन के पर्दे और चाँदी का छपरखट। तत्क्षण ही मैं ने समझ लिया कि मैं कुंवरी की राज-सेज पर पौढ़ी हूँ। मैं हड़बड़ा कर उठने लगी, पर कुंवरी ने मुझे दोनों हाथों से पकड़ कर कहा—"अभी सोती

रह, तेरा जी ठिकाने नहीं है।"

पर मैं उछल कर फर्श पर आ गिरी। मैं ने कहा—"मैं अच्छी हूँ अन्नदाता! यह आप ने क्या किया? अपनी राज-सेज पर···।" मैं आँसुओं की बौछार छोड़ती हुई कुंवरी की लाल-लाल फूली और सूजी हुई आँखों की ओर देखने लगी, जिस प्रकार आँखों में करुणा भर कर जैसे वध-क्षण पर वध्य-पशु देखता है। पर कुंवरी ने वहीं फर्श पर बैठ कर मुझे अंक में भर लिया और शाँत, स्थिर, मंद स्वर में कहा—"चम्पा बहन, तुझे तो विधाता ने मेरी सेज का भागीदार बना दिया है। अब इन बातों में क्या है? फिर तू मेरी बहन ही तो है, न दाता ने न मा ने ही हम दोनों में कुछ अन्तर समझा। और मुझे तो तू सदा से ही प्राणों से अधिक प्रिय रही है। अच्छा ही है कि अब जीवन भर का गठजोड़ हो गया, बहन! पर मैं तुझ जैसी समझदार नहीं हूँ, मूर्खा हूँ, भीरु हूँ, फिर रोगी भी रहती हूँ। इस लिए अब तो मेरा सब से बड़ा सहारा तू ही है। बचपन जैसे हिलमिल कर बीता, वैसे ही जवानी की यह अन्धी दुनिया भी बीत जाएगी, बहन! तू ने जैसे बचपन में मुझे सहारा दिया है, अब भी देती चलना और समझना हम-तुम दो नहीं हैं, एक हैं। एक प्राण दो शरीर।"

इतना कह कर कुंवरी ने मुझे कस कर अंक में भर लिया और वह बार-बार मेरा आँसुओं से भीगा मुँह चूमने लगीं। पर मैं ने पागल की भाँति उन के चरण दोनों हाथों में कस कर पकड़ लिए और अपने होंठ उन पर रख दिए। मैं ने सिर उन के चरणों पर धुनते हुए कहा—"नहीं, नहीं; अन्नदाता, मैं आप के बराबर नहीं। आपश्री की चाकर-गोली-बाँदी हूँ महारानी! मैं आपके चरणों की इस कनी उंगली के नाखून की बराबरी भी नहीं कर सकती। अन्नदाता, मेरी तकसीर माफ करना। माई-बाप, मेरा अपराध नहीं है, अपनी कृपा और सेवा से मुझे दूर न करना, दुहाई महारानी जी की।"

"तू पागल है, ऐसी बातें क्यों करती है भला? अरी पगली, मैं तो

वही तेरी बहन कुंवरी हूँ। हमारी मा दो हैं, पर पिता एक हैं। और अब तो इस सौभाग्य-सेज ने हम दोनों को ही एक बना दिया है।" इतना कह कर कुंवरी भी अपनी आँखों से झर-झर गंगा-यमुना की धार बहाने लगीं। अब तक तो उन की लाल-लाल गुल्लाला बनी, फूली सूजी हुई आँखें सूनी, सूखी थीं। अब उन से यों गंगा-यमुना की धार बहती देख मेरे प्राण व्याकुल हो उठे। मैं अधीर हो कर रुदन करने लगी। बरसाती नदी की धारा की भाँति मेरे आँसू बह चले। हम दोनों की ही वाणी अब जड़ हो गई और हम परस्पर एक-दूसरे के आलिंगन में बद्ध चुपचाप रुदन करने लगीं। ऐसा रुदन, जिस का ओर-छोर न था, आदि-अन्त न था। न जाने कितना विषाद, कितना कलुष, कितना मलिन-मात्सर्य उन आँसुओं के साथ बह गया। मैं तो सचमुच ही अपने को भूल गई। प्यार की पीर ने जैसे मेरे प्रत्येक रक्त-बिन्दु को आक्रान्त कर लिया। और मै जैसे कुंवरी को अपने अंग में समेटती हुई उन्हें खूब जोर से आलिंगन-पाश में बाँध बदहवास हो गई। प्यार का इतना आवेग, इतना ज्वार मैं ने जीवन में आज से पहले कभी नहीं देखा था। और कुंवरी भी जैसे अपने रोम-रोम को मुझे समर्पित कर अवसन्न हो गई।

न जाने कब तक हम दोनों भाग्य-विदग्धा नारियाँ यों युगबद्ध मूक मौन पड़ी रहीं। अब तो हम दोनों अपने आप को एक-दूसरे को दे चुकी थीं। हम दोनों दो शरीर एक प्राण हो चुकी थीं। कभी काहे को इस प्रकार संसार में दो नारियाँ एक हुई होंगी !

केसर की शब्द-ध्वनि मेरे कान में पड़ी। "उठिए अन्नदाता, उठ चम्पा", वह कह रही थी। उस ने हाथ का सहारा दे कर मुझे उठाया, फिर हम दोनों ने कुंवरी को पलंग पर लिटाया। केसर ने झारी से पानी ले कर कुंवरी को पिलाया। आँख और मुँह धुलवाया। मेरा भी मुख-मार्जन किया। फिर पान के दो बीड़े जबर्दस्ती उस ने कुंवरी के मुँह में भर कर कहा—"आप तनिक आराम कर लें महारानी।" वह चुपचाप पायताने बैठ उन के पाँव दबाने लगी और मैं भी उन का सिर गोद में

ले कर बैठ गई और सिर सहलाने लगी। कुंवरी आँख बन्द किए चुप-चाप मेरे अंक में पड़ी रहीं। धीरे-धीरे उन्हें नींद आ गई। वह सो गईं। उन के श्रान्त-क्लान्त शरीर को तनिक आराम मिला। केसर धीरे से उठी। संकेत से उस ने मुझे भी उठाया। एक हल्का शाल उन के अंग पर डाल, मेरा हाथ थाम वह कक्ष से बाहर निकली। जैसे चतुर नाव का खिवैया यत्नपूर्वक भंवर से नाव को निकाल कर तीर पर ले जाता है, उसी प्रकार केसर मुझे मेरे डेरे पर ले चली। जैसे मैं उसी के पैरों पर चल रही थी। जैसे मेरा अपना शरीर था ही नहीं। मैं थी ही नहीं। अब भी मैं ऐसा अनुभव कर रही थी, जैसे सशरीर कुंवरी में रम गई हूँ, उन से पृथक् मैं अब कुछ रही ही नहीं हूँ। योग-सिद्ध पुरुष जिस तादात्म्य का वर्णन करते हैं वैसा ही तादात्म्य जैसे कुंवरी के साथ मेरा हो गया था।

: १५ :

# जब मैं नहा कर निकली

महल में ले जा कर केसर ने मुझे छपरखट पर लिटा दिया। चारों ओर तकिए लगा एक शाल मेरे अंग पर लपेट, मेरे माथे का चुम्बन कर के धीरे से कहा—"अब तू जरा-सी झपकी ले ले चम्पा, इस से तेरा जी हल्का हो जायगा। काँसा आने में अभी देर है। मैं तब तक कुंवरी के पास और एक बार हो आती हूँ। मुझे वहाँ देर भी हो जाय तो तू चिन्ता न करना। आज कुंवरी की सुहाग-रात है, रंगमहल में जल्सा होगा, तब तुझे भी चलना होगा। देर तक जागना पड़ेगा। इस से अभी आराम कर लेना अच्छा होगा।" इतना कह और एक बार फिर मेरे मस्तक पर अपना प्रेम-चुम्बन अंकित कर केसर मेरे शयन-कक्ष से बाहर चली गई। मैं अपनी उस सुख-सेज पर नर्म-गर्म गद्दे और तकियों के कोमल सुख-स्पर्श और खिड़कियों तथा पुष्पाधारों में रखे ताजे फूलों के गुलदस्तों की भीनी महक में आनन्दावेशित-सी हो आँख बन्द कर पड़ गई। कब मुझे गहरी निद्रा ने अपने अंक में समेट लिया, इस का मुझे कुछ पता ही न लगा।

जब मेरी आँख खुली तब मेरे महल की प्रधान दासी हाथ बाँधे आगे आई और हाथ बाँधे ही बाँधे उस ने अर्ज किया—"अटाले के लोग काँसा

लिए हाजिर हैं। काँसा आरोगिए राज।" मेरा जी हल्का था और इस समय भूख भी मुझे लग रही थी। मैं उठ कर चुपचाप दासी के पीछे-पीछे चल दी। दासी ने झारी से पानी ले कर हाथ-मुँह धुलवाया। चौकी बिछाई। अटाले के ब्राह्मणों की लम्बी पंक्ति नंगे बदन स्वच्छ जनेऊ पहने विविध खाद्य भोज्यों को लिए आ उपस्थित हुई। उन के आगे-आगे एक लम्बी चोटी वाला ब्राह्मण गंगा-पात्र से जल भूमि पर छिड़कता आ रहा था। मैं चुपचाप चौकी पर बैठ गई। विविध पक्वान्नों के भरे थालों में से परोसगारी आरम्भ हुई। बहुत कुछ परोसा गया, पर

मैं ने खाया बहुत कम। जब मैं ने खाने से हाथ खींचा, अटाले के प्रधान ने विनम्र स्वर में कहा—"भूल-चूक क्षमा हो, रसोई जैसी भली-बुरी बनी, हाजिर की गई।" मैं ने मुसकरा कर कहा—"नहीं, बहुत अच्छी रसोई बनी।" अटाले के लोग जब चले गए तब मैं फिर शयन-कक्ष में आ कर सो गई। प्रधान दासी ने पानों का भरा डिब्बा और शीतल जल से भरी चाँदी की झारी पलंग के पास चौकी पर रखी। एक स्वच्छ तौलिया भी मेरे सिरहाने रख दिया और दो बीड़ा पान देते हुए विनम्र स्वर में कहा, "मैं आप के इस महल की दासी आप की सेवा में नियुक्त हूँ। मेरी सहायता के लिए चार दासियाँ और दो सेवक और भी आप-श्री की सेवा में नियुक्त हैं। मेरा नाम कामिनी है, मेरे लिए जो आज्ञा हो वह बजा लाऊँ।" मैं ने हँस कर उस के हाथों से बीड़ा लिया और कहा—"कामिनीबाई, अभी मैं आराम करूँगी। मेरे आराम में खलल न करना। केसर जब भी आए उसे यहाँ भेज देना। अब तुम लोग भी आराम कर सकती हो। अभी तो मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है।" कामिनी और एक बार कक्ष के चारों ओर देख कर चली गई। जाते समय उस ने द्वार के पर्दे को ठीक किया और मैं चुपचाप आँखें बन्द किए अपने भाग्य पर विचार करने लगी। मैं नहीं जानती थी कि आगे कैसे दिन देखने पड़ेंगे। कितना सुख-दुःख सहन करना होगा। अब तो मेरी आशा की डोर केवल केसर थी; जो सदैव धीर, शान्त, स्थिर और कर्तव्य-तत्पर रहती थी। केसर और कुंवरी के सम्बन्ध में मैं बहुत देर तक सोचती रही और फिर एकाएक मेरी विचार-धारा अपने अतीत बाल-जीवन पर गई। अपनी मा और दाता के प्यार की बहुत-बहुत बातें याद करती-करती अन्त में मैं फिर सो गई।

नींद की खुमारी अभी मेरी आँखों में भरी थी। जी मेरा हल्का था, परन्तु शरीर निढाल था। पलंग से उठने को मन नहीं होता था। मैं आँखें बन्द किए, नर्म-गर्म बिछौने पर तकियों को छाती के नीचे दबाए चुपचाप पड़ी थी। मैं सो नहीं रही थी, पर एक सुखद स्वप्न-सा नींद की उस

खुमारी में जैसे मन को पराभूत किए हुए था। कमरे में ताजा फूलों की सुवास भरी थी और एक आनन्द की मस्ती से मेरा मन प्रफुल्ल था। पर मैं उठना, हिलना-डोलना नहीं चाहती थी। चुपचाप आँखें बन्द किए तकिए पर छाती का भार डाले पड़ी रहने में मुझे बड़ा आराम मिल रहा था।

जब केसर ने आ कर कहा—"उठ चम्पा, दिन ढल गया," तब भी मैं ने आँखें नहीं खोलीं। पर केसर ने उस की प्रतीक्षा नहीं की। झारी से शीतल जल का गिलास भरकर तनिक मेरा सिर ऊपर उठा अपनी गोद में बिठाते हुए गिलास मेरे होंठों से लगा दिया। ओह, कैसी प्यारी थी मेरी केसर, वह मुझे कितना प्यार करती थी। उस ने मुझे कितना सहारा दिया। जब याद करती हूँ मेरा रोम-रोम केसर की स्मृति से पुलकित हो जाता है। उस के बिछुड़ने से तो मेरी दुनिया सूनी ही हो गई, और फिर तो सूनी होती ही चली गई। केसर मेरे जीवन का तरल भाग थी।

शीतल जल से जैसे मेरे प्राण शीतल हो गए। मैं ने अपने दोनों हाथ उस के कण्ठ में डाल कर आँखें खोल दीं। उस ने मेरे कपोल चूमे। फिर स्निग्ध कण्ठ से कहा—"उठ, जरा उबटना लगा दूं। फिर नहाते पोशाक बदलते साँझ हो जाएगी।"

मैं ने कहा—"आज अभी उबटना लगाने की क्या बात है। मैं तो अभी और सोना चाहती हूँ। आ तू भी यहीं सो जा।" मैं ने उसे अपनी ओर खींच लिया, परन्तु तनिक हंस कर उस ने कहा—"बड़ी मौज में हो रानीजी, पर हमें रंगमहल चलना है, बाईजीराज की चाकरी में। वहाँ सुहाग-रात का जल्सा सज रहा है। उठो, अब देखो तो वहाँ का क्या रंग है। जल्द यहाँ भी रंग रचाना होगा।" उस ने भेद-भरी नजर से मेरी ओर देखा। मैं सिहर उठी। हाथ मेरे शिथिल हो गए। देर तक मैं केसर के मुंह की ओर देखती रही। फिर उठ कर बैठ गई।

केसर ने अपने हाथों से मेरे अंग पर सुगन्धित उबटन लगाया। दो दासियों ने झटपट गर्म पानी, साबुन, अंगोछा, शम्पू और दूसरे आवश्यक सामान मेरे स्नानागार में सजा दिए। और मैं फिर उसी सुखद गुनगुने

जल से भरे हौज में छपाक से जा पड़ी, जहाँ मजेदार शाही स्नान का आनन्द में सुबह इस महल में आते ही ले चुकी थी। इस महल में मेरा यह पहला ही दिन था और वह भी अभी पूरा बीता नहीं था; पर इसी बीच सुख और आनन्द की जो अनुभूति मैं प्राप्त कर चुकी थी, कदाचित् दूसरी बहुत स्त्रियां उतने सुख और आनन्द को जीवन भर भी नहीं प्राप्त कर सकती होंगी।

बहुत देर तक मै मछली की भाँति जलक्रीड़ा करती रही। भूल गई मैं सारी गत-आगत बातों को। मैं खूब ठाट से नहाई। हौज से निकल कर मैं कद्दे आदम आईने के सामने खड़ी हो गई। तपाए सोने के रंग की मेरी अनावृत देह से मोतियों की लड़ की भाँति झर-झर कर पानी की बूंदें संगमर्मर के फर्श पर टपक रही थीं। मेरा सम्पूर्ण जागृत यौवन मुझे ही लुभा रहा था। लटकती मेरी केश-राशि से टपकते जलबिन्दु ऐसे प्रतीत हो रहे थे, जैसे नागिन मोती उगल रही हो। देर तक मै अपना उन्मुख अंग-सौष्ठव निहारती रही। मैं ही मेरी दृष्टा थी। दूसरा कौन देखने-सराहने वाला था। मेरे नेत्र आनन्द से खिल उठे, होंठ गर्व से फूल उठे। मैं ने एक अंगड़ाई ली और एक बड़ा-सा नर्म तौलिया लापरवाही से अंग पर लपेट लिया। अलस-भाव से मैं शृंगार-कक्ष में आई, जहाँ केसर दोनों दासियों के साथ मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। एक और नया आदमी भी वहाँ हाजिर था। उज्ज्वल श्यामल वर्ण, कोई उन्नीस वर्ष का उठान भरा तरुण। भुजदण्डों पर मछलियां उभरी हुईं, सुडौल नाक-नक्शा। पानीदार गहरी काली आँखें, सिर पर केसरी पाग, अंग पर सादा मिरजई, विशाल वक्ष और केहरी-सी कमर। तनिक मोटे किन्तु सरस होंठ, जिन में मोती की लड़ी के समान उज्ज्वल सम-दन्तपंक्ति। उस ने किंचित मुसकरा कर दोनों हाथ जोड़ मुझे प्रणाम किया। यद्यपि बड़ तौलिए से मेरी देह लिपटी हुई थी, तथापि वस्त्र-परिधान मैं ने कुछ नहीं किया था, इस लिए इस नए पुरुष को देख कर मैं लजा गई। वैसे भी न जाने कहाँ, मन के भीतरी पर्दे में वह अजान तरुण उस प्रथम क्षण में ही घर कर

बैठा। प्रणाम का उत्तर तक देते मुझ से न बना। मैं ने कुछ लज्जा, कुछ अर्थभरी दृष्टि से केसर की ओर देखा। परन्तु उस तरुण ने करबद्ध हो कहा—"मैं किसुन हूँ सरकार ! दरबार की मर्जी हुई है, यह सिरोपा भेजा है और मैं भी आज से आप की खिजमत में हाजिर हूँ।" अब मेरी दृष्टि चौकी पर रखे वस्त्र-आच्छादित खानों पर गई। उस ने धीरे से आगे बढ़ कर उस पर से वस्त्र उठाया। बहुमूल्य पोशाकें थीं। जड़ाऊ जेवर थे। इत्र की शीशियां थीं। और भी बहुत-से शृंगार-द्रव्य थे। दरबार से जोड़ा इनाम तो मैं पहले भी पा चुकी थी। मेरे जीवन में वे भी अद्वितीय थे। पर उस की इस भारी जोड़े से कोई समता नहीं थी। ये पोशाकें तो बहुत मूल्यवान थीं। उन पर मोती टंक रहे थे और जरी-किनार कारचोबी का काम हो रहा था। सभी पोशाकें जरवफ्त और कमखाब की थीं, जो सोने-चाँदी के तारों से बुनी हुई थीं। मखमली बक्सों में जड़ाऊ जेवर थे, जो सूर्य की अस्तंगत किरणों के माध्यम प्रकाश में जगमग-जगमग चमक रहे थे। किसुन ने एक-एक कर के सब बक्स खोल कर करीने से सजा दिए। मुसकरा कर मेरी ओर देखा और कहा—"मैं बाहर ड्योढ़ी पर हाजिर हूँ। सरकार पोशाक धारण करें। मेरी खिजमत की जरूरत हो तो बुला लें।" इतना कह हाथ जोड़ प्रणाम कर वह मेरे शृंगारकक्ष से बाहर चला गया। मैं भौंचक-सी, ठगी-सी केसर को ताकती रह गई। अब सच ही कह दूँ, यह किसुन तो अनजानते ही मेरा मन हर ले गया था। एक ऐसी पीर, ऐसी हूक दे गया था, जिस का अभी तक मुझे कुछ भी ज्ञान-भान न था। बौखलाई-सी मैं एक कुर्सी पर धम से बैठ गई। धड़कते हुए दिल को मैं ने दोनों हाथों से दबा लिया।

: १६ :

# पहली रात

क्यों जी कहीं रूप को भी सजाया जाता है ? चाँद को भी नहलाया जाता है ? तारों को भी चमकाया जाता है ? आकाश को भी रंगा जाता है ? पर केसर ने तो यही किया। यह जला रूप, जो विधाता ने दिया, देखने वालों को जलाने लगा। एक-एक कर केसर ने वही पोशाक मुझे धारण कराई। जल गई चोली तो ऐसे फिट बैठी जैसे मेरे अंग के साथ ही बनी हो। उस के आसमानी धरातल पर जड़े रत्न, किनारी और सल्में के बाँक बिजली के प्रकाश में ऐसे चमक रहे थे, जैसे उज्ज्वल नीलाकाश में तारे। फिर उस ने वह भारी जोड़ा मुझे पहनाया। आभूषण भी धारण कराए। उस पोशाक-रत्नाभरण को धारण कर जब मैं कद्दे आदम आईने के सामने जा कर खड़ी हुई, तब अपनी ही चकाचौंध से मेरी आँखें बन्द हो गईं। अपने ही रूप को मैं न पहचान सकी। अपने ही रूप के सजाव में मैं आ गई। केसर ने हंस कर कहा—"यह क्या वीणाधारिणी सरस्वती माता की वाहन राजहंसी ने मानव-रूप धारण किया है ? या साक्षात् वसन्त ऋतु ने मोहिनी रूप बनाया है ?" केसर की बात पर बाँदियाँ भी मुसकरा दीं। केसर स्प्रे से मेरे ऊपर तरल सुगन्धों की बौछार कर रही थी और प्रधान बाँदी बड़ी बारीकी से यह

दख रहो थी कि शृगार-परिधान में कहीं कोई कमी तो नहीं है। हठात मेरे मन में एक अभिलाषा उत्पन्न हुई। मेरा मन हुआ, वह अभी का आया हुआ तरुण किसुन भी जरा आ कर इस रूप को देख ले, तो अच्छा हो। यह विचार मन में आते ही मेरे गाल लाल हो गए और मेरी

हथेलियाँ गर्म हो उठीं। इसी समय अबाध रूप से किसुन भीतर आया, क्षण भर उस ने मेरे रूप को निहारा, आँखें नीची कीं और कहा—"सवारी के लिए सुखपाल हाजिर करूं या तामजाम। जैसी मर्जी सरकार की हो।"

वह स्वर सुनते ही मेरा मन हुलस उठा। ऐसा लगा जैसे मेरा शृंगार सफल हो गया पर मुझ से जवाब देते न बना। मैं ने हड़बड़ा कर केसर की ओर देखा। केसर ने कहा—"सुखपाल ही मंगा लो।"

किसुन चला गया। और तनिक ठहरता तो क्या कुछ हरज था? मैं ने सोचा और तभी मुझे अचानक याद आया, वह मेरी ही खिजमत में है। जैसे मेरे दिल की कली खिल गई। मैं ने केसर से कहा—"सुखपाल की क्या जरूरत थी। जैसे सुबह गए थे, वैसे ही पैदल न चले चलेंगे। सामने ही तो रंगमहल है।"

केसर ने जवाब नहीं दिया, केवल तनिक मुसकरा दिया। परन्तु इसी क्षण किसुन फिर आ गया। उस के हाथ में दारू की बोतल थी। मेरी ओर उस ने नहीं देखा। उस ने दारू की वह बोतल केसर को थमाते हुए साभिप्राय दृष्टि से उस की आँखों में देखा। वह तुरन्त बाहर चला गया। केसर ने गिलास में डालते हुए कहा—"थोड़ी पी लो।"

मैं नहीं न कह सकी, पर मद से काँप गई। आखिर यह सब हो क्या रहा है? दारू मैं ने पी ली। दासी ने दो बीड़ा पान मुझे दिए। पान खा कर मैं ने कहा—"तो फिर अब चला जाए?"

किसुन ने आ कर सूचना दी—"सुखपाल हाजिर है।" और मैं सुखपाल पर बैठी। केसर मेरे सुखपाल के आगे, दोनों दासियाँ अगल-बगल और किसुन पीछे चला। चलती वेला केसर ने मेरी प्रधान दासी से मन्द स्वर में कहा—"सब ठीक-ठाक रखना यहाँ।" दासी ने न जाने केसर के किस संकेत का क्या अर्थ समझा, उस ने केवल हंस कर सिर झुका लिया।

रंगमहल की आज की शोभा की उपमा किस सुषमा से दी जाए? बिजली की सहस्रों बत्तियों से वह भव्य भवन जगमग-जगमग कर रहा

था। बिजली के लट्टुओं के रंग-बिरंगे चक्र ऊंची अटारियों पर घूम रहे थे। नजरबाग और बाहरी प्रांगण में जो वृक्ष और पौधे थे, वे सब रंग-बिरंगे बिजली के बल्बों से लदे थे, जो चमकते हुए सितारों या फलों-जैसे लगते थे। फव्वारे रंगीन पानी उछाल रहे थे और नकली जलाशयों से निकली हुई कृत्रिम सहस्र धाराओं के भीतर छिपी हुई बिजली अनोखी छटा दिखा रही थी। सारा रंगमहल जैसे एक जादू का आलोकित भवन दीख रहा था। ठौर-ठौर पर देशी और विलायती बाजे अपनी-अपनी धुन में बज रहे थे। सिंह पौर पर नौबत झड़ रही थी। ऐसा तो मैं ने कहीं कभी देखा ही नहीं था। हमारे दाता के गाँव में बिजली कहाँ थी? केवल हवेली में थोड़ी बैटरियाँ लगा कर बिजली की व्यवस्था की गई थी। परन्तु यहाँ तो इन्द्रभवन का समां बँधा था। ठौर-ठौर पर नाचने-गाने की भी अनेक मजलिसें जुड़ी थीं, जहाँ देश-देश के कलावन्त गवैए और रूप-उजागरी वेश्याएं—ढाढ़िनें कंचनियाँ भाँति-भाँति के संगीतों का प्रवाह बहा रही थीं। कहीं की ठमक, कहीं तबले की गमक, कहीं ख्याल टप्पे की ललक और कहीं नाच की छमाछम बहार! अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्त्री-पुरुष अपना मनोरंजन कर रहे थे। खा-पी रहे थे। पान कचर रहे थे। हँस-हँस कर गप्पे लड़ा रहे थे और महाराज तथा नई रानी की जय-जयकार कर रहे थे।

कुंवरी के खास कक्ष में महफिल जमी थी। एक छोटा-सा कारचोबी के काम का मखमली चंदोवा चाँदी के खम्भों पर तना था, जिस के बीचो-बीच गिलम-गलीचों पर मसनद के सहारे कुंवरी विराजमान थीं। आज उन के शृंगार का क्या कहना था? सारा ही शृंगार हीरे-मोतियों का था। बड़े-बड़े मोतियों की अमंद आभा उस उज्ज्वल आलोक में बड़ी मनोरम लग रही थी। उन के हीरे के कुण्डल, कण्ठहार, पन्ने करधनी और नीलम की पहुँचियों पर जब बिजली की रोशनी पड़ती थी, तब सचमुच ऐसा लगता था जैसे क्षण-क्षण पर बिजली ही कौंध रही हो। उन की पोशाक भी बहुत भारी थी। सुना था अस्सी हजार रुपयों में वह

जोड़ा दिल्ली के कारीगरों ने तैयार किया था। उन के अंग पर इस समय लाखों रुपयों के रत्न सुशोभित थे। उन सब रत्नाभरणों से लदी-फदी कुँवरी अपना सदा का अलस शरीर मसनद पर ढुलकाए पड़ी पान कचर रही थीं। ढाढ़िनें वहाँ माँड़ गा रही थीं—

बेगी आओ जा,
म्हारा ढोला, बेगी आओ जी।
गिनते-गिनते रह गई—म्हारी अंगुलियाँ री रेख,
ढोला, बेगी आओ जी।

महाराज अभी तक महलों में नहीं पधारे थे। बाहर भी मर्दानी महफिल जमी थी। कई दासियाँ उन्हें बुलाने जा चुकी थीं, महाराज उठते ही न थे। मैं ने जा कर आंचल आँखों पर लगा कर कुँवरी को जुहार की। मुझे सिर से पैर तक क्षण भर कुँवरी ने देखा। उन के चेहरे का हास्य क्षण भर को जैसे उड़ गया, दासी बांदियाँ भी क्षण भर के लिए अवाक् हो कर मेरी ओर ताकने लगीं। क्यों न ताकती भला ! यह जला रूप ही ऐसा था ; पर मैं तो लाज-संकोच से सिकुड़ी जा रही थी। पर मेरे रूप की जो दुपहरी चढ़ी थी, उस ने कुवरी की सारी ही शान को फीका कर दिया था। कहाँ मेरा रूप, जैसे चटक चांदनी में खिली चमेली। और कहाँ कुँवरी का शृंगार, जैसे पानी से भरे बादलों में बिजली की झलक। दासी पर दासियाँ महाराज को बुलाने जा रही थीं। वे सभी आ कर एक ही उत्तर देतीं—"आते हैं, आते हैं", पर महाराज आते कहाँ हैं ? एक दासी ने इतने ही में आ कर अर्ज की—"अन्नदाता, वहाँ तो दारूड़ो दाखां रो चल रहा है।" और वह हंस की ढाढ़िनें झट दारूड़ो दाखाँ रो गाने लगीं—

भर लाए सुघड़ कलाली।
दारूड़ो दाखाँ रो।
पीवन वारो लाखाँ रो।
भर लाए सुघड़ कलाली।

दारू पीओ साजना, राता राखो नेण ।
बैरी थारा जल मरे सुख पावे ला चेण ।
दारूड़ो दाखाँ रो ।
दारू दिल्ली आगरो, दारू बीकानेर ।
दारू पीओ साहिबा, सौ रुपयाँ रो फेर ।
दारूड़ो दाखाँ रो ।

अब आधी रात बीत रही थी। कुंवरी ने बेचैनी से इधर-उधर देखा। मैं निकट ही खड़ी थी। उन्हों ने मेरी ओर देख कर कहा—"तू जा चम्पा, उन्हें ले आ।" न जाने कुंवरी को यह क्या सूझा ! सुन कर मेरे अंग पसीने से भर गए। मैं ने घबरा कर केसर की ओर देखा। केसर ने कहा—"मैं जाऊँ, अन्नदाता ! वहाँ बाहर की महफिल में इस का जाना क्या ठीक होगा !" कुंवरी को भी जैसे जिद हो गई, उन की भृकुटी में बल पड़ गये। सदा से ही यह उन की आदत थी। मर्जी के खिलाफ तो वह कुछ बर्दाश्त ही नहीं कर सकती थीं। उन्हों ने कहा—"नहीं, चम्पा ही जाय।" मुझे जाना ही पड़ा। पर मेरे पैर नहीं उठ रहे थे। फिर इस रूप को, शृंगार को ले कर भला मैं कहाँ जाऊँ ! कभी मैं बाहर मर्दाने में गई नहीं। पर राजाज्ञा हुई सो ठीक। शृंगार और रूप से क्या ? अन्ततः गोली हूँ, चाकर हूँ, गुलाम हूँ। शृंगार और रूप है तो क्या मैं महारानी बन जाऊँगी ? धीरे-धीरे मैं चली। मेरे पीछे केसर भी। केसर ने कान में कहा—"मैं तेरे साथ ही हूँ, तू जा कर अरदास कर—अन्नदाता, महलाँ पधारो।"

वहाँ महफिल जुड़ी थी। वेश्याएं आलाप ले रही थीं। एक कोई रूप-उजागरी छप्पन-छुरी पंचम में तान आलाप कर गा रही थी—

मद छकिया महाराज, थाने किण पिलाई दारूड़ो ।
बोले नी दारूरा मारू, पूछे थारी मारूड़ो ॥
दारूड़ो दाखाँ रो ।

शराब के दौर चल रहे थे। अन्नदाता जाम पर जाम चढ़ा रहे थे।

वह बहुत पी चुके थे। और भी पीते जाते थे। हाथ में उन के गिलास था, जिस में खरहे के खून की भाँति एकदम तेज लाल रंग की शराब भरी थी। आँखें उन की शराब से लाल हो रही थीं। चेहरे पर मूँछें चढ़ी थीं। वह हल्के गुलाबी रंग की पोशाक पहने थे। गले में उन के बड़े-बड़े पन्नों का एक कण्ठा पड़ा था। मैं ने सहमते-सहमते निकट जा कर जुहार की और कहा—"महलाँ पधारो महाराज हो।"

महाराज ने मेरी ओर देखा और जाम से भरा हुआ हाथ मेरी ओर बढ़ा दिया। क्षण भर मेरी नजर केसर की ओर घूमी। वह एक खम्भे से चिपकी खड़ी थी। मैं ने महाराज की बाँह थाम ली। मेरा सहारा ले वह उठ खड़े हुए। पर उन के पैर लड़खड़ाने लगे। उन्हों ने अपने सारे ही शरीर का बोझ मेरे कन्धे पर डाल दिया। उन का भारी बोझ सम्हालना मेरे लिए दूभर हो रहा था। उन्हों ने अस्पष्ट शब्दों में कुछ कहा। मैं समझी ही नहीं।

शराब का जाम अब भी उन के हाथ में था। परन्तु यह क्या ? वह रंगमहल की ओर न बढ़ कर मेरे महल की ओर चलने लगे, मेरे कन्धे पर झुके हुए। मुझे ऐसा लग रहा था कि वह अभी लड़खड़ा कर गिर पड़ेंगे। उन्हें सम्हालते हुए मैं ने कहा—"उधर अन्नदाता, रंगमहल की पौर उधर है।"

"रहने दे, तू चली चल।' और वह जैसे मुझे ही धकेल ले चले। उन के बोझ से मैं गिरी जा रही थी। इसी समय आगे बढ़ कर केसर ने उन का दूसरा हाथ थाम अपने कन्धे पर रख लिया। अब एक ओर मे केसर और दूसरी ओर से मैं उन का भार अपने पर लादे हुए हम महल की ओर चल रहे थे। रंगमहल की रंगीनी और गायन का शोरगुल पीछे रह गया। हम अपने महल की पौर पर जा पहुँचे। किसुन ड्योढ़ियों पर हाजिर था। केसर ने उसे संकेत किया। उस ने अन्नदाता को देख, झपट कर जाजम पर चाँदनी बिछा दी। मसनद लगा दी। अन्नदाता मसनद पर विराजमान हो गये। हाथ पकड़ कर उन्हों ने मुझे पास बैठा लिया। केसर दारू ले आई और मैं ने दारू डाल कर काँपते हाथों उन्हें दी। केसर के संकेत से एक बाँदी दौड़ी गई, ढाढ़िनों को बुला लाई। इस बीच किसुन ने चंदोवा तान दिया। ढाढ़िनें आ कर केसर के संकेत से 'दारूड़ो दाखाँ रो' गाने लगीं। महाराज ने जाम पी कर गले की मोतियों की माल केसर पर फेंक दी और पैर फैला दिए। केसर ने मेरी ओर साभिप्राय दृष्टि से देखा। महाराज अब वास्तव में अर्द्ध चेतनावस्था में थे। मैं ने केसर का अभिप्राय समझ लिया। मैं उठ खड़ी हुई। पर मेरा कलेजा काँप रहा था। हे भगवान्, यह हो क्या रहा है ! किसुन और केसर ने उन्हें दोनों ओर से पकड़ कर उठाया। केसर ने साहस कर उन के कान के पास मुँह ले जा कर कहा—"अन्नदाता रंगमहल में पधारें।" उन्हों ने हिचकियाँ लेते हुए कहा—"भाड़ में जाय रंगमहल।" उन्हों ने और भी कुछ कहा, पर अब उन की वाणी इतनी अस्पष्ट हो गई थी कि कुछ समझ में नहीं आ रही थी। किसुन उन्हें शयनागार में ला कर पलंग पर

लिटाना चाहता था कि वह कटे वृक्ष की भाँति फर्श पर ही गिर गय और कै करने तथा बड़बड़ाने लगे। वास्तव में अब उन्हें तनिक भी होश न था। भयभीत हो कर मैं ने केसर की ओर देखा। बाहर ढाढ़िनें 'दाखाँ रो' गा रही थीं। उधर मेरा ध्यान कुंवरी पर लगा था। भला कुँवरी क्या कहेंगी! यह कैसी अनहोनी बात हो गई! मेरा मन घृणा और विरक्ति से भर गया।

इसी समय एक दासी हाँफती हुई आई। उसने फुसफुसा कर कहा—"गजब हो गया सरकार! नई महारानी को पता लग गया कि अन्न-दाता यहाँ हैं। उन्हों ने गाना-बजाना और रोशनी एकदम बन्द करने का हुक्म दिया है। रंगमहल में अब सन्नाटा छा रहा है।" सुन कर मैं सन्न रह गई।

भूल गई मैं अपना रूप, शृंगार, सौभाग्य। वह महल, छपरखट, सुख-साज, हीरे-मोती जैसे मुझे नागिन की भाँति डसने लगे। मैं पलंग पर गिर कर सिसक-सिसक कर रोने लगी। केसर भी किंकर्तव्य-विमूढ़-सी मेरा सिर गोद में लिए देर तक बैठी शराब के नशे में धुत बदहवास फर्श पर पड़े राजा को देखती रही। मुझे ढाढ़स तक बंधाने की उस की हिम्मत न रही। बहुत-से विचार मेरे मस्तिष्क में आ रहे थे। सब से ऊपर रह-रह कर कुंवरी का ख्याल मुझे कचोट रहा था। मैं सोच रही थी—हे भगवान्, अब क्या होगा? मेरे जले भाग्य में न जाने क्या लिखा है। देर तक मैं सिसक-सिसक कर रोती रही। और रोते-रोते न जाने कब सो गई।

: १७ :

# ग्लानि, अपार ग्लानि

सुबह जब मेरी आँख खुली तब दिन बहुत चढ़ गया था। बाहर धूप फैल गई थी। वह खिड़कियों के पर्दों से छन-छन कर मेरे शयन-कक्ष में आ रही थी। मैं हड़बड़ा कर उठ बैठी। देखा, अन्नदाता अभी तक औंधे मुँह फर्श पर पड़े हैं। कै से उन की सारी पोशाक गंदी हो गई है। कक्ष में न जाने कैसी दुर्गन्ध भरी थी। वह फू-फू कर के साँड की तरह साँस ले रहे थे। साँस के साथ उन के दोनों नथुने फूल रहे थे। मूँछों में गंदगी लग कर सूख गई थी और उन का चेहरा सूअर के मुँह के समान कुत्सित और घृणित लग रहा था। घृणा और विरक्ति के साथ ही क्रोध भी मेरे मन में व्याप गया। मेरी दृष्टि अपने अंग पर गई। वही रात का जड़ाऊ जोड़ा पहने मैं सो गई थी। वह अब भी मेरे अंग पर था। वे सारे अलंकार भी, जो रात में जगमग कर रहे थे। इस समय यह पोशाक और ये अलंकार मुझे ऐसे लग रहे थे, जैसे विषैले भुजंग मेरे शरीर में लिपटे हुए हैं। मैं ने नोंच-नोंच कर ये सब अलंकार फेंकने आरम्भ कर दिए। पोशाक भी उतार कर फेंक दी। मेरा मन हो रहा था कि पेट में कटार भोंक लूँ, या छत से कूद पड़ूं। इसी समय अन्नदाता की आँख खुली। एक बार उलट-पलट हो कर वह उठ बैठे। अदब-कायदा

मैं सब भूल गई। चुपचाप पलंग पर पड़ी उन्हें देखती रही। उन्हों ने खड़े होने की चेष्टा की। एक बार तो ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वह अभी गिर पड़ेंगे। परन्तु उन्हों ने उन्मत्त की भाँति दोनों हाथ पसार दिए। मसहरी का डंडा उन के हाथ में आ गया। उसी का सहारा ले कर वह उठ खड़े हुए। एक बार वह मसहरी पर झुके भी, पर फिर सम्हल गए। अपनी हथेली मुँह पर रख कर उन्हों ने दो-तीन जम्हाइयां लीं। फिर उन्हों ने दोनों हाथों से सिर दबा लिया। ऐसा प्रतीत होता था कि एक-एक कर के उन्हें रात की सारी बातें याद आ रही थीं। शायद सिर का असह्य दर्द उन्हें बेचैन कर रहा था। परन्तु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि रात फर्श पर कटी है, तब वह निर्लज्ज की तरह हो-हो कर के हंसने लगे। उन्हों ने आप ही आगे बढ़ कर झारी से पानी गिलास में उंड़ेला और उसे वह गटागट पी गए। जो बचा उसे सिर पर उंड़ेल दिया। उन्हों ने एक प्रकार से बड़बड़ाते हुए कहा—"ओफ, सिर दर्द से फटा जा रहा है। रात कुछ ज्यादा पी ली।" इतने में उन की नजर सामने लगे कद्देआदम आईने की ओर गई। अपनी मूंछों को, मुँह को और पोशाक को कै की गन्दगी से लथपथ देख उन्हों ने नाक सिकोड़ कर ऊपर की पोशाक उतार फेंकी और फटे बांस-जैसी भर्राई आवाज़ में किसुन को पुकारा।

किसुन और केसर ने शयन-कक्ष में आ कर महाराज की पोशाक बदली, हाथ-मुँह धुलाया। मैं पत्थर की मूर्ति की भाँति पलंग पर सिकुड़ी पड़ी यह सब देखती रही। जब वह किसुन के कन्धे का सहारा ले कर चलने लगे, तब मेरी ओर देख कर धीरे से कुछ घबराई-सी, कुछ झेंपी-सी आवाज में बोले—"कुंवरी से कहना नहीं चम्पा!"

और वह चले गए। कक्ष में रह गई मैं और केसर। हम दोनों एक-दूसरे को ताक रही थीं। हमारी उस नजर में बहुत-से प्रश्न थे, बहुत-से उत्तर थे। बहुत-से चित्र थे, बहुत-सी झांकियां थीं—अपने भूत और भविष्य की। हम दोनों जन्म-अभागिन नारियां, जो एक-दूसरी को अमीम

प्यार करती थीं, एक-दूसरे पर असीम विश्वास करती थीं, यहाँ सर्वथा असहायावस्था में, पराश्रित उपस्थित थीं। मुझे ऐसा लग रहा था, जैसे मैं अथाह समुद्र में डूबी जा रही हूँ। मेरा कोई रक्षक नहीं है, कोई सहायक नहीं है। जैसे जीवन का चिराग बुझ गया हो और चारों ओर अंधेरा-हा-अंधेरा नजर आ रहा हो। एक ही दिन में मेरा सारा सुहाग समाप्त हो गया। कल मैं कैसे ठाठ-बाट से आई थी, और आज ? एक-एक कर के मेरी आँखों में रात के सारे दृश्य घूम गए। वे रंगीन जल्से, नाच-रंग, हीरे-मोती, जशन-जगमग और फिर कै और गन्दगी से भरी राजा की देह, जिसे हम अन्नदाता कहते हैं; जिसे लोग महाराजाधिराज कहते हैं, जिस का दर्शन ईश्वर के दर्शन के समान पवित्र माना जाता है, जिस की कृपा-दृष्टि से जावन सफल हा जाता है। वही राजा-हमारे भाग्य और सर्वस्व का धनी, गन्दे कुत्ते की भाँति, शराब के नशे में बेहोश यहाँ फर्श पर पड़ा रहा है। छी, छी, कैसी लज्जा की बात है। उस दिन गढ़ी में जब प्रथम दर्शन हुए थे, कैसे मैं ने इसे देवता की भाँति माना था ! ओह, उस दिन यह व्यक्ति कितना महान् और मैं कितनी तुच्छ दासी थी ! आज तो जैसे वह एक अधम कीड़े से भी निकृष्ट लग रहा था। राजा के प्रति सारा सम्मान, सारा प्रतिष्ठा का भाव मेरे मन से तिरोहित हो गया। एक ऐसी घृणा और वितृष्णा से मेरा मन भर गया कि जिस का अन्त न था। पर हर बार मुझे अपनी असहाया-वस्था का ध्यान आता था। मैं बारम्बार अपनी स्थिति पर विचार कर रही थी। न जाने मेरा अब क्या होगा ? मुझे कुछ सूझ ही न रहा था। वह सुनहरा छपरखट जैसे मुझे काट रहा था। महल के रंगीन झरोखे ऐसे लग रहे थे, जैसे मेरी ही कब्र हों। जीवन का मुझे बड़ा मोह था। बड़े-बड़े हौसले, बड़ी-बड़ी हौस, बड़े-बड़े चाव मे ने अपने मन-मन्दिर में सजाए थे। मैं आखिर कच्ची उम्र की एक बालिका ही तो थी। अभी मैं ने दुनिया का देखा क्या था ? और यौवन की देहरी पर पैर पड़ते ही विधि-विडम्बना से जैसी घटनाएं आ घटीं, उन सब ने मेरे विचारों को

कहाँ-का-कहाँ पहुँचा दिया था। परन्तु आज तो मेरी चिन्ता का ओर-छोर न था। मैं नहीं जानती थी कि अब क्या होने वाला है—अच्छा या बुरा। मैं तो अब इसी भय से अधमरी हो रही थी कि कुंवरी को मुँह कैसे दिखाऊँगी। मैं ने केसर की गोद से मुंह उठा कर कहा- -"अब क्या होगा केसर ?"

केसर ने धैर्य बंधाते हुए कहा—"जो होना होगा, हो जाएगा। अब इस तरह सोच-फिकर कर के जान देने में क्या होगा भला ? तू हाथ मुँह धो कर कपड़े बदल, मैं तब तक रंगमहल की ओर जाती हूँ।"

मैं ने भयभीत मुद्रा में कहा—"मैं भी चलूं ?" "अभी नहीं," कह कर केसर चली गई और मैं फिर उसी पलंग पर गिर गई, जिसे अब मैं सुख-सेज नहीं कह सकती थी। मुझे न भूख थी, न प्यास; न मेरी आँखों में नींद थी। रह-रह कर मेरा कलेजा मुँह को आ रहा था। मैं आज मा को याद कर रही थी। चाहती थी पर लगा कर उड़ जाऊँ, अपनी मा के कलेजे से जा लगूं। परन्तु मेरी दशा पर-कटे पक्षी के समान थी। मैं पिंजरबद्ध थी। मैं असहाय जन्म-जात गोली-गुलाम, जिस के भाग्य में ही शून्य अंकित होता है, जैसे आज सब कुछ खो चुकी थी। दासियों ने मेरे लिए आवश्यक व्यवस्थाएँ कर रखी थीं। वे इस प्रतीक्षा में हाथ बांधे खड़ी थीं कि आज्ञा हो तो वे मेरे कपड़े बदलवाने तथा नित्य-कर्म में सहायता दें। परन्तु मैं ने कह दिया—अभी मैं सोऊँगी। मुझे जगाना मत। मेरे पास कोई आना भी मत। द्वार बन्द कर दो और बाहर बैठो।"

दासियां चली गईं और मैं सोने की व्यर्थ चेष्टा करने लगी। अब भी मेरा सिर दर्द मे फटा जा रहा था। मतली भी आ रही थी। दासियों से यद्यपि मैं ने आने को मना कर दिया था, तथापि किसुन नाश्ते की ट्रे हाथों में लिए निःशंक मेरे शयनागार में घुस आया। ट्रे एक ओर रख कर उस ने कोमल स्वर में कहा—"उठिए सरकार, थोड़ा कलेवा कर लीजिए। रात भर परेशानी रही है।"

न जाने क्यों, मुझे उस तरुण दरोगा का इस तरह बिना आज्ञा शयन-गृह में घुस आना बुरा न लगा। उस की वाणी भी मुझे बड़ी मीठी लगी। मैं ने आँख उठा कर उस की ओर देखा। आँख से आँख मिलते ही मेरी आँखें नीची हो गईं। मै ने कहा—"मैं अभी कुछ नहीं खाऊँगी किसुन; मेरा जी अच्छा नहीं है।"

"कैसे अच्छा रह सकता है। बाप-खानी परेशानी कुछ कम रही ? रात भर की धमा-चौकड़ी ! उठिए, थोड़ा कलेवा कर के फिर सो जाइए, तबियत ठीक हो जाएगी।"

"नहीं, मैं कुछ न खाऊँगी।"

"वाह, यह भी कोई बात है।" उस के आग्रह में एक विचित्र आवेश था। मैं ने उस के मुँह की ओर देखा, उस की गहरी पानीदार आँखों से जैसे एक चमक निकल रही थी। उस ने हँसते हुए कहा—"बस, जरा-सा खा लीजिए, सब चीजें गर्म हैं।"

"लेकिन···"

"नहीं, सरकार नहीं", उस ने एक अजब अन्दाज से आग्रह किया और नाश्ता चौकी पर मेरे निकट रख दिया। मैं ने कहा—"अभी तो मैं ने हाथ-मुँह भी नहीं धोया है।"

"तो मैं गर्म पानी का सागर, गमछा ले आता हूँ। आप हाथ-मुँह धो लीजिए।"

"अभी मै सोऊँगी जरा, किसुन !"

"कलेवा कर के साइए सरकार", इस बार उस ने करबद्ध प्रार्थना की। मैं सारी ही दुश्चिन्ताओं को भूल गई। मुझे हँसी आ गई। मैं ने हँस कर कहा—"इतनी जिद क्यों किसुन ?"

"सरकार, यह राजा का घर है, हम गुलाम चाकर हैं, राजा की मर्जी कब कैसी हो जाय, कौन जानता है। सो जैसा अवसर आए, हमें सब के लिए हाजिर रहना चाहिए। हमारे बाप-दादे भी सदा से यही करते आ रहे हैं, हमें भी यही करना चाहिए।" इतना कह कर उस ने फुर्ती से एक

तकिया मेरे सिरहाने लगा दिया और गंगा-सागर में गर्म पानी, गमछा और चिलमची ले आया।

हाथ-मुँह धो कर मैं ने कलेवा किया। किसुन ने पान के दो बीड़े मुझे दे कर जैसे सन्तोष की साँस ली। "अब सरकार आराम करें।" वह गंदे पानी से भरी चिलमची ले कर जाने लगा तो मैं ने धड़कते कलेजे से कहा—"उधर क्या हो रहा है किसुन, रंगमहल में ?"

"नई रानी बहुत नाराज हो गई हैं। उन्हों ने ड्योढ़ियों पर पहरा बैठा दिया है। दरबार से भी उन्हों ने मुलाकात नहीं की।"

"अब क्या होगा, किसुन ?'

"सब ठीक हो जाएगा, सरकार ! यह तो राज-परिवार में होता ही रहता है।" उस ने मुसकरा कर एक भेदभरी दृष्टि मुझ पर डाली। उस दृष्टि ही में जैसे वह मुझे तसल्ली दे रहा था। उस की बातों से मुझे ढाढ़स हुआ। जी चाहता था, उस से और बातें करूँ। वह बहुत अच्छा लग रहा था। किसी मर्द से इस प्रकार बातें करने का मेरा यह पहला ही अवसर था। उस की विनय, चातुर्य, तत्परता और स्नेहासिक्त आँखों ने जैसे मुझ पर जादू कर दिया था। एक अभूतपूर्व सुख की लहर मेरे मन में उस उद्विग्नावस्था में भी व्याप गई। पर मेरे मुँह से और बोल न फूटा। वह धीरे से द्वार का पर्दा ठीक करता हुआ चला गया।

बहुत देर तक मैं भाँति-भाँति के विचारों में डूबती-उतराती रही, फिर मैं सो गई।

: १८ :

# महारानी की ड्योढ़ी पर पहरा

आँख खुली तो देखा केसर मेरे सिरहाने बैठी अपनी उँगलियों से मेरी लटों के साथ खेल रही है। मैं ने छूटते ही उस से पूछा—"उधर का क्या हाल है ?"

केसर के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। उस का मुँह सूख रहा था। उस ने सूखे कण्ठ से कहा—"कुंवरी ने द्वार पर पहरा बैठा दिया है, दरबार को रंगमहल में आने की इजाज़त नहीं है।"

"दरबार को ?" मैं ने आश्चर्यचकित हो कर पूछा। "क्या ऐसा भी सम्भव है ? अन्नदाता तो यहाँ के स्वामी और कर्ता-धर्ता हैं !"

कुंवरी भी यहाँ की स्वामिनी हैं, कुछ हमारी तरह गोली-गुलाम नहीं हैं। महाराज ने रात अनीति की। सुहागरात की सेज का अपमान कर वह नशे की झोंक में यहाँ आ गए; भला ऐसा भी कहीं होता है ?"

"तो तू ने रात ही उन्हें क्यों नहीं समझाया ?"

"क्या उन की हालत समझने-समझाने-जैसे थी ? तू ने देखा नहीं था ? फिर बात यहाँ तक बढ़ जाएगी, यह मैं ने सोचा भी न था।"

"क्या बात बहुत बढ़ गई है ?"

कुंवरी ने गढ़ी में साँढ़नी भेजी है।"

"तो अब क्या होगा ?"

"शायद दाता आएं यहाँ ।"

"क्या करेंगे दाता ?"

"गुस्सा हो कर दरबार से लड़ भी सकते हैं, खून-खराबा भी हो सकता है ।"

"क्या खून-खराबा ?"

"यह इज्जत का सवाल है ।"

"लेकिन उन की दर्बार से भला क्या बराबरी ?"

"क्यों, क्या वह दर्बार के ससुर नहीं हैं ? सम्बन्धी नहीं हैं ? दर्बार हैं तो क्या प्रजा पर अनीति करेंगें ? फिर अपनी ही रानी पर ? कुँवरी कोई गोली-गुलाम नहीं हैं। राजपूत हैं, ठिकानेदार की बेटी हैं। ठिकानेदार तो दर्बार के भाईबन्द हैं। भाईबन्दी में छोटा-बड़ा कैसा ? भले ही ठिकाना एक ही गाँव का हो, भाईबन्दी में वह दर्बार के बराबर ही हैं। फिर दाता तो बड़े आन-बान के आदमी हैं। धुन में आ गए तो अमल आरोग कर आ सकते हैं। सब ठाकुर उनका साथ देंगे।"

हे भगवान, अमल आरोगने का अभिप्राय है मरने-मारने की ठान लेना। बहुत देर तक मैं एकटक केसर की ओर देखती रही। फिर मैं ने कहा—"तू ने कुंवरी से मुलाकात की ?"

"कैसे कर सकती थी ? रंगमहल में तो पंछी भी पर नहीं मार सकता। पहरे पड़े हैं।"

"तू ने इत्तला नहीं कराई ?"

"हुक्म नहीं है।"

कुछ सोच कर मैं ने कहा—"मैं जाऊं तो ?"

"नहीं जा पाएगी। दर्बार ही को नहीं जाने दिया तो तू कैसे जाएगी ?"

"पहरे पर कौन है ?"

"भूरसिंह हाड़ौत।"

"अकेले ?"

"अकेले ही हैं। वह नंगी तलवार लिए ड्योढ़ी पर मुस्तैद है।"

भूरसिंह हाड़ौत गढ़ी का आदमी था। दाता उसे बहुत मानते थे। वह दाता का सम्बन्धी ही था। बूढ़ा आदमी था। बड़ी लम्बी सफेद उस की दाढ़ी थी। वह सब आदमियों से ऊँचा था, बड़ा डील वाला। साठ बरस की उम्र पार कर भी वह अभी जवान बना था। वह बड़ा हंसमुख था। बचपन में वह कुंवरी को और मुझे गोद खिला चुका था। वह बड़ा विश्वासी और दृढ़ निश्चय का रजपूत था।

मैं ने कहा—"भूरसिंह दद्दा अकेले ही पहरे पर हैं ? अकेले ही उन्हों ने दरबार को रंगमहल में नहीं जाने दिया ?"

"ऐसा ही तो हुआ।"

"तू ने देखा ?"

"मैं वहीं तो थी।"

"अन्नदाता ने गुस्सा नहीं किया ? जिद नहीं की ? चुपचाप दद्दा की बात मान ली ?"

"चुपचाप क्यों ? बहुत हुज्जत हुई। दर्बार जब ड्योढ़ियों में घुसने

लगे तब हाड़ौत ने तलवार ऊँची कर के कहा—'घणो खम्मा अन्नदाता, हुक्म नहीं है।'

'किस का हुक्म ?' अन्नदाता ने कहा।

'रानीजी का, अन्नदाता !'

'तो मैं हुक्म देता हूँ, ड्योढ़ी छोड़ दे, मैं रंगमहल में जाऊँगा।'

'नहीं अन्नदाता, आप रंगमहल में नहीं पधार सकते।'

'मैं हुक्म देता हूँ।'

'मैं मानने से इन्कार करता हूँ।'

'ठाकरां, तुम किस से बात करते हो ?'

'आप हा से दर्बार !'

'तो मेरा हुक्म है...।'

'आप का हुक्म आप के नौकरों पर है, अन्नदाता ! मैं आपका नौकर नहीं हूँ। आप का नमक नहीं खाता हूँ। मैं भूरसिंह हाड़ौत हूँ। इस समय रानीजी की आज्ञा से यहाँ पहरे पर हूँ।'

'रानी की क्या आज्ञा है ?'

'कि रंगमहल में कोई न आने पाए।'

'यह आज्ञा मेरे लिए नहीं है।'

'सभी के लिए है, दर्बार।'

'परन्तु मैं जाऊँगा।'

'रानीजी के हुक्म को तोड़ कर नहीं जा सकेंगे, अन्नदाता !'

'मेरे ऊपर रानी का हुक्म नहीं चलेगा, ठाकरां !'

'तो अन्नदाता, तलवार निकालिए।'

'अरे ठाकरड़े, तू मुझ से तलवार निकालने को कहता है ?'

'हाँ, आप ही से कहता हूँ। और यह भी कहता हूँ कि ड्योढ़ियों में आप ने कदम रखा तो आप का सिर अभी भुट्टे की तरह उड़ा दूंगा।'

'अरे ठाकरड़े....'

'अरे राजा, धिक्कार है तुझे। जब रंगमहल में जाने की वेला था तब तू दासी की चाकरी में जा पहुँचा। तुझे रानी और बाँदी की पहचान नहीं है। रजपूत की तलवार को भी तू नहीं पहचानता। तू ने रानी की मर्यादा भंग की है। रजपूत की बेटी के सुहाग पर तू ने बट्टा लगाया है। थोड़ा ठहर राजा, हमारे दाता पधार रहे हैं। वह अपने अपमान का तुझ से बदला लेंगे और अगर इस रजपूत की तलवार का पानी पीना है तो तलवार निकाल।'

"इस तरह वह बूढ़ा ठाकुर नंगी तलवार हवा में घुमाने लगा। दरबार कुछ सोच-समझ कर लौट आए। अब वह बफरे नाहर की भाँति अंटशंट बक रहे हैं। सब दास, खवास, मुत्सद्दी, दीवान खामोश हैं। सब कानाफूसी कर रहे हैं। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। जी-हजूरिए खुशामदी सब अपनी-अपनी बक रहे हैं।"

"मैं ने सहमते हुए कहा—"क्या दाता आएंगे ?"

"कुंवरी की चिट्ठी पा कर वह रुकेंगे ? मैं सोचती हूँ, कहीं खून-खराबा न हो जाए। दाता का मिजाज टेढ़ा है। जब इज्जत की बात आती है, तब वह आगा-पीछा नहीं देखते।"

हठात् मुझे कुंवरी का खयाल आ गया। न जाने वह कैसी हैं ? उन्हों ने कुछ खाया-पिया भी है या नहीं ? कौन उन की इस समय देख-भाल कर रहा होगा भला ? मैं ने कहा—"केसर, मैं जाऊँगी। मुझे जाना चाहिए।"

"कैसे जा पाओगी ?"

"मैं जाती हूँ।" कह कर मैं उठी। जैसी थी वैसी ही। एक चादर मैं ने पलंग से उठा कर अंग पर लपेट ली और मैं चल दी। केसर ने बाधा न दी। वह भी चुपचाप मेरे पीछे-पीछे रंगमहल की ओर चल दी।

: १६ :

# कुंवरी से अंतिम भेंट

ड्योढ़ियों में मैं धंसी चली गई। मुझे देखते ही भूरसिंह दद्दा खड़े हो गए। वह एकटक मेरी ओर ताकते रहे। मैं ने देखा, उन की भौहों में बल पड़े थे और उन की दाढ़ी हवा में लहरा रही थी। हाथ में उन के नंगी तलवार थी। केसर तनिक ठिठकी, परन्तु मैं दौड़ कर दद्दा की छाती से जा लगी और फफक-फफक कर रोने लगी। बहुत देर तक मैं उन की छाती में मुँह छिपाए रोती रही। कुछ ही देर में देखा, गर्म आँसू मेरे सिर पर बरस रहे हैं। दद्दा रो रहे थे। मैंने आँख उठा कर देखा, उन की दाढ़ी आँसुओं से तर थी। मैं ने भरी हुई आँखों से उन की लाल-लाल बरसाती आँखों को देखा और हिचकियाँ लेते हुए कहा—"दद्दा, उन्हों ने कुछ खाया-पिया भी है या नहीं।"

"कैसे कहूँ, बेटी !"

"तो वहाँ कौन उन की देखभाल करता होगा ?"

"रानी बिटिया तो अकेली ही है, केवल एक बाँदी-भर भीतर है।"

"मैं जाऊँगी दद्दा।"

"कैसे जाएगी बेटी, हुक्म नहीं है।"

"मेरे लिए हुक्म है।"

"बेटी, मैं धर्म के बन्धन से बंधा हूँ, दाता का नमक मेरे लहू में है। रानी बेटी के साथ तो अन्याय हुआ ही है, उस की भी एक मर्यादा है और मेरा भी एक धर्म है। मैं रानी बेटी की मर्यादा का यहां अकेला ही रक्षक हूँ। वह मेरी धर्म की बेटी है।"

"मै भी आप की बेटी हूँ, दद्दा !"

"हाँ बेटी, तुझ में और रानी बेटी में दाता भेद नहीं समझते थे, यह मै जानता हूँ।"

"आप ने भी तो कभी नहीं समझा।"

"कैसे समझ सकता था, बेटी ! रानी बेटी मेरी धर्म की बेटी रही, पर तू तो प्यार की बेटी है।"

दद्दा ने मेरे सिर पर हाथ फेरा और अपने आँसू पोंछे।

मैं ने कहा—"दद्दा, मेरा तनिक भी अपराध नहीं है।"

"सो मैं जानता हूँ।"

"फिर भी कुंवरी मेरी जीती खाल खींचने का हुक्म देंगी तो मुझे उज्र नहीं होगा। चाहे जो भी हो, मुझे उन की खिजमत में जाना चाहिए। मुझे भीतर जाने दो दद्दा।"

"बेटी, हुक्म नहीं है।"

"मेरे लिए हुक्म की बात नहीं है, दद्दा ! मैं उन से समझ लूंगी। सोचो तो, इस विपत्ति में उन का सगा कौन है। उन का कलेजा टूक-टूक हो गया है। उन के स्वभाव को मैं जानती हूँ। अन्न का दाना तो दूर, एक बूंद जल भी उन के मुँह में न गया होगा। मैं भला कैसे दूर रह सकती हूँ ? मुझे जाने दो दद्दा, या मेरा सिर इस तलवार से काट कर कुंवरी के पास ले जाओ तुम।"

"जा भाया जा।"

मैं ने मुँह फेर कर केसर की ओर देखा। दद्दा ने कहा—"ना, तू अकेली ही जा।"

मैं भीतर चली। भय, उद्वेग और आशंका से मेरा मन भर रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे मैं मर रही हूँ। रंगमहल के उस भाग में सन्नाटा था। सब खिड़कियाँ, गवाक्ष, झरोखे बन्द थे। कोई बाँदी, गुलाम, चाकर, कारभारी, नौकर वहाँ न था। मैं अपने ही पद-शब्दों से चौकन्नी होती, बहुत आहिस्ते-आहिस्ते पग बढ़ाती कुंवरी के शयन-कक्ष की बगल में जा पहुँची। यहाँ भी सन्नाटा था। कान लगा कर मैं ने सुना। भीतर कोई न था। इधर-उधर मैं ने देखा। सूना दीवानखाना पार कर मैं भीतरी दालान में पहुँची। सामने झरोखे में कुंवरी चुपचाप एक सीतल-पाटी पर बैठी थीं। निराभरण। उषा के प्रथम आलोक की भाँति, जहाँ एक भी तारा नहीं होता। केवल एक सफेद सादा साड़ी उन के अंग पर थी। आँखें उन की फूली हुई थीं, पर उन में आँसू न थे। मुझे देख एक मन्द स्मिति की रेखा उन के होंठों पर फैल गई। उन्हों ने कहा—"आ बहन !"

अकल्पित आह्वान, अतर्कित स्वर और असम्भाव्य सब कुछ। मेरे पैर लड़खड़ा गए, सिर घूमने लगा। जैसे समूचा आकाश भूमि पर आ रहा हो, मैं वहीं गिर गई। कुंवरी ने दौड़ कर मुझे गोद में उठाया। मृदु स्वर में कहा—"चोट तो नहीं लगी ?"

मैं ने आँखें फाड़ कर उन की ओर देखा, फिर दोनों हाथों से पकड़ कर कहा—"अन्नदाता, मैं ने भूरसिंह दद्दा से कहा था कि मेरा सिर काट कर आप की सेवा में पेश कर दें।"

"पगली, ऐसा भी कहीं होता है।" वही मन्द स्मित रेखा उन के होंठों में थी।

मेरी वाणी जड़ हो रही थी। उन्हों ने मुझे सहारा दे कर उठाया और गवाक्ष के पास बैठा कर कहा—"क्या दासी को बुलाऊँ ?"

"ना अन्नदाता, पर मेरी एक अरदास है, या तो मुझे यहीं अपने चरणों में रहने की इजाज़त बख्शी जाए, या मेरा सिर काटने का हुक्म

हो जाए। नहीं तो मैं ज़हर खा कर जान दे दूंगी।"

कुंवरी के होंठों से हास्य लुप्त हो गया। उन्हों ने कहा—"चम्पा, तू जानती है, मैं भी एक नादान लड़की हूँ, तुझ से भी अधिक नादान। और अब यह तो तू देख ही रही है कि दुर्भागी और असहाय भी हूँ। मेरे ऊपर कठिन समय आया है, सो मुझे अपना धर्म निबाहना है, मैं रजपूत की बेटी हूँ, एक स्त्री हूँ, और मुझे अपने पिता की इज्जत का भी खयाल है। इन सब का विचार कर मैं अपनी राह चल खड़ी हुई हूँ। तू मेरी प्यारी बहन, सदा की मेरी सहायक और संगिनी है, अन्तरंग सखी है और अब तो धर्म से पर्यंकभागिनी है; सो तू ऐसा कर जिस से मेरे धर्म का निबाह हो जाए, तेरे कारण कोई विघ्न-बाधा न पड़े।"

"मैं वही करूँगी अन्नदाता!"

"तो तू अपने महल में जा। अब यहाँ आने या मुझ से मिलने की चेष्टा न करना। यहाँ चाहे भी जैसी अच्छी-बुरी घटना हो, उस में तू अपने को मत जोड़ लेना, बस इतनी ही मेरी तुझे सीख है।"

"अन्नदाता, आप का सब हुक्म मानूंगी, पर इन चरणों से दूर नहीं रह सकती। मुझे सेवा में ही रहने दीजिए। भला-बुरा जो हो, एक साथ ही होगा।"

"नहीं बहन, ऐसा नहीं हो सकता। मुझे अपनी मर्यादा की रक्षा अकेले ही करनी होगी और तुझे अपना धर्म पालना है।"

"मैं जान पर खेल जाऊँगी, अन्नदाता!"

"बहन, हम भाग्यहीन स्त्रियों के जीवन ही ऐसे हैं। ऐसे अवसर आते रहते हैं, कुछ में जान पर खेलना पड़ता है। पर अकारण आत्म-हत्या तो कायरता ही है। गुस्सा न कर, सब बातों पर विचार कर। आगा-पीछा देख!"

"परन्तु मैं आप के चरणों से दूर रह कैसे सकती हूँ?"

"मेरे मन में तो तू है ही। पर मेरे पास तेरा रहना न हो सकेगा।

बहन! इस से मेरे मार्ग में भी बाधा पड़ेगी और तेरा भी भला न होगा।"

"पर मैं आप को अकेली इस हालत में कैसे छोड़ सकती हूँ?"

"तू मुझे कितना प्यार करती है, यह मैं जानती हूँ बहन! तेरा प्यार ही मेरे व्रत का सब से बड़ा अवलम्बन है, सो तू जहाँ जिस दशा में रहे, मुझे इसी भाँति प्यार करती रहना। बस इसी से मेरी व्रत-साधना पूरी हो जाएगी।"

मैं क्या कहती, क्या करती? मुझे कुछ भी सूझ नहीं रहा था। मेरे आँसू उमड़ आए और मैं चुपचाप उन की गोद में मुँह छिपा कर रोने लगी। उन्हों ने भी मुझे जी भर कर रोने दिया। बहुत कुछ रो लेने पर मैं ने उन की ओर देखा, शरद्-पूर्णिमा की चांदनी के समान निर्मल, उज्ज्वल आलोक उन के मुख-मण्डल पर था। मैं ने कभी उन्हें इतना सुन्दर नहीं देखा था। एक ऐसा तेज, ऐसी गरिमा, ऐसी सुषमा उन के मुख-मण्डल पर छा रही थी, जिस के सामने मेरा रूप का सारा ही घमण्ड गल कर बह गया। मैं एकटक उन के मुँह को देखती रह गई। उन्हों ने हंस कर स्निग्ध स्वर में कहा—"इस तरह क्या देखती है?"

"अन्नदाता, आज तक जो कभी न दीखा था, वही आज आप के मुख-मण्डल पर देख रही हूँ।"

"क्या देख रही है?"

"यही कि मैं आप की श्री और गरिमा के सम्मुख धूल के एक कण के समान भी नहीं हूँ।"

"धुत पगली! तू तो मेरी प्यारी बहन है, प्राणों से भी प्यारी बहन! पर अब तू जा।"

"पर अन्नदाता आप ने तो अन्न का दाना भी मुँह में नहीं डाला। कदाचित् जल की एक बूंद भी ग्रहण नहीं की है। मैं आप के लिए रसोई बनाऊँगी। आप काँसा आरोग लें तो मैं जाऊँ।"

"यह सब तो दाता के आने पर होगा।"

"नहीं राज, आप निराहार नहीं रह सकतीं। मैं यहीं सिर पटक कर जान दे दूंगी।"

"अच्छा तो एक शर्त पर मैं स्वीकार करती हूँ।"

"कहो, अन्नदाता।"

"तू अब फिर यहाँ नहीं आएगी, यह वचन दे।"

"तो राज, मुझे त्याग रही हैं? ऐसा निर्मम दण्ड तो अभागिनी को न दें।"

"दण्ड नहीं बहन, तेरी और अपनी भलाई के लिए ही ऐसा कहती हूँ। बस आगा-पीछा सोच कर। तू भी सोचे-समझेगी तो इसी में तुझे भी भलाई दिखाई देगी।"

"पर आप की देख-भाल कौन करेगा राज?"

"मैं खुद करूँगी, इस के लिए मुझे किसी की जरूरत नहीं है।"

"परन्तु आपने तो सब दास-दासियों को भी अपने से दूर कर दिया?"

"यह ठीक था चम्पा, एक दासी मेरी सेवा में है, वह काफी है।"

"आप की इन बातों से मेरी छाती फटती है।"

"तेरा यही प्यार तो मेरा सारा आलम्बन है।"

"मुझे चरणों से दूर न करो राज; मैं आप से दूर नहीं रह सकती।"

"तू दूर कहाँ है, मेरे हिए में है बहन!"

"आप ऐसी निठुर तो कभी न थीं।"

"निठुराई की बात नहीं है बहन, मुझे जो कठोर व्रत पालन करना है उस की मर्यादा की बात है।"

"तो केसर को रख लीजिए।"

"नहीं, वह तेरी सेवा में रहेगी। उस के बिना तेरा निस्तार नहीं है। तुझे भी कदाचित् कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।"

"मैं सब कुछ अकेले ही भुगत लूंगी।"

"नहीं, तेरे भले के लिए केसर का तेरे पास रहना ठीक है। मा ने बहुत सोच-समझ कर ही उसे तेरे साथ भेजा है।"

"पर हम तो सभी आप की चाकरी में आई हैं राज!"

"ठीक है, पर काम तो सब समयानुसार होते हैं। मैं ने तो सभी को अपनी सेवा से मुक्त कर दिया है।"

मैं अब और क्या कहूँ, कुछ भी न समझ पड़ा। मेरी आँखों में फिर मोती सज गए। मैं ने कहा—"मैं रसोई बनाऊँ? या अटाले से मँगाऊँ?

"तू ही बना। क्या अकेली बना सकेगी?"

"इतनी निकम्मी नहीं हूँ, अन्नदाता।"

मैं ने झटपट स्नान कर रसोई बनाई। जो सामग्री उपस्थित थी उसी से। साधारण ही रसोई बनी। ठाकुर जी का भोग लगा कर बड़े ही संकोच से थाल सजा कर मैं ले गई। उन्हों ने बड़ी-बड़ी भारी पलकें उठा कर कहा—

"पहले भूरसिंह दद्दा को दे आ। वह भी तो कल से निराहार हैं।"

"अन्नदाता, आप आरोगिए, मैं वहाँ थाल पहुँचाती हूँ।"

"नहीं, पहले तू उन्हें स्वयं खड़ी रह कर जिमा दे।"

सेवक की रक्षा तो स्वामी इसी भाँति करते हैं। कुँवरी की गुण-गरिमा पर मैं मुग्ध हो गई। मैं ने यत्नपूर्वक ठाकुर को भोजन कराया, यद्यपि ठाकुर ने भी बहुत ननुनच किया। इस कार्य से निवृत्त हो कर मैं दूसरा थाल सजा कर फिर कुँवरी के पास गई। कुंवरी ने कहा—"आ बहन, तू भी बैठ। दोनों बहनें साथ ही खाएँ।"

"अन्नदाता, यह कैसे हो सकता ? आप कांसा आरोगिए, न होगा तो जूठन का प्रसाद मैं भी पाऊँगी।"

"जूठन का प्रसाद नहीं बहन, मेरे साथ बैठ।"

"मर जाऊँ तो भी यह बे-अदबी न होगी। ऐसा भी कहीं होता है अन्नदाता ?"

"बहन, तू नहीं जानती, तेरा-मेरा रिश्ता अब क्या है। क्या तू भूल गई कि तू मेरे सौभाग्य की भागीदार है। अब हम दो कहाँ हैं ? आ बैठ।"

"नहीं, अन्नदाता नहीं।"

"तो मैं भोजन नहीं करूँगी।"

"इतना अन्धेर न करो राज", मैं भूमि पर गिर कर उन के पैरों में लोट गई।

"कौन जाने जीवन में फिर मेरा-तेरा मिलना हो या नहीं; आज के इस मिलन-क्षण के बाद पता नहीं दूसरा कौन-सा क्षण आए। जिद न कर और जिस में मुझे सुख मिले वही कर।"

उन्हों ने मेरा हाथ पकड़ कर उठा लिया। और अपने हाथ से थाल से कौर ले कर मेरे मुँह में रख दिया और इस के साथ-ही-साथ उन के होंठों पर स्मिति फैल गई। मुझे अन्नदाता के साथ एक ही थाल में कांसा आरोगना पड़ा। भला किस गोली-गुलाम को कभी यह सौभाग्य नसीब

हुआ होगा ! उन्हों ने कहा था कि कदाचित् जीवन में अब साक्षात्कार न होगा। कैसी अद्‌भुत बात थी ! पर कितनी सत्य ! इस के बाद हम दोनों १८ वर्ष तक—जब तक वह जीवित रहीं—एक ही रंगमहल में रहे, पर मुझे उन की एक झलक भी देखने को नहीं मिली, यद्यपि इस के लिए बहुत बार मैं प्राणों पर भी खेलने को उद्यत हो गई। पर उस समय ये सब बातें मुझ अज्ञानी को कहाँ ज्ञात थीं ? मैं क्या जानती थी कि मेरे जीवन में कैसी-कैसी अनहोनी घटनाएँ होने वाली हैं।

कुंवरी ने बहुत स्वल्प भोजन किया और मैं तो लाज-संकोच में ही मरी जाती थी, खाती भला क्या। भोजन से निवृत्त हो कर उन्हों ने कहा—"अब तू जा, चम्पा। बस, यह मेरी-तेरी इस जीवन में शायद अंतिम भेंट है। अब तू यहाँ आने की चेष्टा न करना।"

"यह कैसी आज्ञा करती हैं, अन्नदाता !"

पर उन्हों ने उठ कर मुझे भुजाओं में भर लिया। गले से मोतियों की माला निकाल मेरे गले में डाल दी। फिर मेरी ठोड़ी चूम कर कहा, "मेरी जान-अनजान की सब भूल-चूक क्षमा कर देना चम्पा ! और यह मत समझना कि तू मुझ से दूर है। तू सदैव यहाँ मेरे हृदय में वास करती रहेगी।"

अब मैं कहती क्या ? मैं जड़ हो गई। कुछ कहना चाहा, पर कह न सकी। वह अंक में भर कर मुझे ड्योढ़ियों तक ले चलीं। अधीर होकर मैं चीख पड़ी—"मैं आऊँगी अन्नदाता ! आप मुझे त्याग नहीं सकतीं।"

पर उन्हों ने केवल एक मन्द मुसकान में ही इस का उत्तर दिया और हम दोनों अभिन्न हृदय बिछुड़ गए। मैं रंगमहल से बाहर निकली तो मेरी आँखों में अंधेरा छा रहा था। केसर जैसे मुझे अधर में उठाए लिए जा रही थी। अपने महल में पहुँच कर मैं एक प्रकार से अर्ध-मूर्च्छित अवस्था में पड़ गई। दिन-रात का मुझे भान न रहा। आगा-पीछा सोचने की ताकत न रही। जैसे मेरे माथे से किसी ने भेजा ही निकाल फेंका हो।

: २० :

# रेज़िडेंट के सामने

भोर होते ही मैं ने डंके की आवाज सुनी। मैं हड़बड़ा कर उठ बैठी। केसर को जगा कर मैं ने कहा—"केसर ! देख तो यह कैसी आवाज है।" आवाज रुक-कर दूर से आ रही थी। पर कुछ क्षणों में ही वह और स्पष्ट हो गई। सूरज की एक किरण अपने पीले आलोक को मेरे शयन कक्ष में बखेर चली। इसी समय मैं ने अपने महल के नीचे बहुत-से आदमियों का शोर सुना। मैं गवाक्ष में जा खड़ी हुई। केसर मेरे साथ थी। मैं ने देखा—महल के बाहरी मैदान में दस-दस पाँच-पाँच

मनुष्य चारों ओर से एकत्र होते आ रहे थे। "यह सब क्या हो रहा है ?" मैं ने भयभीत नेत्रों से केसर की ओर देख कर पूछा। केसर जैसे सब-कुछ समझ रही थी, इसी से उस ने कुछ भी जवाब नहीं दिया। चुपचाप गवाक्ष में से देखती रही। इसी समय धौंसा जैसे महल की पौर पर ही बज उठा और मैं ने देखा दाता धौंसा बजाते चले आ रहे हैं। सब साथी केसरिया पहने थे। सब के हाथ में नंगी तलवारें थीं। कुछ घोड़ों पर सवार थे, कुछ पैदल। दाता अपनी प्रिय साँड़नी पर थे। उन की दाढ़ी हवा में हिल रही थी। उन के हाथ में दुनाली बंदूक थी और कमर में कारतूसों की पेटी कसी थी। पीछे उन के भीड़ शोर करती आ रही थी। देख मेरा कलेजा धड़कने लगा। मैं ने केसर की ओर देखा। उस का मुँह सूख रहा था। वह एकटक उधर ही देख रही थी। मेरे मुँह से बोल नहीं फूट रहा था।

इसी समय किसुन ने आ कर कहा—"ठाकुर केसरिया पहन कर आए है। कुल पच्चीस आदमी हैं। ६ चाकर और आठ रजपूत, बाकी सब भाई-बन्द। उन का इरादा साखा करने का है। वह मरने-मारने पर तुले हैं। राज्य-सेना उन्हें रोकने आ रही है।"

मैं ने देखा—अभी दाता की सवारी त्रिपोलिया के निकट भी न पहुँची थी कि तोप दगी और राज के सेना के सिपाहियों ने चारों ओर से दाता की सवारी को घेर लिया। इस समय नगर के भी बहुत-से लोग भागे आ रहे थे। शोर बहुत हो रहा था। दाता बन्दूक हाथ में लिए दृढ़ता से अपनी सांड़नी पर बैठे थे।

मैंने सहमते हुए कहा—"किसुन, अब क्या होगा ?" किसुन ने कहा—"अन्नदाता ने रेजीडेण्ट साहब बहादुर पर हरकारा भेजा है। महल की रक्षा को सिपाही आ रहे हैं। शायद ठाकुर को गिरफ्तार कर लिया जाएगा।"

"पर वह जान पर खेल जाएंगे किसुन, दाता बात के बड़े धनी हैं।"

"आप के लिए कोई खतरा नहीं है, सरकार ! अन्नदाता ने पचास सिपाही ड्योढ़ियों पर भेज दिए हैं।"

"भाड़ में जाएँ पचास सिपाही ! उन से कह दे कि वे यहाँ ले चले जाएं, मुझे उन की जरूरत नहीं है। दाता आ कर पहले मेरा सिर काट लें। जा, तू दाता से मेरी यह अरदास अर्ज कर दे।" मैं ने गुस्से से भरे कंठ से कहा।

किसुन ने मेरी हालत समझ ली थी। उस ने कहा—"सब ठीक हो जाएगा, सरकार ! रेजीडेण्ट साहब बहादुर खून-खरावा नहीं होने देंगे।"

"पर तू मेरी अरदास दाता से अर्ज कर दे।"

"मैं वहाँ कैसे पहुँच सकता हूँ, सरकार ! देख नहीं रहीं हैं। राज की फौज ने उन्हें चारों ओर से घेर रखा है।"

"तो तलवार दे, मैं अपना सिर खुद काट देती हूँ। तू मेरा सिर दाता की सेवा में ले जा कर कहना—"दाता, यह तुम्हारी चम्पा है, जो निर्दोष है।"

इतना कह कर मैं फूट-फूट कर रोने लगी। केसर मुझे गवाक्ष से हटा कर कक्ष में ले आई। उस ने कुछ संकेत-सा करते हुए किसुन से कहा—"किसुन, नीचे जा कर देख तो, वहाँ क्या हो रहा है।" रो वह भी रही थी। किसुन चला गया। मुझे पलंग पर लिटा कर केसर मेरा सिर अपनी गोद में रख कर बैठ गई।

नीचे से शोर-गुल की आवाज़ आ रही थी। पर दाता का धौंसा धमाधम बज रहा था। पहर दिन चढ़ गया था और अब महल के बाहरी मैदान में हंगामा-सा मच रहा था। पर कोई खून-खराबी की सूचना नहीं मिली थी। एकाएक बन्दूक छूटने की आवाज़ सुन कर मैं हड़बड़ा कर झरोखे की ओर भागी। केसर भी भागी। मैंने देखा—नर-मुण्ड ही नर-मुण्ड थे और रेजीडेण्ट साहब बहादुर के गोरे लाल-लाल वर्दी पहने भीड़ में घोड़ों को पेल रहे थे। दाता वहाँ से काफी दूर थे, पर मैं उन की हवा में हिलती दाढ़ी को बराबर देख रही थी। उन की बन्दूक अब भी तनी

हुई थी। कुछ हुज्जत-सी हो रही थी और कोई गोरा साहब घोड़े पर सवार उन से बातचीत कर रहा था। थोड़ी ही देर में मैं ने देखा—वे लोग दाता को और उनके सब सवारों को लेकर एक ओर चल दिए हैं। भीड़ भी उन

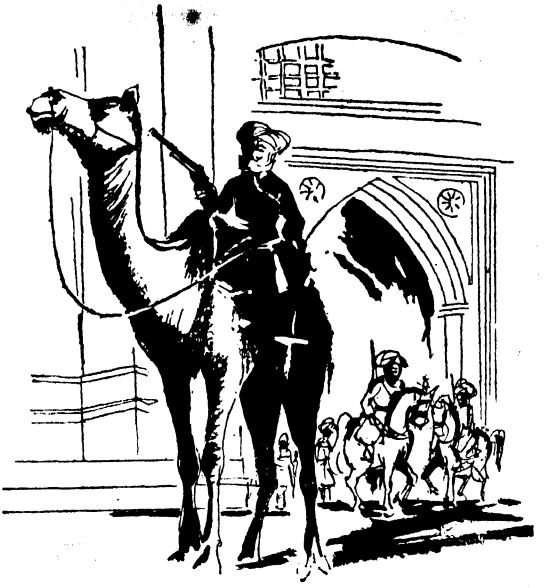

के पीछे शोर करती जा रही है। इसी समय किसुन ने आ कर खबर दी कि वे उन्हें रेजीडेन्सी ले गए हैं। अन्नदाता भी रेजीडेन्सी गए हैं।

मैं किसुन का मुँह ताकने लगी। उन ने कहा—"चिन्ता की बात नहीं है, सरकार! रेजीडेन्ट साहब बहादुर बहुत भले आदमी हैं। वह सब ठीक कर लेंगे। आप अब हाथ-मुँह धो कर कलेवा कर लीजिए। आइए।" पर मैं टस से मस न हुई। मैं यह सोच कर मरी जा रही थी कि यह सब मेरे ही कारण हो रहा है। पर मैं करूँ भी क्या? कुछ मेरी समझ में नहीं आ रहा था।

किसुन का अनुरोध मैं अंततः टाल न सकी। विचित्र पुरुष है यह किसुन। इसे देख कर तो जैसे मेरा सारा ही अपनापन गल-सा जाता है। उस के अनुरोध में आग्रह अनुनय और स्नेह का एक ऐसा पुट है कि उस के सामने विवश हो जाना पड़ता है। मैं यहाँ अपनी विपत में केसर ही को अपना अवलम्बन समझती थी, पर इन दो दिनों में ही मैं ने जान

लिया कि किसुन उस मे अधिक मेरा अवलम्बन है। वह साहसी, चतुर, धैर्यवान, विनम्र और प्रत्युत्पन्नमति पुरुष है। पुरुष अभी कहाँ है वह, निपट तरुण है। उस का सब से बड़ा गुण है निर्द्वन्द्व रहना। जैसे विपदा उसे व्यापती नहीं है। चिन्ता उसे छूती नहीं है। आलस्य उसके पास फटकता नहीं है। खीझना वह जानता नहीं है। इतने गुण एकत्र भला किसी पुरुष में मिल सकते हैं? फिर वह पुरुष, जो इतने गुणों का अधिष्ठाता हो, क्या साधारण मनुष्य कहा जा सकता है? वह तो नर-रत्न है। फिर, अभी दो ही दिन तो हुए हैं, इस के सारे गुण मैं ने देखे कहाँ हैं, भला। परन्तु यह गुणों का सागर नर-रत्न—राजा नहीं, रईस नहीं, प्रतिष्ठित पुरुष नहीं। एक गोल है, गुलाम है, चाकर है। मेरी भाँति इस का भी रक्त स्वामी के यहाँ बन्धक है। कैसी भाग्य-विडम्बना है! कैसा संसार का व्यवहार है! एक अन्नदाता की वह मूर्ति जो मैंने पिछली रात देखी थी—घृणित पशु के समान, गन्दे सूअर के समान, और एक यह मूर्ति—जीवन से ओतप्रोत। पर वह राजा, अन्नदाता और यह गोला, गुलाम चाकर! छी! छी!

कैसी एक वितृष्णा से मेरा मन भर गया। मैं ने आँख उघार कर किसुन की ओर देखा—भूल गई मैं इस क्षण दाता को, अन्नदाता को, कुंवरी को, चारों ओर बिखरी हुई विपत्ति को, अपने अंधकारपूर्ण आगामी जीवन को। मैं अपना पाप-कलुष छिपाऊँगी नहीं। सत्य ही कहूँगी—मैं समूची आँखों से किसुन को जैसे पीने लगी। कभी प्यार का ऐसा वेग मैं ने अपने मन में अब तक अनुभव नहीं किया था। और जब उस ने तौलिया, चिलमची, गर्म पानी का सागर ला कर पलंग के पास रख कर मुझे हाथ-मुँह धोने को कहा तब मैं यह सोच-समझ ही न सकी कि वह एक चाकर का अनुरोध है या एक स्वामी की आज्ञा। मैं औरत हूँ और वह मर्द, यह मैं उस एक ही क्षण में सम्पूर्ण रूप में जान गई। जैसे-जैसे उस ने कहा, मैं ने वैसे-वैसे ही किया। उस की इच्छा के अनुसार काम में मुझे जैसे एक अनिर्वचनीय सुख मिल रहा था। पान का बीड़ा उस के

हाथ से ले कर मैंने स्निग्ध दृष्टि से उसे देख कर कहा—"किसुन, केसर को भी कुछ खिला-पिला और तू भी कलेवा कर फिर मेरे पास आ।"

मेरी प्रसन्न मुद्रा देख वह खिल गया। वाह ! कैसा मधुर मोहक हास्य उस के होंठों पर फैला ! करोड़ों रुपयों के मूल्य का। मोती की लड़ी-सी धवल दन्त-पंक्ति—पतली-सी, काली, छोटी-छोटी मूँछों के भीतर से झाँकती कैसी प्रिय लग रही थी ! मैं ठगी-सी देखती रह गई।

केसर भी जैसे मेरे भाव को समझ गई। एक अस्पष्ट भाव उस की भौंहों में आया, उस ने मेरी ओर क्षण भर देखा। किसुन ने हंस कर कहा—"आप भी यहीं···"

"नहीं, मैं उठती हूँ।" केसर उठ कर बाहर चली गई। उस के पीछ किसुन भी। और मैं आँखें बन्द किए पड़ी चुपचाप किसुन की मूर्ति को अपने हृदय-मन्दिर में बैठी देखती रही।

कुछ देर बाद जब वह आया तब मैं ने कहा—"किसुन जरा देख तो, उधर क्या हो रहा है। कुँवरी का हाल भी तो देख आ। चाहे तो केसर को भी ले जा।"

"नहीं, मैं ही जाता हूँ, सरकार ! वह यहीं आप की खिजमत म रहे।" वह एक प्रसन्न दृष्टि मुझ पर डाल उस दृष्टि में मुझे उलझाता-सा चला गया।

थोड़ी ही देर बाद एक नए शोर ने हमें चौकन्ना कर दिया। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि भीड़-की-भीड़ मेरे महल की ओर आ रही है। मैं उठ कर बैठ गई। केसर गवाक्ष में दौड़ गई और बदहवास-सी लौट आई। उस ने हाँपते-हाँपते कहाँ—"गजब हो गया, चम्पा ! कुंवरी रंग-महल से जा रही हैं।" मैं ने उठ कर देखा सुखपाल पर कुंवरी जा रही थीं। आगे नंगी तलवार हाथ में लिए भूरसिंह थे। पीछे बन्दूकधारी सिपाही। उन के पीछे बहुत-सी भीड़ थी। मैं ने कहा—"यह क्या हो रहा है ? कुंवरी कहाँ जा रही है ? क्या वह रंगमहल छोड़ रही हैं ?

तू जा कर देख।" केसर नीचे गई। उस ने लौट कर बताया—"वह रेजीडेन्सी गई हैं।"

मैं पीपल के पत्ते की भाँति काँपने लगी। मैं इतनी भयभीत हो गई कि मानो अभी मेरी सांस रुक जाएगी। मैं ने पूछा—"क्या उन्हें रेजीडेन्सी साहब बहादुर ने गिरफ्तार किया है?" क्या दाता भी गिरफ्तार हो गए हैं?" परन्तु इन सब बातों का कुछ भी उत्तर नहीं मिला। उत्तर कौन दे सकता था? किसे भीतरी बातें मालूम थीं। मेरे महल पर तो सिपाहियों का पहरा था। केसर को बाहर जाने की आज्ञा न थी। मै भी जा नहीं सकती थी, फिर जाती तो कहाँ? कौन यहाँ मेरा अपना था? हम दोनों असहाय स्त्रियाँ एक दूसरे का मुँह ताकने लगीं। किसी के मुँह से बोल न फूटा। एक अज्ञात भय की सिहरन हमारे अंग में व्याप गई।

सूरज चढ़ने और फिर उतरने लगा। धूप पीली पड़ती गई। फिर संध्या के अन्धकार ने संसार को ग्रस लिया, पर हमें बाहर की कुछ भी खबर नहीं मिली। चौक में सन्नाटा छा रहा था। खाने-पीने की हमें सुध ही नहीं रही। रह-रह कर मुझे कुंवरी का ध्यान आता। उन का वह शान्त, स्निग्ध, निर्लिप्त मुख। कभी मैं अन्नदाता के उस रात वाले घृणित रूप का ध्यान करती। कभी दाता की हवा में फहराती हुई दाढ़ी बरबस मेरा मन खींच लेती। कभी किसुन की धवल दंत-पंक्तियाँ आँखों में व्याप जातीं। कभी मुझे मा की याद आती। बचपन के वे चाँदी के दिन और सोने की रातें, जब हम निर्द्वन्द्व गढ़ी में रह रहे थे। दाता हमें प्यार करते थे। मा हमें मिठाइयाँ खिलाती थीं, हम मीठे सपने देखती थीं। मीठी नींद सोती थीं। वाह, कैसे प्यारे थे वे बीते हुए बचपन के दिन!

बहुत रात बीते किसुन आया। वह बहुत थक गया था। पर इसकी उसे चिन्ता न थी। आते ही उस ने केसर की ओर देख कर पूछा—"सरकार का नहाना-खाना हुआ?"

"तू वहाँ की कह, किसुन ! वहाँ क्या हो रहा है ?" मैं ने व्यग्र भाव से पूछा।

"सब ठीक हो गया सरकार। उस ने शान्त वाणी से कहा। फिर धीरे-धीरे सब बातें उस ने बताईं। नई रानी ने खुद जा कर रेजीडेण्ट साहब बहादुर से मुलाकात की। उन से साफ कह दिया कि यह मेरा अपना मामला है, इस में मैं किसी को दखल न देने दूंगी। हाँ, मैं जिस तरह चाहूँगी रहूँगी। कोई मेरे साथ जबर्दस्ती किसी प्रकार की नहीं कर सकता। दर्बार चाहें तो मैं रंगमहल छोड़ सकती हूँ। वह रियासत में कहीं भी मेरे रहने का प्रबन्ध कर दें। दाता को भी इस मामले में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। 'रानी पर कोई जोर-जुल्म नहीं होगा। वह स्वेच्छा से जहाँ चाहें मर्यादा से रह सकेंगी।' यह आश्वासन अन्नदाता ने दिया है। कुंवरी रंगमहल म ही खुशी से रहें, यह वचन भी उन्हों ने दिया है। रेजीडेण्ट साहब बहादुर बीच में पड़े हैं। उन्हों ने नई रानी से कहा है कि यदि आप पर कोई जोर-जुल्म करे तो मेरे पास आ सकती हैं। जैसे ठाकुर साहब आप के पिता हैं, वैसे ही आप मुझे भी समझिए। इन बातों से ठाकुर साहब भी आश्वस्त हुए हैं। वह गढ़ी को लौट गए हैं। उन्हों ने बहुत चाहा कि कुछ सिपाही छोड़ जाएं। रानी को गढ़ी ले जाने का भी उन्हों ने आग्रह किया, फिर यह भी कहा कि उन का सब खर्च वही करेंगे, पर रानी साहिबा ने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। उन्हों ने कहा—"आप जिन्हें मुझे दे चुके हैं, वही जिस तरह चाहेंगे मेरा भरण-पोषण करेंगे और मुझे जो कुछ लेना-देना होगा उन्ही से लूंगी-दूंगी। वह मेरे धर्म के पति और मैं उन की धर्म की पत्नी हूँ। मेरे उन के बीच धर्म का युद्ध ठन गया है। सो मेरा भाग्य है। अब मैं स्वयं ही अपने भाग्य से निपट लूंगी। और किसी को बीच में पड़ने की जरूरत नहीं है। उन्हों ने उन से यह भी कहा—"पिता अपना धर्म-पालन कर चुके। उन्हों ने मुझे जिस के हाथ दिया है उन से मेरी जैसी निभेगी निभाऊँगी।" हुजूर रेजीडेण्ट साहब बहादुर नई रानी से मिल कर बहुत

खुश हुए हैं। उन्हें उस रात की सारी बात मालूम हो गई है। इस से उन्हों ने अन्नदाता को खूब फटकारा है और कहा है कि सब बातें वह जनाब एजेंट गवर्नर जनरल बहादुर को लिख देंगे, और यदि वह अपना चाल-चलन ठीक न रखेंगे तो वह ए. जी. जी. को रिपोर्ट देंगे कि रियासत खालसा कर ली जाए और अन्नदाता को गद्दी से उतार दिया जाए। इन सब बातों से अन्नदाता बहुत डर गए हैं।

सब बातें सुन कर मैं भी डर गई। न जाने मेरा क्या होगा? कुंवरी अब क्या करेंगी? मैं ने डरते-डरते पूछा—"क्या कुंवरी रंगमहल में लौट आई हैं?"

किसुन ने कहा—"हां, वह रंगमहल में लौट आई हैं।"

"और दाता?"

"वह गढ़ी लौट गए हैं। चलती बार रानीजी के गले लग कर वह बालक की तरह फूट-फूट कर रोने लगे थे। ठाकुर साहब बहुत भले हैं, सरकार। वह बहुत ऊँच-नीच बातें रानीजी को समझा गए हैं। उन्हों ने कहा है—'सोच-समझ कर अपना लाभ-हानि देख कर रहना। पति से किसी हालत में मान न करना, उन्हें ईश्वर के समान समझना। ये ही सब बातें उन्हों ने रोते-रोते कहीं। और साँड़नी पर सवार हो कर वह चले गए।"

मैं ने पूछना चाहा कि मुझ अभागिन कलंकिनी के लिए भी कुछ उन्हों ने कहा, पर मेरे मुँह से बोल न फूटा। मैं चुपचाप रोती रही। आँसू मेरी आँखों से ढलकते रहे। किसुन ने कहा—"अन्नदाता भी महलों में आ विराजे हैं। उन का मुँह उतरा हुआ है और मिजाज बिगड़ा हुआ।"

मैं ने पूछा—"क्या तू ने उन से बातें की हैं?"

"नहीं, मैं सीधा यहाँ आप की खिजमत में आ हाजिर हुआ हूँ। मुझे आप की फिकर थी।"

रुक कर मैं ने किसुन की ओर देखा। फिर आँखें नीची कर लीं।

खाने-पीने का उसने बहुत आग्रह किया, पर मेरी किसी बात में रुचि नहीं की। मैं चुपचाप पलंग पर पड़ रही। इस के बाद किसुन उठा। उस ने कहा—"मैं बाहर ही हूँ सरकार! आवश्यकता हो तो पुकार लेना।" यह कह कर वह दरवाजे का पर्दा ठीक करता हुआ बाहर चला गया।

केसर को भी मैं ने अपने ही शयन-कक्ष में सोने का आग्रह किया और मैं बड़ी देर तक अपने भूत-भविष्य का विचार करती रही। फिर मेरी आँख लग गई।

: २१ :

# रियासत

रियासत चौबीस लाख वार्षिक आय की थी। ग्यारह तोपों की सलामी और महाराजाधिराज को राजा का खिताब था। पूरे लवाजमे के साथ महाराज का नाम दो लाइनों में समाता था। परन्तु जब मैं उन के पांच अक्षर का नाम ही आप को नहीं बता रही हूँ, तब उन लम्बी और निरर्थक उपाधियों के वर्णन से ही क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। अंग्रेज बहादुर की यही तो करामात थी। राजा-रईस बड़ी-बड़ी दावतें देते, बड़े-बड़े चन्दे देते और बदले में दो-तीन अस्तव्यस्त अंग्रेजी शब्दों के पुछल्ले उन के नाम के आगे-पीछे लग जाते थे। इन पुछल्लों को अपने नाम के आगे-पीछे लगाने में ये राजा-रईस उसी प्रकार खुश होते थे, जिस प्रकार अपने कपड़ों में हीरे-मोती टाँक कर खुश होते थे। पर कुछ लाभ न इन से था, न उन से। हास्यास्पद वे उन से भी होते थे और इन से भी, क्योंकि अंग्रेज जब चाहते उन के कान खींच सकते थे। उन की स्थिति अंग्रेजों के पालतू कुत्तों से अधिक अच्छी न थी, क्योंकि उन की सभी शान-शौकत, सारा ठाठ-बाट सब कुछ सरकार अंग्रेज बहादुर की कृपा-कोर पर निर्भर था। वे उन की कृपा ही के सहारे जीते, हीरे-मोती जड़े कपड़े अंग पर पहनते और ए० बी० सी० डी० के अक्षरों की अस्तव्यस्त उपाधियाँ अपने नाम के आगे लगा कर इतराते थे।

परन्तु यह बात नहीं थी कि ये राजा-रईस निर्गुण और निकम्मे ही होते थे। उन में बहुत से दुर्लभ गुण भी होते थे। परन्तु वे गुण किसी गिनती में न थे। इन्हीं राजा साहब को लीजिए। उनकी कुत्सा तो मैं ने पहली रात में ही देख ली थी। धीरे-धीरे गुणों को भी देखा। बहुत बार उन गुणों से अभिभूत हो गई। बहुत बार आश्चर्यचकित। बहुधा मैं सोचती—यह कितनी अद्‌भुत बात है। एक ही पुरुष में सूअर, सिंह, राजहंस अथवा देवता-दानव के गुणों-दोषों का समावेश है। पर मेरे सोचने से ही क्या होता था। जो वस्तु थी, वह तो थी ही।

यों रियासत थी दूसरे दर्जे की, पर उस की प्रतिष्ठा बहुत थी। घराना पुराना था। राजपूतों की खरी जाति थी। कभी यहाँ के पुरखों ने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ की थीं। वीरता के लिए यह घराना इतिहास-प्रसिद्ध था। आज तो वीरता का नाम भी शेष न था। मैं नहीं कह सकती कि कभी महाराजाधिराज को तलवार मियान से बाहर करने की नौबत आई होगी। हाँ, शिकार में बन्दूक का प्रयोग वह करते थे। शिकार की बहादुरी की इन की भी बड़ी-बड़ी कहानियाँ मशहूर थीं।

राजधानी में बहुत-सी नई बातों का समावेश हो गया था। बिजली की रोशनी तो मेरे वहाँ आने के कुछ वर्ष पहले ही आ गई थी। गली-कूचों में अब भी मिट्टी के तेल की लालटेनें लगी थी। खास-खास सड़कें खूब चौड़ी, साफ और चमकदार थीं, पर गली-कूचे बहुत गन्दे थे। पानी का निकास उन में था ही नहीं। लोग मुक्त भाव से गलियों में पेशाब करते, गन्दगी फेंकते और इस से भी अधिक यह कि पशु वहाँ की सड़कों पर स्वच्छन्द विचरण करते रहते थे। कबूतरों के चुगने के लिए ठौर-ठौर पर थान बने थे। उन्हें लोग मनों बाजरा डाल कर चुगाते थे। उन की समझ में यह एक धर्म का काम था। सड़क-चौराहों पर हजारों कबूतरों को निर्भय स्वच्छन्द बाजरा चुगते देखना वास्तव में चमत्कारिक लगता था।

महल खूब शानदार था। रंगमहल तो सारा ही मकराने का बना

था। शेष इमारतें भी कीमती पत्थर से बनी थीं। मैं जिस महल में उतारी गई थी, वह छोटा-सा तो था, पर सर्वाधिक आधुनिक साज-सज्जा से सजा था। कीमती विलायती कालीन, बड़े-बड़े मूल्यवान तैल चित्र। रंगीन विल्लौर और काँच के फर्नीचर तथा भारी झाड़-फानूसों से सजा हुआ वह महल एक भव्य शोभा की खान बना हुआ था। यह महल इन्हीं वर्तमान महाराजा ने बनवाया था। उस में बिजली का प्रकाश, पंखे और दूसरे सब सुख-साधन उपस्थित थे। महल के शेष भागों से वह एक प्रकार से पृथक् था। रंगमहल वर्तमान महाराज के दादा का बनवाया हुआ था। वह बहुत विशाल था, उस मे सात खण्ड थे। महाराज के पिता उसे आधुनिक साज-सज्जा से सँवारने-सजाने को विलायत से विशेषज्ञ साथ लाए थे। पर बनावट उस महल की थी, पुराने जमाने की। कमरे अंधेरे, खिड़की-रोशनदानों से रहित और अनावश्यक रूप से बड़े तथा शानदार। बड़े-बड़े चौक, बड़े-बड़े दालान, बड़े-बड़े महराब सर्वत्र थे। रंगमहल वास्तव में प्राचीन राज्यशाही की एक यादगार था। उस के सात खण्डों में लगभग सौ से ऊपर कमरे थे, जो सभी आदमियों से भरे रहते थे। महल का सब से शानदार कमरा दरबार हाल था। वह सब से बड़ा था। साल के तीन सौ पैसठ दिन वह खाली पड़ा रहता था। जब लाट साहब रियासत में आते या नए राजा की गद्दीनशीनी होती, तभी वह सजाया जाता था। यों दशहरे की नजर-भेंट भी हाल में ली जाती थी। उस के लिए कालीन, फर्श, कुर्सी, कौच सब पृथक् थे। दशहरे का जल्सा ठाठ का होता था। महाराजा बैठते थे जरी की पोशाक पहन कर, हीरे-मोतियों से सज कर, चाँदी के तख्त पर और खवास लोग उन पर चँवर ढालते थे। भाट-चारण विरद बखानते थे। सरकारी सेवक, कर्मचारी और प्रजावर्ग नज़र भेंट चढ़ाते थे। महाराजा सबको सिरोपा व इनाम-इकरार देते थे। गाजे-बाजे होते थे, रंडी-भाड़ आते थे। गवैए और कलावन्त बुलाए जाते थे, सब के नाच-मुजरों की धूम रहती थी। फिर सवारी निकलती थी। हाथी सजाए जाते थे। तोपें छूटती थीं। भैंसे कटते थे।

देवी की पूजा होती थी। रात भर शराब के दौर चलते थे। दशहरे का त्योहार वास्तव में एक खास जातीय उत्सव होता था, जिस में रियासत के छोटे-बडे सभी दिल से भाग लेते थे।

महाराज राज-काज में बहुत दखल नहीं दे पाते थे। सब काम राज्य के दीवान करते थे। दीवान उस समय एक मद्रासी सज्जन थे, जिन्हें सरकार ब्रिटानिया ने अपने यहाँ मे भेजा था। रेजीडेंट साहब बहादुर ने रियासत की फिजूलखर्ची और इन्तजाम का खरीता बड़े लाट को भेजा था। उन्हों ने जाँच का हुक्म ए. जी. जी. को दिया था। ए. जी. जी. ने फलतः यह नया दीवान भेजा था। बूढ़े आदमी थे। नाम के लिए हिन्दुस्तानी, पर काम में सब तरह अंग्रेज। रियासत का प्रबन्ध उन्हों ने कड़े हाथों से किया था। महाराजाधिराज तक उन से भय खाते थे और उन के कृपा-कटाक्ष की सदा कामना किया करते थे। वैसे दीवान साहब बड़े हंसमुख थे। पर मिलनसार बिलकुल न थे। केवल काम सिर लोगों से मिलते और काम की ही बातें करते थे। अंग्रेज सरकार उन से खुश थी। उन के हाथों में रियासत एक प्रकार मे अंग्रेजी हुकूमत में ही थी। महाराज को नियत राशि जेब-खर्च को मिलती थी। उन की लन्तरानियों पर दीवान बहुधा चश्मपोशी करते थे और उन्हें वह उन का व्यक्तिगत मामला मानते थे। जब तक उन के रियासती इन्तजाम में खलल न पड़े, वह महाराज के कामों में दखल नहीं देते थे। इस प्रकार राजा और दीवान में कौन स्वामी था, कौन अधीन, इस का पता ही न लगता था। महाराजाधिराज भी इन बातों से खुश थे। रियासत के सब प्रबन्धों के झंझट से वह बरी थे और अपने रस-रंग में स्वतन्त्र। उन के रंगमहल की रंगीनियों में कोई बाधा न आती थी। केवल इसी बार रेजीडेण्ट और दीवान को दखल देना पड़ा था। यदि वे ऐसा न करते तो दाता जरूर ही खून-खराबी करते। कुंवरी ने भी इस अवसर पर असीम साहस का प्रदर्शन किया था। वह पर्दे की पुरानी परम्परा और रंगमहल की मर्यादा का उल्लंघन कर के, बिना ही अन्नदाता की आज्ञा-अनुमति के रेजीडेण्ट के

बंगले पर जा धमकी थीं। पर यह उन्हीं के साहस का परिणाम था कि मामला सुलझ गया।

जनाब रेजीडेण्ट साहब बहादुर को उन्हों ने सुहागरात की सारी घटना ज्यों की त्यों सुना दी थी। महाराज ने स्वीकार किया था कि नशे की झोंक में यह गलती हो गई, पर कुंवरी ने गढ़ी वाला किस्सा भी उन्हें सुना दिया। न जाने कहाँ से, कैसे, उन्हें सब बातों का राई-रत्ती भेद लग गया था। जब सब बातें सुना कर कुंवरी ने जनाब रेजीडेण्ट साहब बहादुर से अपील की कि कोई पत्नी अपने सुहागरात के दिन कैसे अपने पति का यह आचरण सहन कर सकती है, तब साहब ने कुंवरी का समर्थन किया। साहब की मेम साहबा ने भी कुंवरी का पक्ष लिया और जब कुंवरी ने यह दरख्वास्त की कि मैं केवल इतना ही चाहती हूँ कि महाराज मेरी मर्जी के विपरीत मेरे निकट न आने पाएँ, तब रेजीडेंट साहब बहादुर ने उन्हें सहायता का वचन दिया और राजा से भी लिखवा लिया। इतना ही नहीं, उन्हों ने ए. जी. जी. और वाइसराय को भी बहुत सख्त नोट लिखा और इस बात पर भी जोर दिया कि चंपा को रंगमहल से हटा दिया जाए। पर जब कुंवरी से कैफियत तलब की गई तब उन्हों ने साफ कह दिया कि चम्पा के विरुद्ध उन्हें कुछ भी शिकायत नहीं है।

अब राजधानी में घर-घर कुंवरी के साहस और मेरे साथ राजा के सम्बन्ध की चर्चा हो रही थी।

: २२ :

# राजा के गुण

महाराजाधिराज के मैं ने दो ही बार दर्शन किए थे। एक गढ़ी में; जब कि मैं उन के रुआब और राज-पद से अभिभूत हो गई थी। उस समय मेरे लिए सब कुछ अननुभूत, अद्‌भुत, अतर्कित और अकल्पित था। दूसरे यहाँ महल में; जब कि मेरा मन उन के प्रति वितृष्णा और घृणा से भर गया था। दोनों ही अवसर ऐसे असाधारण थे कि दोनों ही बार मेरी चेतना मूर्च्छित हो गई और मैं अपने में सीमित रही ही नहीं। परन्तु आगे चल कर उन के गुण-दोषों का मुझे विस्तृत परिचय मिला।

महाराजाधिराज को तीस हजार रुपए जेब-खर्च के रियासत से प्रति-मास मिलते थे, और इतनी ही आय उन की व्यक्तिगत जायदाद से हो जाती थी। बम्बई, कलकत्ते में उन की कोठियाँ किराए पर चलती थीं। वह अनेक कम्पनियों के हिस्सेदार थे। जब बम्बई-कलकत्ते जाते, सट्टा-फाटका भी करते थे। घुड़दौड़ में उन्हें दाँव लगाने का बड़ा शौक था। इस प्रकार उन की वार्षिक आय ६–७ लाख रुपये के लगभग थी, जो सब की सब लान-तान में खर्च हो जाती थी। यह तो मुझे बाद में मालूम हुआ कि वे संस्कृत के पण्डित और अंग्रेज़ी के भी विद्वान पुरुष हैं। दो बार विलायत हो आए हैं। एक बार तो विश्व-भ्रमण भी कर चुके हैं।

वह अंग्रेज़ों की भाँति अंग्रेज़ी धारा-प्रवाह बोल सकते थे। श्लोकों का अर्थ लगा सकते थे। सैकड़ों श्लोक उन्हें कण्ठस्थ थे। हिन्दी के वह केवल काव्य-मर्मज्ञ ही नहीं, अच्छे कवि भी थे। जब वह मौज में होते, कविता करते और मुझे सुनाते। मेरे आने के बाद तो उन का दिन-रात का अधिकांश समय मेरे ही सान्निध्य में कटता था। वह कहा करते थे—"पहले पण्डितों की सभा में अपना काव्य सुना कर उन की प्रशंसा प्राप्त करने की चेष्टा करता था, पर अब तो तुझे ही सुनाता हूँ, तेरे ही लिए काव्य रचना हूँ, तू ही मेरी सरस्वती का आलम्बन है। पण्डित लोग भाँति-भाँति का मुँह बना कर मेरी रचनाओं की प्रशंसात्मक आलोचना करते थे। तू केवल मुसकरा कर मेरी ओर देखती है, पर तेरा यह देखना मुझे बहुत भाता है। बहुत मीठा लगता है। अब उन पण्डितों के पोपले, झुर्रियों से भरे मुखों की प्रशंसा से मेरा क्या प्रयोजन है, जब तू साक्षात वीणाधारिणी सरस्वती, शरदकालीन मेघ के समान उज्ज्वल शुभ्र शोभाधारिणी, शरदेन्दुमुखी मेरे सम्मुख उपस्थित है।

ऐसी ही बातें वह करते थे और मैं कलमुँही ये बातें सुन-सुन कर मस्त हो जाती थी। भला किसी को इतने बडे राजा के मुख से ऐसी प्रशंसा सुनने को काहे को मिली होगी, खास कर मुझ जैसी मूर्खा गोली-गुलाम को। मैं सुनते अघाती नहीं थी। जी चाहता था सुनती ही रहूँ। और राजा इस से बहुत प्रसन्न हो जाते थे।

संगीत में भी वह पारंगत थे। सितार, मृदंग और इसराज वह बड़े कौशल से बजा सकते थे। बड़े-बड़े कलावन्ती उन के सामने कान पकड़ते थे। उन का आलाप मेघ-गर्जना के समान था। वह वातावरण में भू-कम्प-सा लाता था। गुणी गुणी की कद्र भी करता है। बड़े-बड़े गुणी-कलावन्त दूर-दूर से आ कर अपनी कला दिखाते, हफ्तों जलसे होते और लोग खूब इनाम-इकराम ले कर राजा का जय-जयकार करते थे। राजा बड़े भारी दाता थे। मुक्त हाथों से याचक को देते थे। विद्वान् कवि जो भी उन के सामने पहुँच गया, उसे पाँच हजार से कम मुद्रा नहीं देते थे।

सितार में उन्हों ने कुछ खास परिवर्तन किए थे और इसराज में भी कुछ नए सुधार किए थे। संगीत पर उन्हों ने एक शास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखा था, जिसे वह मित्रों को भेंट दिया करते थे।

नानाविध भोजन-व्यंजन बनाने में भी वह एक थे। अपने हाथ से उत्तम खाद्य-पेय भोज्य बनाने और मित्रों को खिलाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। और अब तो लगभग सभी मित्रों का स्थान मैं ने ले लिया था। वह मुझे खिलाते नहीं थे, भोग लगाते थे—जैसे भक्त देवी-देवताओं को भोग लगाते हैं। विविध पक्वान्न बनाने का उनका शौक इतना बढ़ा-चढ़ा था कि कभी-कभी तो दिन भर उन का इन्हीं कामों में बीत जाता था। उनकी इन बातों से मैं बहुत ढीठ हो चली थी। अपनी हैसियत भूल गई थी। कभी-कभी गुस्ताखियाँ कर बैठती थी। वह मेरे ऊपर गुस्सा बहुत कम करते थे, पर जब करते थे तब बख्शते नहीं थे। मैं आगे बताऊँगी कि यहाँ आने के एक सप्ताह बाद ही किस प्रकार उन्होंने चाबुक से मेरी खाल उधेड़ डाली थी।

शिकार का शौक उन का बेढ़ब था। बन्दूक हाथ में ले कर सीधे शेर के सामने जा डटते थे। निशाना इस कदर अचूक होता था कि शायद ही कभी खता होता हो। रंगमहल का तमाम वराण्डा और उन की मर्दानी बैठक उनके मारे हुए शेरों, चीतों, गेंडों, जंगली भैंसों और मगर-मच्छों के सिरों और खालों से भरी हुई थी। बड़े-अंग्रेज अफसर उनसे केवल शिकार की ही दोस्ती रखते थे। मगर वाह रे अंग्रेज बच्चे! दोस्ती की जगह दोस्ती रहती थी। राजा को वह बख्शते नहीं थे। तार में खींच रखा था उन्हें। उन्हीं का खाते और उन्हीं को आँखें दिखाते थे। पर राजा को इस की विशेष चिन्ता न थी। वह अंग्रेजी लिबास पहन, अंग्रेजों के साथ वैसे ही अंग्रेजी बोलते थे। तब कौन कह सकता है कि उनमें एक अधीन भारतीय है और दूसरा प्रतापी अंग्रेज। वह परम वैष्णव थे। श्रीजी का उनका इष्ट था। श्रीजी उनके कुल-देवता थे। प्रातःकाल वह नित्य प्रहर पूजा-चर्या में व्यतीत करते थे। परन्तु खान-

पान के वैष्णव न थे। पक्के मांसाहारी थे। राज की रसोई के अतिरिक्त उनका पृथक बावर्चीखाना था, जहाँ दो मुसलमान और बावर्ची भिन्न भिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थ तैयार करते थे। वह जैसे गुस्सैल थे वैसे ही दयार्द्र भी थे। गुस्सा उनका तुरन्त उतर जाता था और तब वह बड़े दयार्द्र और कोमल हो उठते थे। बहुधा आँखें उनकी भर आती थीं। कभी-कभी आत्म-प्रतारणा से वह बहुत ही विकल हो उठते थे। उनकी दयालुता की भी बहुत-सी कहानियाँ विख्यात थीं और मुझ भाग्यहीना पर तो उन्होंने दया का दरिया ही बहा दिया था। कभी-कभी तो वह भेड़ की भाँति सीधे और आज्ञाकारी बन जाते थे, पर जब वह अपनी हठ पर उतरते थे तब ब्रह्मा भी उन्हें टस से मस नहीं कर सकता था। हमारे ऐसे ही अद्‌भुत थे महाराजाधिराज, हमारे अन्नदाता, जिनके साथ मैं ने अपने जीवन के इक्कीस वर्ष व्यतीत किए। पूरे इक्कीस वर्ष !

: २३ :

# पूरे इक्कीस बरस

ब्याह के बाद कुंवरी उन्नीस बरस जीवित रहीं। भीतरी महल के केवल दो कमरे वे अपने काम में लाती थीं। जब तक भूरसिंह जीवित रहे, बाहरी आदमियों में वे ही उन के पास आते-जाते रहे। परन्तु उन की मृत्यु तो शीघ्र ही हो गई थी। उन के बाद केवल एक दासी कुँवरी की सेवा में रहती थी। वही उन की सब आवश्यकताएँ पूरी करती थी। आवश्यकताएँ अपनी उन्हों ने बहुत कम कर लीं थी। वह एक सादा--बिना किनारी की सफेद सूती धोती पहनतीं। और स्वयं राँधकर एक समय हविष्यान्न खाती थीं। बाहर का कोई व्यक्ति, न तो स्त्री, न पुरुष उन से मिल ही सकता था, न बात चीत ही कर सकता था। व्रत-उपवास पूजा-पाठ, दान-धर्म वे मुक्त हाथों से करतीं। महाराजाधिराज ने इस

की उन्हें छूट दे दी थी। कभी-कदाच इत्तला करके महाराजाधिराज उन के पास आते। कुशल प्रश्न पूछ कर चले आते। कुंवरी उन्हें ताजीम देतीं, और बहुत कम—केवल आवश्यक बात ही उनसे करती थीं। रोगी होने पर भी वह बड़ी कठिनाई से औषध खातीं। गंगाजल ही उन की महौषध और रामायण उन का आश्रय था। मैं ने बहुत-बहुत चेष्टा की कि एक बार दर्शन की इजाज़त पाऊँ पर बेकार। इजाज़त नहीं मिली। अंतिम समय में भी नहीं। केवल महाराजाधिराज को उन्होंने अन्तिम क्षण अपने निकट बुलाया था। चरणोदक लेने के लिए। उस समय महाराज ने उनसे उनकी अपनी अन्तिम इच्छा पूछी थी—इस पर वे 'कुछ नहीं' कह कर चुप हो गईं। महाराज अश्रु-नयन हो लौट आए। रियासत में उन का बहुत नाम था—मान था। लोग उन्हें दुर्गा का अवतार कहते थे। उनके सम्बन्ध में अनेक बातें—सम्भव-असम्भव—प्रसिद्ध हो गईं थीं। जब वे मरीं—राज्य भर ने मातम मनाया। सारे मन्दिरों-देवालयों में शंख घड़ियाल गूंज उठे। उस दिन राज्य के सभी ब्राह्मणों ने उपवास किया। सभी पुरुषों ने मुण्डन किया और उस के बाद तो निरन्तर कवियों-चारणों की वाणी खुलती गई। उन की गुण-गरिमा—पवित्रता—दृढ़ता—एकान्तता—के बढ़-बढ़ कर कीर्ति रियासत में और राजस्थान में फैलते ही गए। फैलते जा रहे हैं।

मैं बहुत रोई। अब क्या कहूँ। अपना दुःख। विधाता ही यह भेद जानता है कि हाड़-मांस का यह मनुष्य कैसे दुःख का भार सहन कर जाता है। जीवित रहता है।

बड़ी महारानी भी दस बरस जीवित रहीं। मा जी तो अभी भी हैं। पर उन्होंने अब रियासत को त्याग दिया है। वे वृन्दावन में वास कर रही हैं। रियासत में कभी-कदाच एकाध दिन रह जाती हैं।

दाता की मृत्यु होने पर सुना—कि कुंवरानी ने कई दिन अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। बहुत रोईं। रोई तो मैं भी, पर मेरे उस रोने की भला क्या गिनती ! मा दाता की मृत्यु के एक बरस बाद यहाँ आई थी,

उस ने भी तब कुंवरी से मिलने की बहुत चेष्टा की थी—पर कुवरी ने स्वीकार नहीं किया।

मा ने चाहा था—कि वह अब यहाँ मेरे पास रहे–महाराजाधिराज भी सहमत थे–पर मुझे यह ठीक नहीं प्रतीत हुआ। समझा-बुझा कर मैं ने उसे ठिकाने पर ही भेज दिया। जाती बार वह छाती फाड़ कर रोई–मुझ अभागिन को छाती से लगा कर। पर मैं ने पत्थर का कलेजा कर के उसे विदा कर दिया। फिर तो मा के मुझे दर्शन हुए ही नहीं। पर जब तक वह जीवित रही, किशन पचास रुपया माहवार उसे भेजता रहा।

केसर अब बहुत कम मेरे पास आती। उस पर बच्चों का भार था। जैसे वही उन बच्चों की मा थी। अब मेरे सुख-दुःख की एक-मात्र सलाहकार तो वही थी, पर मैं बहुत कम अब उस से मिल पाती थी। अपने आप ही अपने जीवन को धकेलने को अब मैं अभ्यस्त हो गई थी।

: २४ :

# ड्योढ़ियों का नारकीय जीवन

जैसा कि म बता चुकी हूँ, दीवान साहब का बड़ा लम्बा-चौड़ा और खूब संस्कृतमय कठिन-सा नाम था। नाम के पीछे अय्यर की उपाधि थी। रियासत में सब लोग उन्हें दादा साहब कहते थे। महाराज के बाद या कहना चाहिए कि सबसे अधिक रियासत में उन्हीं की तूती बोलती थी। पर उन का वह सारा दौर-दौरा रियासत में ही था, रंगमहल में नहीं। रंगमहल की ड्योढ़ियों के भीतर जिस आदमी का अदल सर्वोपरि था—वह था लालजी खवास। पढ़ा-लिखा छुच्छुम, किन्तु बड़े-बड़े राज्याधिकारियों के कान काटता था। महाराज पर उसका अबाध अधिकार था। रंगमहल में स्याह-सफेद करने का उसे पूरा अधिकार था। उम्र उस की साठ को पार कर गई थी, परन्तु उसका सुडौल शरीर अब तक

भी लोहे के समान मजबूत था। सिर के बाल और दाढ़ी-मूँछ वह सफा-चट रखता था। सिर पर सफेद पाग और अंग पर सफेद अंगा। कमर में धोती और पैर में चमरौधे का देशी जूता। जीवन भर उसकी यही धज रही। रंगमहल में भीतर-बाहर आने-जाने की उसे कहीं रोक-टोक नहीं थी। रानियों से लेकर अदना बांदी तक उसके कृपा-कटाक्ष की मुहताज रहती थी। कोई भी काम कठिन या आसान, उसे वह व्यक्ति चुटकियों में पूरा कर डालता था—बशर्ते कि उसकी मुट्ठी अच्छी तरह गर्म कर दी जाय। उसमें बहुत गुण थे, बहुत शक्ति थी। रियासत में केवल यही एक ऐसा आदमी था, जिस पर न रेजीडेंट साहब बहादुर का बस चलता था, न दीवान साहब का अदल। जनाब रेजीडेंट साहब बहादुर उसे देखते ही टोपी उतार कर 'गुड मार्निंग लाल साहब' कहते थे और अय्यर साहब सब से पहले उसी का मिजाज हंस कर पूछते थे। लालजी सब से हाथ जोड़ नम्रता से बात करता, दीवान साहब और रेजीडेंट को हुजूर कहता, महाराज को अन्नदाता, शेष सब का नाम लेकर पुकारता था। मुझे वह चम्पाबाई कहता था, रानियों को उनका नाम लेकर रानीजी कहता था

अन्नदाता का वह हाथ-पैर था। उसके बिना अन्नदाता का काम ही नहीं चलता था। बड़े-से-बड़े कठिन और असाध्य काम वह कर डालता था। वह कभी धैर्य-च्युत नहीं होता था। कभी साहस नहीं खोता था। जनाब रेजीडेंट साहब बहादुर का पारा जब गर्म होता था और महाराज भी जब उन के पास जाने का साहस नहीं कर सकते थे, अथवा दीवान साहब जब किसी बात पर अड़ आते थे और महाराजाधिराज और उन के बीच कोई उलझन आ अटकती थी, तब लालजी खवास ही का यह दम-खम था कि वह उस मुश्किल को आसान करे।

उत्सवों और जल्सों का, नाच मुजरों का, शिकार का, दावतों का सारा प्रबन्ध लालजी ही करता। इसी से नाच-मुजरे वाले, रंडी-भड़ुए कलावन्त और दूसरे सब गर्जू लोग पहले उसी के तलुए सहलाते थे। जब

उसकी मुट्ठी गर्म हो जाती थी, तभी उनकी महाराज तक रहाई होती थी।

जब लाट साहब का दरबार होता, या दशहरे का दरबार जुड़ता, या महाराज की वर्षगांठ होती तब लालजी महाराज के पार्श्व भाग में गंभीर मुद्रा में खड़ा होता। नजरें गुजारी जातीं और नजर में आए रुपयों और अशर्फियों को लालजी सहेजता जाता। कौन उनकी गिनती करता था, कौन हिसाब-किताब रखता था, कौन देख-भाल करता था ? लालजी ही उन का सर्वेसर्वा था। वह जितना चाहता, अपनी जेब में रखता और जितना चाहता खजाने में जमा करता। बहुधा तो ऐसा होता था कि उस के कृपा-पात्र उसी से रुपए-अशर्फियाँ माँग कर महाराज को नजर देते। यह नजर-भेंट भी बड़ी मजेदार चीज थी। महाराज सिर्फ अपने सेवकों की ही नजर कबूल करते थे। शेष जनों की नजर छूकर वापस कर देते थे। लालजी ही यह निर्णय करता था कि कौन कितनी नजर भेंट करे। लोगों के आने का अनुक्रम भी वही बनाता था।

महलों में जितनी रानियाँ, बाँदियाँ, पड़दायतें और गोलियाँ थीं, उन सभी की गुप्त-प्रकट, अच्छी-बुरी इच्छाएं और आवश्यकताएं लालजी के ही द्वारा पूर्ण होती थीं। केवल उसकी मुट्ठी गर्म होनी चाहिए। अपनी सेवाओं की फीस लालजी रुपयों में नहीं, अशर्फियों से कम बात वह करता ही न था।

रंगमहल का एक भाग ड्योढ़ी कहलाता था। यह महल के भीतर ही रंगमहल का एक पृथक् हिस्सा था। रंगमहल के इस भाग को ऊंची दीवार बना कर पृथक् कर दिया गया था। वह ड्योढ़ी एक रहस्यपूर्ण स्थली थी। इसके भीतर लालजी ही का अबाध अधिकार था। मर्द के नाम केवल लालजी खवास ही भीतर जा सकता था, दूसरा कोई व्यक्ति नहीं। ड्योढियों में तीन सौ से अधिक स्त्रियाँ थीं। वहाँ की सभी बातें गुप्त रखी जाती थीं। राज्य की सातों जात की औरतें वहाँ थीं। रियासत की जिस किसी सुन्दरी स्त्री पर महाराज की नजर पड़ जाए, वह ड्यो-

ढ़ियों में किसी-न-भाँति आ ही जाती थी। भले ही वह कुंवारी हो या विवाहिता, सधवा हो या विधवा। ब्राह्मण, ओसवाल, जैनी और वैश्य लोग, जो अपने को ऊँची जाति का कहते थे, उनमें अभी तक बाल-विवाह का रिवाज है। उन दिनों तो बाल विवाह का ही राजस्थान में बोलबाला था। ये ऊँची जात के लोग छोटी उम्र में लड़कियों का ब्याह तो कर देते थे, पर जब वे बाल-विधवा हो जाती थीं तब उनका फिर ब्याह नहीं हो सकता था। वे जीवन-भर रांड बनी बैठी रहती थीं। बहुधा वे अपढ़ होती थीं। राजस्थान में जब पुरुष ही १० प्रतिशत साक्षर नहीं, तब स्त्रियों की क्या बात। स्त्रियाँ तो २ प्रतिशत भी साक्षरा नहीं थीं। अतः ये बाल-विधवाएँ बहुधा चरित्र-भ्रष्टा हो जाती थीं। कुछ तो इस कारण, और कुछ चरित्र-भ्रष्टा होने के भय से ही विधवाओं का घर में रहना संकट और कठिनाई की बात समझी जाती थी। विधवाएँ न किसी विवाह-समारोह में भाग ले सकती थीं, न सुहागिनों के साथ हंस-बोल सकती थीं। न अच्छा खा-पहन सकती थीं। वे तो सदा विषाद की मूर्ति बनी घर में बैठी रहती थीं। स्वाभाविक था कि अपनी भाभियों और ननदों को हँसते-बोलते और सज-धज कर रहते देख वे कुढ़तीं, कलह करतीं और रोतीं। इस प्रकार जिस घर में एकाध विधवा रहती वह घर कलह, शोक और अशान्ति का अड्डा बन जाता था। फिर संयुक्त परिवार-प्रथा? कहीं-कही तो तीन-चार या इससे भी अधिक विधवाएँ एक ही घर में आ जुटती थीं। उनका जीवन में, गृहस्थी में, समाज में कोई उपयोग न था। वे सामाजिक जीवन की एक उलझन और मुसीबत में बनी रहती थीं। इसी से लालजी ने डयोढ़ियों की रचना करके अपनी रियासत की सब बड़ी जात वालों के लिए एक राहत की राह निकाली थी। जिस का जी चाहे वह लालजी से दर्खास्त कर सकता था कि वह अपनी विधवा बहू या बेटी को डयोढ़ियों में भेजना चाहता है। लालजी आ कर लड़की को देखता था। यदि वह सुन्दर और जवान हुई तो फिर सौदा पटता था। एक अच्छी रकम लालजी की जेब में जाती थी और

तब ड्योढ़ियों से रथ आता था, जिस पर बैठ कर वह अभागिनी स्त्री सदा के लिए उस घर विदा हो जाती थी, क्यों कि ड्योढ़ियों के भीतर कदम रखने के बाद कोई जीवित स्त्री बाहर नहीं आ सकती थी। ऐसा ही लालजी का अबाध शासन था। ड्योढ़ियों में इन स्त्रियों को नाचने-गाने की शिक्षा दी जाती थी। अदब-कायदे सिखाये जाते थे और अवसर आने पर उन्हें महाराजाधिराज की अंकशायिनी बनाया जाता था। किसी-किसी को तो केवल एक बार ही जीवन में यह सौभाग्य मिलता था।

महाराजाधिराज जब अपने निजू शयन-कक्ष में सोते थे, तब ड्योढ़ियों की इन अन्तःवासिनियों को बारी-बारी से महाराज की चरण सेवा में भेजा जाता था। ये अभागिन औरतें लालजी को अपनी बारी के लिए रिश्वतें देती थीं। कभी-कभी तो एक रात की बारी के लिए उन्हें अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपना एकाध गहना भी दे डालना पड़ता था, जिसे लालजी निर्विकार स्वीकार कर लेता था और उस अभागिनी का नाम उस रात की अंकशायिनी स्त्रियों में आ जाता था। इन स्त्रियों को राजा के शयनागार में बहुधा अति कुत्सित वातावरण का सामना करना पड़ता था। राजा शराब में बदहवास हो कर बहुधा बेहोश पड़े रहते, या कै करते रहते, या गाली-गुफ्ता बकते, या मारपीट करते थे। खुश होने पर रुपए अशर्फी-जेवर बरसते थे, जो कभी-न-कभी लालजी की जेब में पहुँच ही जाते थे।

ड्योढ़ियों में इन स्त्रियों की दशा कैदियों के समान होती थी। उन्हें रूखा-सूखा खाना मिलता, साल में केवल दो जोड़ा वस्त्र मिलता। महाराज के पास जाने के समय जो पोशाक और गहने दिए जाते थे, वे सब उधार होते थे। वापस आने पर वे तुरन्त उतार लिए जाते थे। जो दूसरे दिन दूसरी औरतों के काम आते थे। ऐसा ही नारकीय जीवन ड्योढ़ियों का था। बहुधा औरतें अफीम या अन्य विष खा कर मरती रहती थीं। ऐसी अपमृत्यु की घटनाएँ तो यहाँ साधारण ही समझी जाती थीं। इस प्रकार मरने वालियों को चुपचाप ठिकाने लगाने की विद्या में लालजी

और उस के इसी काम के लिए नियुक्त दूत बहुत दक्ष थे।

केवल यही बात न थी कि ऐसी स्त्रियाँ ही ड्योढ़ियों में आती हों। महाराज की नजर किसी बड़े घर की बहू-बेटी पर पड़ गई तो महाराज के संकेत से और लालजी की नजर पड़ गई तो बढ़िया माल महाराज को भेंट करने की नीयत से—लालजी गुप्त रूप में उस लड़की को उड़ा लाता था, जिस पर थोड़ा बावेला मच कर रह जाता था, क्यों कि वह स्त्री कहाँ गई, इसका पता लगना असम्भव होता था। न पुलिस, न राज्य का कोई विभाग इस मामले में दिलचस्पी दिखाता था, क्यों कि सभी जानते थे कि यह घटना ड्योढ़ियों से सम्बन्धित है। ऐसे उपहार को पा कर महाराज प्रसन्न हो कर लालजी को इनाम-इकराम देते थे। यही कारण था कि लालजी महाराज की नाक का बाल बना हुआ था। मैं तो आगे बताऊँगी कि कैसे मुझे भी ड्योढ़ी का पुनीत प्रसाद मिला और मेरी हत्या के षडयंत्र में लालजी को जेल हुई। पीछे, महाराज की मृत्यु के बाद लालजी की सब जोत खत्म हो गई। ड्योढ़ियाँ खोल दी गईं। औरतें बाहर कर दी गईं और लालजी के घर से दो करोड़ रुपयों की मुहर, अशर्फी और जवाहरात बरामद हुए, उस पर दर्जनों मुकदमे दायर किए गए, पर उसकी पूरी सजाएँ भोगने के पहले ही लालजी यमलोक को प्रस्थान कर गया।

: २५ :

# रनवास

महाराजाधिराज का रनवास खूब गुलज़ार था। उस में उस समय ढाई-तीन सौ स्त्रियां थीं। महाराज की तीन ब्याहता महारानियां थीं। बड़ी महारानी सब तरह बड़ी थीं। वह एक बड़े राजा की बेटी थीं। उनकी उम्र हमारे महाराज से तीस बरस अधिक थी। जिस राज-घराने की वह बेटी थीं, उस घराने की बेटियां इसी राजघराने में आती रही हैं। जब महारानी की उम्र ब्याह की थी और वह पूरी जवान थीं, तब हमारे महाराजा का जन्म हुआ था। उनके बढ़ने और जवान होने की इन्तजार में वह कुंवारी बैठी रहीं। दूसरा कोई राजघराना ऐसा था ही नहीं, जिसमें उनका ब्याह होता। अतः जब हमारे महाराज की उम्र बीस बरस की हुई, तब उनका ब्याह इन महारानीजी से हुआ। ब्याह के समय महारानीजी की उम्र पचास साल पूरी हो चुकी थी। आप मेरी बात पर हंस सकते हैं या आश्चर्य से दांतों तले उंगली दबा सकते हैं, पर मैं जो बात कह रही हूँ वह बिलकुल सच है। महाराज और महारानी के ब्याह को अब बीस बरस बीत गए थे। महारानी अब पूरे ७० साल की थीं, पर वह बड़े डीलडौल की, हट्टी-कट्टी और खूब मजबूत और तन्दुरुस्त थीं। हमारे महाराज को वह अब भी अपनी बगल में दाब कर उठा

सकती थीं। रंगमहल का सबसे भीतरी जनाना महल उनके तहत में था। सुना था उनके पास लाखों के हीरे-मोती-जवाहरात और नकदी थी, जिस पर वह महाराज को दांत नहीं गड़ाने देती थीं। पर साथ ही यह भी सुना था कि आड़े वक्त पर उन्होंने रियासत की अनेक बार बहुमूल्य मदद की थी। आखिर बड़े राजा की बेटी थीं। वह महाराजाधिराज की नाम-मात्र की धर्मपत्नी थीं। शरीर-सम्बन्ध उनका कदाचित महाराज से हुआ ही नहीं। महाराज उनसे डरते भी बहुत थे। महाराज ही क्यों? महाराज की माता, दीवान साहब और जनाब रेजीडैंट बहादुर भी उनसे डरते थे। वह जब भी चाहतीं, उन्हें बुला कर उनसे जवाब-तलब करती थीं। जवाहरात पहनने का उन्हें बड़ा शौक था। वह सिर से पैर तक हीरे-मोती के गहने लादकर ठाठ से बाहर निकलती थीं। बाल उनके सन के समान सफेद हो गए थे। पर चेहरे पर वही तेज था। आंखें खूब बड़ी-और पलकें भारी थीं। रंग गोरा था। कभी वह निश्चय ही बड़ी सुन्दर रही होंगी।

महाराज की मातु-श्री भी अभी जीवित ही थीं। वह माजी साहब के नाम से रंगमहल में विख्यात थीं। परन्तु महारानीजी से माजी भी डरती थीं। महारानी साल में एक बार माजी साहब के चरणों में ढोक देने उनके महल में जाती थीं। तब माजी साहब खड़ी होकर उन्हें ताजीम देती थीं और मसनद पर दाहिनी ओर बैठाती थीं। एक भारी जोड़ा और बहुत से जवाहरात सिरोपा में देती थीं। अशर्फियाँ लुटाती थीं। यह सम्मान किसी दूसरी रानी को प्राप्त नहीं था।

माजी साहब कहने को ही माजी थीं। उम्र उनकी महारानी से बहुत कम थी। यहां तक कि वह उम्र में महाराज से भी छोटी थीं। महाराज अब चालीस को पार कर रहे थे। पर माजी साहिबा अभी तीस ही की ड्योढ़ी पर झांक रही थीं। बात यह थी कि स्वर्गीय बड़े महाराज ने, बुढ़ापे में, बहत्तर वर्ष की आयु में उनसे ब्याह किया था। वह राज्य के एक ठिकानेदार की बेटी थीं, जैसी कुंवरी थीं। उनकी रूप-माधुरी पर

मोहित होकर बड़े महाराज ने उनके पिता से नारियल भेजने का अनुरोध किया था। ब्याह के बाद दूसरे साल ही उनका स्वर्गवास हो गया था। माजी साहिबा की उम्र उस समय केवल तेरह बरस की थी। वह दूध के समान निष्पाप थीं, केवल फेरों की गुनाहगार। किन्तु सच्चे अर्थों में कुमारी। इस में आश्चर्य की और अनहोनी बात क्या थी? राजस्थान में तो ऐसी दुधमुँही विधवाओं की उन दिनों घर-घर भरमार थी। इस समय जब कि महाराजाधिराज के माथे पर भी चांदी के तार उग आए थे, और महारानी साहिबा हिमालय की चोटी के समान धवल केश धारण कर रही थी, माजी के यौवन पर दुपहरी छा रही थी। वह व्रत-पूजा, उपवास करतीं और न जाने क्या-क्या वैधव्य के धर्म निबाहती थीं। मैं कलमुँही अपने रूप पर बड़ा घमण्ड करती थी, पर जब मैंने माजी साहिबा के दर्शन किए तब मेरा सारा गर्व धरा रह गया। वह चांदी के समान शुभ्र मस्तक, वह भ्रूभंग, वह मद-भरी चितवन, वे प्रेमामन्त्रण-सा देते हुए उत्फुल्ल ओष्ठ, वक्ष का वह उभार, वह गरिमा-भरी हथिनी की-सी चाल, भला मैं कहाँ से लाऊं। परन्तु विधि-विडम्बना कहिए या राज-जीवन की विशेषता कहिए, वह विधवा हैं, मा साहिबा हैं। महारानी तो उनकी दादी-सी लगती हैं। और जब महारानी सत्तर वर्ष के शरीर को नख-शिख तक हीरे-मोतियों से लाद कर, पोरपोर में आभूषण धारण करके, यहां तक कि पैरों में भी मोतियों के पायजेब पहन कर, निराभरण वैधव्य-वेशधारिणी, किन्तु यौवन से दैदीप्यमान मा साहबा के समक्ष जा तनिक झुक कर 'ढोक माजी साहेब' कहती थीं, तब कैसा अद्भुत लगता था। भला सोचिए तो विधाता के इस मसखरेपन को! वह राजा-महाराजाओं, रानी-महारानियों तक के भाग्य से मसखरी किए बिना नहीं रह सकता।

महारानी साहिबा पर्दे की इस समय भी बहुत पाबन्द थीं। बन्द जनानी गाड़ी में जब वह बाहर निकलती थीं तब सड़क पर आवागमन का निरोध हो जाता था। लोग जहां के तहां थम जाते थे। जब वह रंग-महल से बाहर निकलती थीं, तब प्रत्येक छोटा-बड़ा पुरुष-कर्मचारी दीवार

की ओर मुँह करके खड़ा हो जाता था। यदि किसी ठौर-ठिकाने वह जाती थीं तो बड़ा प्रबन्ध करना पड़ता था। ठिकाने के सब दास-दासी नौकरों को घर से निकाल दिया जाता था। महारानी की खास सेविकाएं उस ठिकानेदार रईस के घर पर कोने में दखल जमा लेती थी। बाहर महारानी के ही आदमियों का पहरा पड़ जाता था, तब महारानी उस घर में प्रविष्ट होती थी। प्रविष्ट होने पर घर की ड्योढ़ियों में ताला डाल दिया जाता था। क्या मजाल कोई पंछी भी वहां पर मार सके।

आजकल की बहनों को यह सब सुन कर हंसी आ रही होगी। क्यों न आए भला ! वे ठहरी ऊंची एड़ी की मैण्डल पहनकर खटाखट करती हुई सिनेमा जाने वाली बीसवी-शताब्दी की कलचर्ड पढ़ी-लिखी महिलाएं। पुराने जमाने की रानियों के रहन-सहन तो उन्होंने देखे नही। पर अभी तो और भी सुनिए।

दूसरी रानी भटानी रानी के नाम से रंगमहल में प्रसिद्ध थीं। वह भी एक राजा की बेटी थी। इनके पिता थे तो छोटे-से राजा, पर बड़े भारी विद्वान् और नये ढंग के थे। अधिकांश समय विलायत में रहते थे। दैव-दुर्विपाक से इन रानी को गंगरीन की बीमारी थी। यह भी एक प्रकार का गलित कुष्ठ है। कुष्ठ के साथ तपेदिक का मिश्रण भी कहिए। दाहिने पैर की दो उंगलियां कतई गल गई थी। वह जख्म अब भी नहीं भरा था। सैनीटोरियम में वर्षों से पड़ी थीं। लौट कर जीवित महल में आने की कोई आशा भी नही थी, क्योंकि दिन-प्रतिदिन उनके अंग गलते ही जा रहे थे। सुना था, सूख कर कांटा हो गई थी। पर अभी चित्र-गुप्त का खाता पूरा नहीं हुआ था। पूर्व जन्म के जिस पुण्य-प्रताप से वह महारानी बनी थीं, उसका भोग अभी शेष था। सो वह इस प्रकार उसे भोग रही थीं। गत दो वर्षों से तो महाराज ने उसे देखा ही नहीं था। विवाह उनका बड़ी धूमधाम से हुआ था। सात लाख का टीका उनके पिता ने दिया था। अब भी प्रति वर्ष लाख-पचास हजार की भेंट-भलाई महाराज को उनके पिता भेजते ही रहते थे।

तीसरी रानी कुँवरी की ही भाँति एक ठिकानेदार ठाकुर की बेटी थीं। ठिकाना छोटा था, रानीजी जरा वजनी थी, केवल तीन मन दस सेर। ठिगनी भी बहुत थी। पढ़ी-लिखी थी। उपन्यास पढ़ने का शौक था। खूब गोरी चिट्टी थी, मगर मिजाज़ की तीखी। आराम से पलंग पर पड़ी रहती थी। महाराज से उनकी बनती नहीं थी। सौतों को वह फूटी आँख नहीं देख सकती थी। महाराज को घोलकर पी जाना चाहती थी। महाराजाधिराज उनसे घृणा करते थे, दूर भागते थे। उनके महल में महीनों-बरसों भी नहीं फटकते थे। जब भी पधारते थे, कोई-न-कोई हंगामा उठ खड़ा होता था। बहुधा मारपीट भी हो जाती थी।

रानियों के अतिरिक्त चार पड़दायतें भी थी। उनमें दो वेश्याएँ थी, एक मुसलमान, दूसरी वेडिन। दोनों को महाराज ने पैर में सोना दिया था। दोनों सुन्दर और गाने बजाने में प्रवीण थी। दूसरी दोनों मेरी ही भाति गोलिया थी। उन्हें हाल ही में पर्दे में डाला गया था। एक कुछ पढ़ी-लिखी थी। दूसरी एकदम पढ-पत्थर। साधारण सुन्दरी थी। एक दूसरी रानी के साथ दहेज में आई थी। दूसरी इसी ठिकाने की थी। कभी ये दोनों महाराज के बहुत मुँह लगी थी, पर अब उनकी उतरती बहार थी।

और बादी गुलाम बहुत थे। बहुत-सी कंचनिया, वेड़नियां आदि आती-जाती ही रहती थी। कहाँ तक उनकी गिनती की जाए। गरज महाराजाधिराज का रनवास खासा गुलजार था। जैसा कि मैंने पहले बताया, उसमें रानी, बांदी, खवास, गोली, गुलाम, सब मिला कर दो-ढाई सौ स्त्रिया थी, जिनमे से बहुतों को महाराजाधिराज पहचानते भी नही थे।

: २६ :

# दरबार ने याद फर्माया

दाता के लौट जाने के बाद ६ दिन मेरे योंही सन्नाटे में बीत गए। हम लोग–मैं और केसर–पिंजरे में बन्द पंछी की भाँति अपने महल में पड़े छटपटाते रहे। न हम में से कोई अपने महल से बाहर जा सकता था, न कोई समाचार ही रंगमहल का हमें मिलता था। मैं ऊब रही थी और दिन पहाड़ के समान कटता था। केसर धैर्य बंधाती थी। पर मन अजीब कुछ उड़ा-उड़ा-सा हो रहा था। ड्योढ़ी पर पहरा था। चार गोरखे खुखरी लिए दिन-रात घूमते रहते थे। मैं कुंवरी के लिए अधमरी हो रही थी। न जाने उन पर कैसी बीत रही होगी। केवल किसुन को बाहर जाने की अनुमति थी। पर कुंवरी के हाल-चाल तो वह भी नहीं बता सकता था। उसका कहना था, उन्होंने रंगमहल लगभग सारा ही खाली कर दिया है, केवल दो कमरे अपने कब्जे में रखे हैं। भूरसिंह उन की ड्योढ़ी पर हाजिर रहते हैं। दरबार एक बार रंगमहल में उन की अनुमति से गए थे। नई रानी ने खड़े हो कर केवल उनको ताजीम दी और जब महाराज ने उनसे पूछा कि किसी बात की तकलीफ तो नहीं, किसी वस्तु की आवश्यकता तो नहीं, तब उन्होंने केवल 'नहीं' कह कर मौन धारण कर लिया। बातचीत दरबार से हुई ही नहीं। वह खीझ कर चले आए।

इधर चार दिन से तो किसुन का भी पता न था। वह एक प्रकार से मेरी ही चाकरी में था। पर न जाने क्यों, बिना मेरी अनुमति या पूर्व सूचना के एकाएक लुप्त हो गया था। उसके न आने से तो हम जैसे अंधकूप में गिर गए थे। भाँति-भाँति के विचार मन में आते थे। पर कुछ अक्ल काम न करती थी। यों खाने-पीने और दूसरी किसी वस्तु की हमें कोई तकलीफ न थी। दरोगा दोनों वक्त सलाम करता और आवश्यकता की बात पूछता, पर और कोई बात न बताता था। मैं कभी-कभी रोने लगती तो केसर ढाढस बंधाती थी। पर मेरा मन उड़ा-उड़ा रहता था। मैं सोचती थी, क्या इसी भाँति यह उम्र-भर की कैद काटनी होगी।

दसवें दिन तीसरे प्रहर किसुन आया। वह बहुत व्यस्त था। उसने कहा—"दरबार की खिजमत में चलना होगा। उन्होंने सरकार को याद फर्माया है।" उसने दासियों-बांदियों को आवश्यक आज्ञाएँ दीं। केसर से उसने अधिकारपूर्ण रीति से कहा—"सरकार को सिंगार करा कर तैयार करा दिया जाए।"

मेरा शृङ्गार होने लगा। कैसे तमाशे की बात थी। मन तो मेरा मिट्टी हो रहा था। मुझे गढ़ी की मुलाकात भी याद आ रही थी और उस दिन सुहागरात की मुलाकात भी। मैं सोच रही थी, अब यह आज की मुलाकात न जाने कैसी होगी। फिर मर्जी का तो कोई सवाल ही न था। मैं इन्कार करने का अधिकार ही न रखती थी। पर सच बात तो यह थी कि मैं अब राजा से घृणा करती थी, उनके पास जाना नहीं चाहती थी। रह-रह कर मुझे उनकी उस दिन की घिनौनी मूर्ति याद आ रही थी। इस के अतिरिक्त कुंवरी की याद आते ही मेरा रक्त ठण्डा हो जाता था। कैसा शृङ्गार, कैसा चाव, कैसा उत्साह!

मैंने केसर से कहा—"केसर, तू कह दे कि मेरी तबियत ठीक नहीं है। मैं दरबार की खिजमत में जाने योग्य नहीं हूँ, मैं नहीं जाऊँगी।" परन्तु केसर ने कहा—"यह ठीक न होगा।" उसने बहुत ऊँच-नीच समझा कर मुझे अपनी स्थिति का भान कराया। फिर भी मैंने किसुन

मे कहा—"किसुन, क्या मुझे वहाँ जाना ही होगा ?"

उसने हँस कर कहा—"हाँ, सरकार ! आप चिन्ता न करें। मैं तो आपकी खिजमत में हाजिर हूँ ही, आप झटपट तैयार हो जाएँ।"

मैंने कहा—"यदि आज न जाऊँ तो ?"

"यह कैसे हो सकता है भला। इतने दिन में आज ही अन्नदाता का चित्त ठीक हुआ है। वह नई रानी के महल में पधारे थे। कदाचित आप मे कोई बात कहनी हो। उन्होंने मुझे हुक्म दिया है। उनका हुक्म बजा लाना ही मुनासिब है सरकार ! इसी में सरकार की भलाई है।"

मैंने फिर ननुनच नहीं की। केसर ने दासियों की सहायता से मेरा विविध शृंगार किया। किसुन ने भी काफी सहायता की। किसुन मर्द, था, पर अपनी चाकरी में था। उस से पर्दा होता ही न था। फिर वह मुझे प्रिय लगता था। वह बड़ा बुद्धिमान भी था। कदाचित् मुझे प्यार भी करने लगा था। और मैं तो पहले ही स्वीकार कर चुकी हूँ कि मैं उससे प्रीति करती थी। पर मुझे क्या मालूम था कि आगे उस के साथ मेरे कुछ और ही सम्बन्ध होने वाले हैं। मैं उस पर निर्भर थी, उस पर निर्भर रहना ही मैंने निरापद समझा। शृंगार-पिटार से लैस होकर मैं चली सुखपाल पर बैठ कर। केसर इस बार मेरे साथ नहीं थी। किसुन ने उसे रोक दिया था। अकेला वही मेरे साथ था। इस समय सांझ का झुटपुटा हो चला था। दिए जल चुके थे और मुझे गढ़ी की वह संध्या याद आ रही थी।

. २७ .

# चाबुक की मार

आजकल दरबार अपनी नई कोठी में विराज रहे थे। यह कोठी पिछले ही साल बनी थी। एकदम नए ढंग की। काफी लागत लगी थी। सुना था कि इस कोठी को लेकर दीवान साहब और महाराज में चख-चख भी काफी हुई थी। बात रेजीडेंट साहब बहादुर तक गई थी। परन्तु उसकी लागत की काफी रकम हुजूर मा साहब ने अपने पानदान के खर्च से लगाई थी, इसलिए बात वहीं रह गई थी। सर्व-साधारण का तो वहाँ जाना ही निषिद्ध था। यह कोठी रंगमहल से सटी हुई एक किनारे पर थी। सुघराई से कटी हुई रौंसे, उछलते हुए फव्वारे, सामने गुलाब बाग, जिसमें कटोरे के बराबर गुलाब के लाल और सफेद फूल खिले थे। एक प्रशस्त लान, जहाँ की घास सफाई से कटी थी।

सुखपाल से उतर कर मैं बड़े-बड़े कमरे और दालान पार करती हुई किसुन के पीछे जा रही थी। मैं डरती-डरती पैर रखती थी। अचल दीवार की ओर मुँह किए खड़े संतरियों को घूरती चली जा रही थी। मेरे चलने तक तक की आहट न होती थी। हम एक सजे हुए कमरे में पहुँचे। वहाँ बहुमूल्य कालीन बिछे थे, जहाँ हाथ-भर पैर धंसते थे। बहुमूल्य सोफों से कमरा सजा था। एक मखमली कौच पर मुझे बैठा कर

किसुन साटन का पर्दा उठा कर भीतर चला गया। मैं दीवार पर लगे बड़े-बड़े चित्रों को देखने लगी। हृदय मेरा धड़क रहा था।

थोड़ी देर में किसुन आया और उसने संकेत ही से मुझे अपने पीछे आने को कहा। मैं फिर बड़े-बड़े दालान और कमरे पार करती अन्त में एक सजे हुए कमरे के द्वार पर पहुँची। पर्दा उठा और कमरे में भीतर जाने का संकेत कर किसुन बाहर ही ठिठक रहा। कमरे में किरमिची रंग हो रहा था। सब सोफा-कुर्सी चांदी के थे। उन पर मखमल मढ़ा था। मेजों पर संगमरमर की अनेक मूर्तियाँ रखी थीं। ऐसी सजीव थीं वे कि देखते ही बनता था। पहले तो मुझे कुछ ज्ञात ही न हुआ, फिर अचानक ही देखा कि स्वयं अन्नदाता एक सोफे पर बैठे हाथ में सिगार लिए धुआ फेंक रहे थे।

मैंने आगे बढ़ कर और जमीन तक झुक कर दरबार को मुजरा किया। हाथ का सिगार फेंक वह उठ खड़े हुए और मेरा हाथ पकड़ कर मुझे अपनी बगल में बैठा लिया। नर्मी से कहा—"ऊब तो नहीं गई चम्पा! देखो, मैंने तुम्हारे लिए यह कैसी नफीस चीज बनवा कर मंगाई है। अट्ठाईस हजार रुपए खर्च हुए, पर चीज बेहतरीन है। देखो तो जिस्म पर फिट भी है या नहीं।" उन्होंने पास पड़े एक बक्स की ओर संकेत किया। उनके होंठ हंस रहे थे और बड़ी-बड़ी आंखों में लाल डोरे उनकी उद्दीप्त वासना की साक्षी दे रहे थे। इस समय वह सिर से पैर तक अंग्रेजी लिबास में थे। निहायत कीमती काला सूट पहने थे। यद्यपि इस लिबास पर उनके कानों के बड़े-बड़े हीरे कुछ अद्भुत लग रहे थे पर इस लिबास में वह फब खूब रहे थे। उन्होंने प्यार भरी चितवन से मुझे देखा और एक सिगार जलाई। मैंने धीरे से उठ कर बक्स खोला। एक अभूतपूर्व फर का कोट था—बर्फ के समान श्वेत और झाग के समान कोमल, हवा की भांति हलका। मैंने महाराज की ओर देखा। उन्होंने धुएं के छल्ले बनाते हुए कहा—"पहन कर देखो।" मैं इस कदर डर गई थी उस अट्ठाईस हजार की लागत के कोट को देख कर कि छूने की

भी हिम्मत नहीं कर सकती थी। मैं सकते की हालत में खड़ी थी और मेरे मुंह से बोली नहीं फूट रही थी। मैं जो पोशाक पहने थी, वह भी शायद मेरे अंग पर खूब जँच रही थी।

तभी दरबार बोले- -"कोफ्त कर दिया तुम्हारी कुंवरी ने। बड़ा मिजाज है उसका, ओफ !"

महाराज ने एक गहरा कश खींच कर धुएं के बादल बनाए। फिर जैसे अपने-ही आप से कहा—"हम पर अदल जमाना चाहती है वह। खैर, जब तुम हो तो क्या गम। पहनो-पहनो !"

उनका स्वर किसी हद तक कम्पित था। कुंवरी के लिए अवश्य ही वह इस समय कुछ वेदना का अनुभव कर रहे थे। उनकी नजर मेरे ऊपर थी। यह स्पष्ट था कि वह मेरे रूप से अभिभूत हो रहे थे।

मैंने उस महामूल्यवान् दुर्लभ कोट को अपने अंग पर डाल लिया। उन्होंने स्वयं उठ कर उस के बटन लगाए। फिर प्रशंसा की नजर से देखते हुए कहा—"खूब फिट है। कोई हिन्दुस्तानी कारीगर नहीं बना सकता।" मुझे फिर वह कौंच पर खींच ले गए और पास ही बैठ गए। आज न वह उस दिन के गढ़ी वाले महामहिम महाराज थे, न उस सुहाग-रात वाले मदहोश शराबी। आज तो वह एक प्रसन्न मुद्रा में आनन्दित प्रेमी और मित्र की भांति बातें कर रहे थे। मेरा मन हो रहा था कि मैं कुंवरी के सम्बन्ध में कुछ पूछूं। पर मेरा मुंह खोलने का साहस ही न होता था। वह कह रहे थे—केवल उसी कोट की बात। उसमें बिजली की बैटरियां लगी थीं, जिनके कारण वह जैसा चाहें, कम और अधिक गर्म हो सकता था। उन्होंने कहा—"इसका मजा तो तब आएगा जब तुम हवाई जहाज में बैठ कर बर्फ से लदी चोटियों वाले पहाड़ों के ऊपर उड़ोगी। तब तुम्हारे सब साथियों के दांत सर्दी से किटकिटाते होंगे और तुम आरामदेह गर्मी में खुश सफर कर रही होगी। शायद अगले ही साल तुम्हें ऐसा मौका मिल जाए। तबीयत ऊब रही है। एक बार मैं यूरोप जाकर कुछ दिन स्विट्ज़रलैंड रहना चाहता हूँ। चलोगी न तुम

चम्पा ?" स्विट्जरलैंड स्वर्ग है, स्वर्ग; देखोगी तो खुश हो जाओगी।" मैं कुछ समझ रही थी, कुछ नहीं। पर मुंह मेरा बन्द था, मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मैं एक अत्यन्त मूर्खा और तुच्छ स्त्री यहां के महिमामय वातावरण में आ पहुँची हूँ। परन्तु महाराज प्रसन्न मुद्रा में थे, वह फकाफक धुएं के छल्ले बना रहे थे। सिगार उनका खत्म हो गया। उन्होंने दूसरे को हाथ बढ़ाया। मुझे अपनी गढ़ी वाली चाकरी याद आ गई। मैंने लपक कर सिगार उनके होठों से लगाया और जला दिया। वह जरा उठंग कर अलस भाव से कौच पर लेट गए और उन्होंने अपने दोनों पैर फैला दिए।

इसी समय किसुन शराब की टेबुल ले आया। खालिस बिल्लौर की यह टेबुल थी, जिसमें रबर के पहिए लगे थे। उस पर कीमती शराब की बोतलें, प्यालियां, पैग और गिलास रखे थे। भुने हुए कबाब, गजक और न जाने क्या-क्या खाने का सामान भी सजा था। सब सामान बिजली की रोशनी में चमचमा रहा था। चम्मच, रकाबियां सब चांदी की थीं। उन्होंने खुद अपने हाथ से खून-जैसी सुर्ख शराब के दो पैग भरे और तिरछी नजरों से मेरी ओर देखते हुए एक पैग मेरी ओर बढ़ाया। उस दिन की सुहाग रात का घिनौना दृश्य मेरी आँखों में घूम गया। शराब के प्रति मेरे मन में घोर घृणा उत्पन्न हो गई। मैंने कातर कण्ठ से कहा—"मैं नहीं पिऊँगी, अन्नदाता।"

"हमारा हुक्म है।"

"तकसीर माफ हो, अन्नदाता।"

"क्या हुक्म-उदूली करती है ?" उन की आँखों का रंग बदल गया। उन्हों ने गुस्से से गुर्रा कर कहा—"बेवकूफ औरत, पी।" उन की आँखें सुर्ख हो गईं और त्योरियाँ चढ़ गई। परन्तु मैं ने फिर हाथ जोड़ कर गिड़गिड़ाते हुए कहा— "नहीं पीऊँगी अन्नदाता।"

उन्हों ने लपक कर खूँटी से चाबुक उठाया और सपासप मेरी खाल उधेड़ना शुरू किया। मेरे चीखने-चिल्लाने से कमरा गूंज उठा। समूचे

कमरे में मैं तड़पती, दौड़ती फिरी और वह सपासप चाबुक फटकारते रहे। मैं विकल हो कर धरती में लोट गई। मेरी चीख-चिल्लाहट सुन कर कोई भी मुझे बचाने नहीं आया। मैं रोते-रोते हाथ बाँध कर "दया करो पृथ्वीनाथ ! दया करो अन्नदाता !" कहती रही। ओंठ मेरे नीले पड़ गए और मैं बेहोश हो गई।

पर उस निर्दयी ने मुझ पर तनिक भी दया न की। ज्यों ही मुझे होश आया और मैं उठी, त्यों ही उन्हों ने प्याला हाथ में लेकर कहा—"पी।"

मैं गटागट पी गई। उन्हों ने प्याला मेरे हाथ से ले लिया और मुझे सहारा दे कर कौच पर बैठाया और कहा—"चम्पा ! आइन्दा कभी हुक्म-उदूली की जुर्रत न करना। ओफ, कोट बिलकुल बर्बाद हो गया। जाओ, कपड़े बदल लो ?" उन्हों ने दस्तक दी। एक बाँदी दस्तबस्ता आ

हाजिर हुई। उसे उन्हों ने कुछ इशारा किया और मैं उस के संकेत पर उस के पीछे-पीछे चली गई। बाथ रूम में जा कर मैं ने पोशाक बदली। बाँदी ने मुझे एक कीमती साड़ी दी और मेरा जूड़ा ठीक किया। मुँह धो कर मैं ने ठण्डे पानी का एक गिलास पिया, जिस से मेरा कण्ठ तर हुआ और जी जरा ठहरा। फिर मैं उसी बाँदी के साथ चली—उसी निष्ठुर और अद्‌भुत व्यक्ति के पास जिस की दया, माया, कृपा और क्रोध का न कहीं अन्त था, न हिसाब-किताब।

इस बार दासी मुझे सीधा भोजन के कमरे में ले आई। अब उस कमरे का, भोजन-सामग्री का, वहाँ की साज-सज्जा का बखान कर के मैं आप का समय नष्ट नहीं करूँगी। इतना ही समझ लीजिए कि वह उसी राजा का डाइनिंग रूम था, जिस ने अट्ठाईस हजार के मूल्य का कोट पहना कर चाबुक से मेरी खाल उधेड़ी थी। वह चुपचाप डिनर ले रहे थे। उन के खास खिदमतगार अदब-कायदे से खाना परस रहे थे। बोलने, कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उन का वह फ्राँसीसी बावर्ची वहाँ हाजिर था और सब देख-भाल कर रहा था। जिस चीज की आवश्यकता होती थी, वही लाने का संकेत वह करता था, जिसे खिदमतगार तुरन्त ला हाजिर करते थे।

उस ने मुझे बड़े अदब से महाराज की बगल में एक कुर्सी पर ला बैठाया और मेरे सामने भी वे देशी-विलायती विविध व्यंजन परोसे गए, जिन के न कभी स्वप्न में मैं ने नाम सुने थे, न दर्शन किए थे। वही खून के समान सुर्ख मदिरा रह-रह कर मेरे गिलास में भरी जाने लगी। महाराज ने धीमे स्वर में केवल इतना ही कहा—"जो पसन्द हो खाओ।"

और मैं, जो मेरे सामने आया, खाती गई और मदिरा के गिलास-पर-गिलास पीती चली गई। मैं ने सोचा—ज्यादा-से ज्यादा इतना ही तो होगा कि मैं मर जाऊँगी, पर अब कभी चाबुक से पिटने की नौबत न आने दूँगी।

कमरा गर्म था। वह सुखद सुगन्ध से भरा था। लम्बी टेबुल पर

भाँति-भाँति की वस्तुएँ सजी थीं और विविध फूलों के गुलदस्ते अपनी बहार दिखा रहे थे।

बहुत देर तक खाना-पीना होता रहा। इस बीच महाराज एकाध बार ही बोले। खाना समाप्त होने पर हम फिर उसी कमरे में आए। उन्हों ने कोमल स्वर में कहा—जाओ, अब तुम आराम करो, मैं भी अब सोऊँगा।" इतना कह कर फिर उन्हों ने दस्तक दी। वही बाँदी मुझे शयन-कक्ष में ले चली। इस समय अर्धरात्रि व्यतीत हो चली थी। मैं जा कर उस अपरिचित शयन-मन्दिर में अकेली ही नर्म-गर्म बहुमूल्य दुग्ध-फेन-सम शैया पर पड़ गई। अपने ही भूत-भविष्य के विचारों में डूबती-उतराती हुई। अपने क्षण-क्षण पर नए-नए चमत्कार दिखाते हुए जीवन पर विचार करती हुई। मेरी चोटें चुभ रही थीं और वह लाल खून के समान मदिरा नसों में घूम रही थी। बड़ी देर मैं पीड़ा और सुख का मेल-जोल अनुभव करती रही। कुछ ही देर में निद्रा देवी ने मेरी पीड़ा, चिन्ता और आगे-पीछे की सारी बातों पर पर्दा डाल दिया।

: २८ :

# विदेश-यात्रा

मेरी नई दुनिया का अन्ततः आरम्भ हो गया। बीती बातें पुरानी होती गईं और नई बातें सामने आती गईं। परिस्थिति ने मुझे ढीठ और साहसी बना दिया था। मैं चुपचाप अपने भाग्य के खेल देखने लगी। हर दूसरे-तीसरे दिन महाराज मुझे बुला भेजते। वहाँ बहुमूल्य विलायती सुगन्धित शराब का दौर चलता। शाही ठाठ का खान-पान होता, बहुधा नाच-रंग का भी आयोजन होता था। दूर-दूर के गुणी कलावन्त आते ही रहते थे। ऐसे जल्से कभी भीतर जनाने में होते, कभी बाहर। पर बहुधा बाहर। मैं चिलमन में आ कर बैठती। धीरे-धीरे राजा साहब के दिव्य गुणों का, उन की उदारता, गुण-ग्राहकता और दातापन का मुझे पता लगता गया और मैं उन से प्रभावित होती गई। मैं ने यह भी देखा कि उन का प्यार भी असीम है। मैं यह सोच भी न सकती थी कि जिस पुरुष का सम्बन्ध अनेक स्त्रियों से हो, वह भी किसी स्त्री को प्यार कर सकता है। पर जब प्यार करते थे तब आनन्द की गंगा बहा देते थे। ईश्वर का धन्यवाद है कि मैं ने फिर कभी उन्हें नाराज होने का अवसर नहीं दिया। यह भी एक चमत्कार है कि फिर कभी वह नशे में असंयत भी नहीं हुए। खास कर जब वह मुझे बुलाते थे तब मेरे साथ

ही पीते थे और अत्यन्त विनोदपूर्ण व्यवहार रखते थे। हर बार वह मुझे कोई नई सौग़ात और नई भेंट देते। वैसे भी भेजते रहते। देश-देश की वस्तुओं को मँगाने का उन्हें शौक था--कहीं-कहीं से नई वस्तुएँ आती रहती थीं। उन से मेरा महल सजने लगा। अब बहुधा वह मेरे महलों में भी पधारते और तब मैं अतिथि की भाँति उन का स्वागत करती। मैं ने अपनी सपत्नियों को देखा। बड़ी महारानी के चरणों में ढोक दी, उन्हों ने रूखी नजर से मुझे देखा, पर बहुमूल्य मोतियों का एक हार बख्शीस में दिया। मझली और छोटी रानी से भी मैं मिली। मा साहब से मिली। उन्हों ने मेरे साथ सहेली-जैसा व्यवहार किया। उन के यहाँ बहुधा मेरा आना-जाना होने लगा। वह जब चाहती, मुझे बुला भेजतीं। खूब गप-शप, हँसी-मजाक होता, खाना-पीना चलता। वह दिल खोल कर बातें करतीं। बड़ी खुशमिजाज थीं वह। वह जैसे विधवा होने और हँसने के लिए ही पैदा हुई थीं।

रनवास की और औरतों से, पड़दायतों से भी मैं मिली। धीरे-धीरे रंगमहल के सब हाल मुझ पर प्रकट होते गए। बहुत-सी बातें केसर और किसुन से मालूम होती रहतीं। केवल मैं कुंवरी से नहीं मिल पाई। उन्हों ने फिर मुझ से मुलाकात नहीं की। बहुत बार मैं ने चाहा, पर बेकार। मेरे आग्रह पर दर्बार ने भी उन्हें मनाया। पर उस का भी कोई नतीजा न हुआ। वह उस रात सुहागरात को रूठी सो रूठी ही रहीं। सारे जीवन उन्हों ने महाराज से बात नहीं की।

इस प्रकार धीरे-धीरे मेरे इस नए जीवन के दो बरस बीत गए और अब मैं इस विचित्र जीवन की अभ्यस्त हो गई। फिर भी मेरे जीवन में एक व्यक्ति जबर्दस्ती धंसा चला आ रहा था। वह था किसुन। एक अज्ञात प्रेम और आकर्षण मुझे उसकी ओर खींचता चला जाता था। वह मेरे सम्मुख सदैव अदब से ही बातें करता और मालिक की भाँति मुझे मानता, पर मैं देखती उसकी तरुणाई की प्यासी आँखें कुछ दूसरा ही संदेश दे रही हैं। उसका कण्ठ-स्वर सुनते ही मेरा कलेजा धड़कने

लगता था। पर मैं भी मर्यादा से बाहर उस से बात न करती। चाहती रहती कि वह मेरी आँखों के आगे रहे। मन का पाप आप से कहती हूँ कि राजा इतने गुणी और उदार थे और इस अभागिनी को बड़ा प्यार भी करते थे, फिर भी मेरे मन में उनके लिए प्यार कभी उगा ही नहीं। मैंने आत्म-समर्पण उन्हें अवश्य किया, पर प्यार न कर सकी। प्यार तो किया किसुन को। पर क्या मजाल कि कभी वह प्रकट हुआ हो। मैं भीतर-ही-भीतर उसकी आग में जल-जल कर खाक होती रही। आप कह सकते हैं—नीच गुलाम जो है। चाकर गोली जो है। राजा के प्यार को क्या जाने। गोले-गुलाम पर ही मर मिटी। सो आपका यह कहना सच ही है। अस्वीकार कैसे कर सकती हूँ ?

तो दो बरस बीत गए। महाराज ने मुझे लेकर यूरोप की यात्रा की। अंग्रेज गवर्नस मेरे लिए नियत की गई। उसने मुझे केवल पढ़ाया-लिखाया ही नहीं, पाश्चात्य नृत्य-संगीत और अदब-कायदे की भी शिक्षा दी। हम लोगों ने समूचे यूरोप का भ्रमण किया। इस नई जागती हुई दुनिया को देख कर मेरे हिया के कपाट खुल गए और जब मैं लौट कर आई, तब कुछ और ही बन गई थी। किसुन ही अकेला इस यात्रा में हमारे साथ रहा। अब मेरे रहन-सहन में, विचारों में जमीन-आसमान का अन्तर हो गया था। दो मास यूरोप घूम कर जब हम राजधानी में लौटे, तब बड़ी धूम-धाम से दर्बार का स्वागत हुआ। मैं तो यह अब भूल ही गई थी कि मैं गोली गुलाम हूँ और अपने को महारानी ही समझने लगी थी। यूरोप में महाराज ने महारानी की ही भाँति मेरा सब से परिचय कराया था। मैं अब ठसक से रहने लगी थी।

: २६ :

# नये जीवन का प्रारम्भ

इसी समय मुझे एक नई अनुभूति हुई। इस अनुभूति की आशंका तो मुझे यूरोप के प्रवास में ही हो गई थी। पर अब उसका निश्चय हो गया। एक अनिर्वचनीय आनन्द और आशा से मेरा हृदय उल्लसित हो उठा। परन्तु एक अज्ञात भय से भी मैं अभिभूत हो उठी और जब मैंने केसर से वह बात कही तब वह कुछ विचलित-सी हो गई। उसने बारीकी से मेरा निरीक्षण किया। मैं नहीं जानती थी कि यह सुसमाचार था या कुसमाचार। पर केसर ने जब गम्भीर मुद्रा से कहा कि अन्नदाता को खबर करनी होगी, तब मेरा मन आशंका से भर गया। और मै शंकित-सी, भय-भीत-सी अवसर की बाट जोहने लगी। कैसे कहूँगी, यही न सोच पाती थी। एक मास बीत गया, पर महाराजाधिराज को मेरे महलों में पधारने का अवकाश ही न मिला। नित नए जश्न और नाच-रंग में वह समूचा मास बीत गया।

जब मैंने उनसे वह बात कही, तब मेरा दिल धड़क रहा था। लाज से मैं मरी जा रही थी। भय, आशंका और आनन्द के झूले में मैं झूल रही थी। परन्तु सुन कर वह प्रसन्न नहीं हुए। वह जैसे चौंक-से पड़े। क्षण-भर उन्होंने मेरी ओर ताका। फिर उनका मुंह भरे हुए बादलों की

भाँति गम्भीर हो उठा। उन्होंने धीमे स्वर में कहा—"क्या ठीक कहती हो ?" न जाने क्यों, उनका वह प्रश्न मुझे अच्छा नहीं लगा। मेरा सारा आनन्द काफूर हो गया और मैं रोने लगी। परन्तु उन्होंने मुझे ढाढ़स बंधाया, कहा—"डरने और घबराने की कोई बात नहीं है।"

उनका यह आश्वासन इतना ठण्डा था कि मै रोना भी भूल गई। मैं सोच रही थी कि सुन कर वह प्रसन्न होंगे। इनाम देंगे। स्त्री के जीवन में यह घड़ी तो न जाने कितने उत्साह, आनन्द और आशा ले कर आती है। पर मैं मूर्खा यह तो बिलकुल ही भूल गई थी कि मैं केवल एक स्त्री ही नहीं, एक गोली-गुलाम हूँ, जिसका जीवन ही सब स्त्रियों से निराला होता है।

दूसरे दिन लेडी डाक्टर ने आ कर मेरा मुआइना किया और सूचना दी कि गर्भ का तीसरा मास है। मुझे कुछ हिदायतें भी दीं। मेरी तबियत अब खराब रहने लगी थी। खाना-पीना पचता नहीं था। सब उलट जाता था। केसर रात-दिन मेरी साज-सम्हाल में रहती थी। शायद किसुन को भी कुछ सुन-गुन मिल गई थी। वह प्रसन्न मुद्रा में रहता था। पर मैं प्रायः दिन-दिन-भर बिछौने में पड़ी रहती थी और कभी-कभी मेरा मन ऐसा उचाट होता था कि कुछ भी अच्छा नहीं लगता था और मैं रोने लगती थी। मैं नहीं समझ पा रही थी कि यह सब कुछ अच्छा हो रहा है या बुरा।

दो-चार दिन में ही महाराज ने मुझे बुला भेजा। वह अकेले बैठे शराब पी रहे थे। मुझे देख कर बोले—"आओ बैठो। तबियत कैसी है ?" मैं जवाब न दे सकी, रोने लगी। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वह अब रुखाई से बात कर रहे हैं। वह कुछ देर चुपचाप शराब पीते रहे। मै भी चुपचाप बैठी रही। पैग उन्होंने स्वयं भरा। मैंने भरना चाहा तो कहा—"रहने दे चम्पा। मैंने तुझे कुछ जरूरी बात करने को बुलाया है। वह किसुन तुझे कैसा लगता है ?"

प्रश्न सुन कर मैं घबरा गई। किसुन के लिए मेरे मन में जो एक

प्रच्छन्न आसक्ति थी, वह क्या उन्हें विदित हो गई है ? मैं यही सोचने लगी। किन्तु महाराज अपनी ही धुन में थे। मेरे उत्तर की ओर उनका ध्यान ही न था। उन्होंने फिर कहा—"किसुन अच्छा लड़का है। भला-मानुष है। घर का आदमी है, भरोसे का है, कभी तेरे साथ उसने कोई बदसलूकी तो नहीं की ?"

"नहीं अन्नदाता," मैंने उतावली से कहा। और उनका अभिप्राय जानने के लिए मैंने उनकी ओर देखा। उन्होंने मेरे उत्तर से आश्वस्त होकर कहा—"ठीक है। तू उसे पसन्द करती है ?"

मैंने डरते-डरते कहा—"वह अच्छा आदमी है।"

"तो मैं तेरा उसी से ब्याह करना चाहता हूँ।"

मैं एकाएक जैसे पहाड़ से फेंक दी गई हूँ, इस प्रकार चौंक उठी। क्षण-भर को तो मेरे शरीर में रक्त की गति रुक गई। और मेरा मुँह सूख गया। इस बात का मतलब क्या है ? क्या वह मुझे त्याग रहे हैं ? क्या उन्हें मेरे मन की आसक्ति का पता चल गया है ? किसुन को मैं चाहती अवश्य थी, पर जिस राजभोग की मैं अभ्यस्त हो चली थी, उसे अब त्यागने को भी तैयार न थी। किसुन तो एक चाकर है, गुलाम है। वह तो मेरी ही चाकरी में है। मैं गहरे सोच में डूब गई। उन्होंने कहा—"तुझे पसन्द है न ?"

मैं ने डरते-डरते कहा—"अन्नदाता, वह तो सरकार के हुक्म से मेरी ही चाकरी में है !"

"हाँ, तेरी ही चाकरी में रहेगा, चाकरी से मैं उसे हटाऊँगा नहीं," उन्हों ने कहा।

यह बात मैं समझ न सकी, किसुन से मेरा ब्याह होगा और वह मेरी ही चाकरी में भी रहेगा ! यह बात कैसे सम्भव हो सकती है ? मैं कुछ भी जवाब न दे सकी। परन्तु महाराज ने मेरे जवाब की प्रतीक्षा नहीं की। वह गिलास रख कर उठ खड़े हुए। बोले—"कुछ कहना चाहती है ?"

"नहीं, अन्नदाता !"

"तो आराम कर। कल तेरा ब्याह होगा।"

इतना कह कर वह चले गए। मैं जड़ बनी बैठी रही। दासी ने जब कई बार कहा, तब मैं उठ कर पलंग पर लेट गई। पर यह क्या हो गया और क्या होने वाला है, यह मैं समझ न सकी। मैं इस कदर बौखला गई कि रो भी न सकी। सो भी न सकी। मेरी तमाम रात पलंग पर छट-पटाते ही बीती।

: ३० :

# किसुन के साथ ब्याह

मेरे ब्याह में आधा घंटा भी नहीं लगा। न हवन हुआ, न फेरे पड़े। न बाजा बजा, न नाच तमाशे हुए। न बरात आई, न नौबत बजी। यहाँ तक कि रंगमहल में बहुतों को खबर भी न हुई। तीसरे पहर अन्नदाता राजपुरोहित और किसुन को संग लेकर आए। किसुन नए वस्त्र, कमर में नई धोती पहने था। आँखें उसकी खुशी से चमक रही थीं। अन्नदाता कुर्सी पर बैठ गए और राजपुरोहित ने एक पाटे पर मुझे और किसुन को बैठा कर नवग्रह पूजन किया, दो चार मंत्र पढ़े और केसर ने मेरा हाथ किसुन के हाथों में दे दिया। वही जीवन में पहली बार और अन्तिम बार किसुन से मेरा अंग स्पर्श हुआ। केसर को नया जोड़ा मिला। नया जोड़ा और सुहाग की चूड़ी मैंने भी पहनी थीं, मेंहदी भी हाथों में रचाई थी। जब मेरा हाथ किसुन को पकड़ाया गया तब भावावेश से मैं अंधी हो गई। भविष्य में क्या होगा, यह मैं तब न जान सकी। पर मेरे लिए आँखें खोलना दूभर हो गया। मेरे रक्त की बूँदें नाच रहीं थीं। मैं सोच रही थी—हे भगवान, क्या सच मुझे मनचीता दूल्हा मिल गया था। पर मेरा नशा थोड़ी ही देर में उतर गया, जब मेरी माँग में सिन्दूर देकर किसुन, राजपुरोहित और महाराजाधिराज लौट गए। रह गईं हम दोनों

निरीह अभागिन नारियाँ। नहीं, नहीं, नारियाँ नहीं—गुलाम गोलियाँ—केसर और मैं। भला हम गोलियाँ भी कहीं नारी नाम धारण कर सकतीं हैं—गोलियाँ, जिन के जीवन, आदर्श और ध्येय सभी कुछ संसार की नारियों से भिन्न होते हैं—जो राजसुख भोगती हैं, पर रानी नहीं होतीं; जिनके ब्याह होते हैं, पति होते हैं, पर वे उनकी पत्नी नहीं होतीं। उन के सन्तानें होती हैं, पर वे उनकी माता नहीं होतीं। उनका धर्म पृथ्वी की सब स्त्रियों से जुदा है, जीवन जुदा है, वे एक नई ही दुनिया में जीती और मरती हैं।

बहुत देर तक मैं अभिभूत-सी गुमसुम बैठी रही। ऐसा लग रहा था जैसे आशा और आनन्द की एक चिनगारी कलेजे में जलती है और बुझ

जाती है । मन उछलता है और डूब जाता है । केसर भी गुमसुम थी । वह इधर-उधर धरा-उठाई कर रही थी । थोड़ी ही देर में किसुन आया । उसके अंग पर वे ही ब्याह के नए वस्त्र थे । नित्य की भाँति शयनागार को उसने सजाया । फालतू वस्त्र तहा कर अलमारियों में रखे । रात की पोशाक निकाल कर पलंग पर रख दी । वह इस भाँति सब काम कर रहा था, जैसे आज कुछ नई बात हुई ही नहीं है । उसने मुझे सरकार कहकर ही सम्बोधित किया । अपने आगे के इक्कीस साल के जीवन में भी उसी भाँति वह यही सम्बोधन करके मुझे पुकारता रहा । पर मैं आज उसे किसुन नाम से न पुकार सकी । तूकार से भी बात नहीं कर सकी । आज ही क्यों, अपने आने वाले जीवन में भी, जब तक वह निरन्तर मेरी ही चाकरी में रहा, छाया की भाँति, इक्कीस बरस तक—मैं फिर उसे न उसका नाम लेकर पुकार सकी, न तूकार से बात कर सकी ।

परन्तु इस समय मैं हैरान थी । मेरा कलेजा धड़क रहा था । वह मेरी सेज सजा रहा था । और मैं भाँति-भाँति के सपने देख रही थी । मन का पाप आपसे कहती हूँ । मै अभागिन सोच रही थी—क्या आज यह मेरे सुहाग की सेज सज रही है ? क्या आज मेरी यह सुहागरात है ? जब कि मैं पराए आदमी की जूठन मात्र हूँ और मेरे पेट में एक बालक पनप रहा है, जिसका मेरे इस पति से कोई सरोकार नहीं है ? क्या जैसे मैं गोली होकर भी इस शाही छपरखट पर सोती हूँ, उसी भाँति क्या यह गोला चाकर भी, जिस ने ब्राह्मण की साक्षी में मेरा हस्त-ग्रहण किया है, इस सेज पर आज आरोहण करेगा ?

मैं किसुन को प्यार तो करने ही लगी थी, यह बात तो आपसे छिपी हो नहीं है । वह प्यार मैंने सब से छिपाया पर किसुन की नजर से तो छिपा न था । पर हम दोनों धर्म के बन्धन में बंधे चाकर थे । स्वामी के साथ विश्वासघात करके अपनी गोली जाति को कलंकित नहीं कर सकते थे । हम दोनों ही कस कर अपने मन को बाँधे रहते थे । पर अब ? ब्याह होने के बाद ? परस्पर पति-पत्नी होने के बाद ? क्या हम एक

दूसरे को खुल कर प्यार कर सकते थे ? एक दूसरे को आत्मार्पण कर सकते थे ? क्या आज से वह मेरे साथ पति की भाँति व्यवहार करेगा ? मुझे उसकी कोठरी में जाना होगा या वही मेरे महल में रहेगा ? मैं यही सब सोच रही थी। परन्तु कहाँ ? चारों ओर तो जो कुछ हो रहा था, वह तो ऐसा था जैसे मानो कुछ नई बात हुई ही नहीं है। सब कुछ वैसा ही है। ब्याह मेरा चुपचाप कुछ मिनटों में ही हो गया था। उस में अग्निहोत्र नहीं हुआ था, फेरे नहीं फिरे थे। हाथी, घोड़े, प्यादे, बाजे, गाजे, धूमधाम कुछ भी नहीं हुई थी। ब्याह म ने कुंवरी का भी देखा था, जहाँ पति भी हाजिर न था, केवल कटार के साथ फेरे हुए थे। फिर भी धूम-धाम गाजे-बाजे का अन्त न था। पर इस से क्या ? कुंवरी तो ठाकुर की बेटी, राजा की रानी थी। आज वह रानी-महारानी सब कुछ होकर निर्वासिता थीं। पति सुख से वंचिता थीं। जीवन के अन्धकार में धंसी चली जा रही थीं। इसी नव-वयस में। और मैं ? मैं दुर्लभ राजसुख भोग रही थी। राज कर रही थी। पर इस से क्या ? मैं भी तो गोली जन्मजात गुलाम, जिनका रक्त भी इन अभिजात्य ठाकुरों के यहाँ बन्धक था। सो, मैं कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रही थी कि अब पति के साथ मेरे कैसे सम्बन्ध रहेंगे और अन्नदाता के साथ कैसे ? भय, आशंका और उद्वेग में मेरा मन झूल रहा था, पर मैं कुछ कह न सकती थी। किसुन शान्त, निरुद्वेग अपनी चाकरी बजा रहा था। जैसे वह भूल गया था कि आज अभी कुछ क्षण पहले ही मेरे साथ उसका ब्याह हुआ है। वह सेज सजा रहा था, क्या अपनी दुलहिन के लिए ? सुहागरात आ रही थी ? सो क्या उसके लिए ? मैं यही सोच रही थी कि किसुन मेरे पास आया। धीरे से कहा—"अन्नदाता आज यहीं कांसा आरोगेंगे।" और वह बाहर चला गया। उसकी नीचे झुकी हुई आँखें वेदना बखेरती गईं और मेरा कलेजा धक से रह गया। जैसे मैं मर गई होऊं।

वह चला गया और मैं ठगी-सी लुटी-सी देखती रह गई। अपने भाग्य को कुछ-कुछ समझ गई। यद्यपि उस आग का मैं अभी कुछ अनुमान न लगा

पाई थी जिसमें मुझे जीवन भर जलना था, फिर भी उसने इस क्षण मेरे कलेजे को छू लिया। मैं केसर से लिपट कर फूट-फूट कर रो उठी।

बहुत देर तक रो लेने पर मेरा जी हलका हुआ, तब केसर ने मुझे धर्म का मर्म समझाया। उस समय उस ने अपने गत जीवन का भी इतिहास बताया। वह भी कुछ इसी प्रकार का जीवन काट चुकी थी। इसी कम आयु में बहुत कुछ भोग चुकी थी। उस ने कहा—"क्या करेगी, रोना-धोना तेरे काम न आएगा। तुझे अपना चाकर का धर्म निबाहना है। धनी तेरे अन्नदाता हैं। उन की सेवा तुझे तन-मन से करनी है। अपने मन को पत्थर बनाना है। मन चलायमान किया तो जग में तेरा मुंह काला होगा। एक पल में ये राजसुख लोप हो जाएंगे और काल कोठरी मिलेगी या विष का प्याला पीना पड़ेगा। खबरदार रह। कभी किसुन को बढ़ावा न देना और कभी उसे एक चाकर से भिन्न और कुछ न समझना।"

मैं ने रोते-रोते कहा—"तो फिर ब्याह के ढकोसले की क्या आवश्यकता थी?" केसर ने कहा—"बहन, हम गोली-गुलाम हैं। राजा-ठाकुरों के भोग-विलास के साधन। पर वे हमारी सन्तानों को तो अपनी नहीं कह सकते। ऐसा करें तो उन की सारी रियासत गोली-गुलामों की औलाद ही के गुजारे में बंट जाए। इसलिए हमारे बाल-बच्चों के लिए पिता चाहिए, जो गोला हो और जो हमारे बाल-बच्चों का पिता कहलाए, जिससे वे राजाओं की रियासत में गुजारे के हकदार न बनने पाएं। तू गर्भवती हो गई, तेरे भावी बच्चे के लिए पिता की जरूरत थी। अन्नदाता भला उसके पिता कैसे बन सकते थे! इसी से किसुन से तेरा ब्याह रचाया गया है। पतिव्रत धर्म तेरा अन्नदाता ही के प्रति है। हाँ, तेरे बच्चे सब किसुन के ही कहलाएंगे।"

मैं तो राजा के साथ विलायत का पानी पी आई थी। अंग्रेज महिला से शिक्षा पा रही थी। जीवन के सच्चे स्वरूप को समझने की बुद्धि मुझ में उग रही थी और यद्यपि मेरी बुद्धि अभी कच्ची थी, फिर भी बहुत

सी बातों को मैं समझने लगी थी। इन्ही सब कारणों से मेरा यह गुलामी का जीवन मुझे आज विषधर नाग बन कर डस रहा था। मैं चाह रही थी कि धरती फट जाए और मैं उसमें समा जाऊं।

परन्तु धरती फटी नहीं। प्रलय हुई नहीं। मैं मरी नहीं। जीती रही, जलती रही, सुलगती रही। नए-नए दिन आते गए। जीवन मुझे ठगता गया। कभी हंस कर और कभी रो कर मैंने विधाता के सारे लेख पढ़ डाले। दर्द को मैं सह गई, जैसे नीलकण्ठ ने हलाहल पी कर सह लिया था। मैं अपने को अपने जीवन के अनुकूल बनाने में सिद्ध हो गई।

अन्नदाता दिन पर दिन मेरे निकट होते गए। उनके गुणों ने अवश्य मुझे मोह लिया, पर मैं अभागिन उन्हें प्यार न कर सकी। प्यार तो किया मैंने अपने पति को। बहुत बार चाहा कि उसे लेकर कहीं भाग जाऊं। यह कुछ मेरे लिए कठिन भी न था। मैं अब बहुत कुछ अपनी स्वामिनी थी। किसी का मेरे ऊपर अंकुश न था। महाराजा बहुधा हफ्तों मेरे पास न आते थे। प्रवास के ऐसे भी काल आए, जब महीनों तक वह मुझ से पृथक् रहे। मेरे ऊपर कोई पहरा न था। मै आसानी से भाग सकती थी, पर मै तो नींव के पत्थर की भाँति वहाँ से डिगी नहीं। महाराज मेरे निकट होते, तब भी और महीनों हफ्तों दूर रहते तब भी, किसुन तो मेरे निकट ही मेरी चाकरी में रहता था। फिर भी न मैंने, न उसने, एक बार भी कभी अपनी मर्यादा से बाहर कदम रखा। कैसी विचित्र थी यह मर्यादा! मुझ से अधिक उसकी···जो मर्द था, तरुण था, और मैं जिसकी विवाहिता पत्नी थी। हमें एकान्त की लम्बी और सूनी रातें मिलीं। दुःख-दर्द के दलदल में हम एक साथ रहे, हास-परिहास भी हमने किए। और प्यार का सागर तो सदा ही हमारे दोनों के मन-मन्दिर में लहराता रहा। पर कभी एक बार भी हम नहीं डिगे। कैसा कठिन था यह व्रती जीवन, जो एक दो दिन का नहीं, पूरे इक्कीस साल का था! कौन स्त्री इतना सह सकती है, इतना जल सकती है? और कौन मर्द इतनी मर्दानगी रख सकता है? हाँ, मर्दानगी ही मैं कहूँगी। योगी यति भी

इतना संयम, धैर्य नहीं रख सकते जितना किसुन ने रखा। कैसे आश्चर्य की बात है कि मैं, जो एक क्षण के लिए भी किसुन को भूलती न थी, कभी उसके प्यार से खाली रहती न थी, उसी के सम्मुख पर-पुरुष की पर्यंकशायिनी बनती थी। क्या यह निर्लज्जता की पराकाष्ठा न थी? क्या यह एक अधम जीवन का ज्वलन्त उदाहरण न था? इसी से तो मैं कहती हूँ कि मै स्त्रियों में अधम हूँ। मै रोती थी, किसुन के विछोह में सूनी सेज पर छटपटाती थी, और किसुन मेरी ड्योढ़ियों पर तब भी हाजिर रहता था, अपनी चाकरी में मुस्तैद। वह भी रोता था, यह मुझ से छिपा न था। आखिर हाड़-मांस का ही तो शरीर था, वज्र तो नहीं, पत्थर तो नहीं। पर हम अपने सेवक-धर्म से बंधे चुपचाप अपनी-अपनी आग में जलते थे। न मेरे आंसू उसने कभी देखे, न मैं ने उस के। पर जैसे मैं उसकी जलती-भुनती निश्वासों को संजो कर अपने मन में रखती थी, वैसे ही वह भी रखता था। मेरे मन का प्यार वह जान गया था और मैं उसके मन के प्यार में सराबोर थी। पर कभी एक बार भी तो हमारे ओठों में वह प्यार मूर्त न हुआ। ऐसे ही हमारे उठती जवानी के उमंगते हुए इक्कीस बरस बीत गए। पूरे इक्कीस बरस!

: ३१ :

# पुत्र-जन्म

यथासमय मैं ने पुत्र को जन्म दिया। हीरे की कनी के समान आभा और ज्योति से जगमग उस जीवित तत्व ने जब अपनी अपरिचित आँखों से मुझे निहारा तो मैं ठगी-सी रह गई। जैसे मेरा ही धड़कता हुआ हृदय मूर्त हो उठा हो। मैं उसे अपलक देखती रह गई, भावालोक में डूबी हुई। आगे जो होने वाला था, वह तो मैं अभी जानती ही न थी। पुत्र तो वह अन्नदाता का ही था। पर अन्नदाता को उसे देखकर, उसके जन्म की सूचना पाकर कोई विशेष खुशी न हुई। उन का रूखा-सूखा-सा भाव मुझे आहत कर गया और उस नन्हीं-सी संधि के सहारे जो हलकी-सी प्यार की किरण उदय हुई थी, वह वहीं तिरोहित हो गई। किसी अज्ञात शक्ति ने जैसे मेरे कान में कह दिया—'यह तेरा पति नहीं, धर्म-सखा नहीं, जीवन-संगी नहीं। केवल तेरा ग्राहक है, भोक्ता है।' और मैं उदास हो गई। उन की समूची गुण-गरिमा, राज-महिमा जैसे मुझे अपने बोझ से चकनाचूर कर गई।

पर किसुन आनन्द में विभोर था। कई रातों वह जागता रहा। आँखें उस की बहुधा सूजी रहतीं, लाल रहतीं, और ओंठ फूले हुए। मैं अब इतनी अबोध न थी कि यह न समझती कि वह रात-रात भर रोता

रहता है। क्यों न रोएगा भला ! उस के दुःख को भी क्या अब कह कर समझाया जाए ? उसने मेरा इतना यत्न किया, इतनी सेवा की कि शायद वह न होता तो मैं मर ही जाती। प्रसव में मुझे बहुत वेदना हुई। महाराज एकाध बार आकर पूछताछ कर गए। सारा ही भार उन्हों ने किसुन पर डाल दिया। लेडी डाक्टर रियासत की थी ही। चिकित्सा शुश्रूषा का प्रबन्ध था ही। पर किसुन तो मेरे जीवन का सहारा था। कितनी लज्जा की बात है कि वह भी मुझे 'सरकार' कहकर ही पुकारता था। और उसके इस प्रकार पुकारने पर मै लाज में गड़ जाती थी। मेरी अन्तरात्मा चीत्कार कर के पुकारना चाहती थी—"प्रियतम, मैं तुम्हारी दासी थी, तुम्हारी पत्नी हूँ। और यह तुम्हारा पुत्र—हाँ हाँ तुम्हारा। अब चाहे हमारा तुम्हारा शरीर-सहयोग न भी हुआ हो, पर मेरा यह पुत्र तुम्हारा है। तुम मेरे पति हो और मेरे इस बालक के पिता हो।"

हाय रे विधाता, मैं प्यार और आवेश में जो सोचती थी, सत्य भी तो वही था। मेरी संतान के पिता का दायित्व लेने ही के लिए तो वह मेरा पति बनाया गया था। वह बात तो केसर ने समझाई थी मुझे, पर इसका मर्म तो मैं अब समझी। एक मास का मेरा यह बालक, मेरे जिगर का टुकड़ा किसुन को सौंप दिया गया। दूध पीने को धाय लगा दी गई। कृत्रिम उपचारों से मेरा दूध सुखा दिया गया। मेरा यौवन ढल न जाए, आकर्षण कम न हो जाए, शरीर बेडौल न हो जाए। इस सम्बन्ध में चिकित्सकों को पूरी हिदायतें दे दी गईं। मेरा मातृत्व हाहाकार कर उठा। मैं केवल एकाध बार अपने लाल को देख भर सकती थी। अब मैंने समझा कि किन अर्थों में किसुन उस बालक का पिता है। ओफ, मैं कितना रोई। कैसे आश्चर्य की बात है कि आँसुओं के उस समुद्र में वह रंगमहल डूब न गया।

मेरे इस दुःख में साथिन थी केसर। वह रोती थी, ढाढ़स भी देती थी। गोली का धर्म भी समझती थी और उस धर्म का मर्म भी।

धीरे-धीरे मैं स्वस्थ हो गई और अन्नदाता फिर यथावकाश मेरे पास आने लगे। बालक को नर्सें पाल रही थीं। उस का पालन अवश्य यत्न से हो रहा था। किसुन अवकाश पाकर मेरी सेवा से बचा अपना शेष समय उसी को गोद में लेकर व्यतीत करता था। मैं उस से आँखों ही में पूछती—"कैसा है मेरा लाल।" और वह ओंठों में हास्य और आँखों में पानी भर कर उस का मुझे जवाब देता, मेरी आँखों से आँख मिला कर। तब मेरी आँखें भी गीली हो जातीं।

वह पहली चोट थी। जीवन-प्रवाह का यह चमत्कारिक दस्तूर है कि 'चोट का दर्द' कायम नहीं रहता, तो मेरा दर्द भी ठंडा पड़ गया। मुझे भी हंसना पड़ा और अपना निर्लज्ज गोली का धर्म आगे निबाहना पड़ा। पूरे इक्कीस वर्ष। पाँच बार मैंने संतान प्रसव की। हर बार मुझे नई भावनाओं का सामना करना पड़ा। अब उन सब बातों को कैसे कहूँ? कैसे अपने उस उलझे हुए जीवन के सुख-दुःख आपको बताऊं? बस इतना ही समझ लीजिए कि सुख-दुःख का एक अद्भुत मिश्रण था मेरा वह जीवन। सुख शरीर में था और दुःख मन में।

: ३२ :

# बन्दर-राजा

गद्दीनशीन राजा के भाई-बन्दों के जीवन भी अद्भुत रहस्यपूर्ण होते हैं। उनके चरित्र पर्दे में ही रहते हैं, इस लिए सब लोगों को उन का पूरा पता नहीं लग पाता। कभी-कभी उनके चरित्र अत्यन्त हास्यास्पद, कभी वीभत्स और कभी भयानक भी हो जाते हैं। बहुधा साम्पत्तिक मामलों में इन भाई-बन्दों में परस्पर और कभी-कभी हिजहाइनेस से भी भड़प हो जाती थी। केवल भड़प ही क्यों, कभी-कभी तो ज़बर्दस्त कूटनीतिक टक्करबाज़ी हो जाती थी। जिसका पता ही सर्व-साधारण को नहीं लग पाता। अब आप ज़रा इन बन्दर-राजा का भी दिलचस्प किस्सा सुन लीजिए—और दाद दीजिए राज-रक्त की विशेषता, पवित्रता और उच्चता की, जिसकी रक्षा के लिए ५० साल की कुमारी राज-पुत्रियाँ २० साल के गद्दीनशीन राजाओं से ब्याही जाती हैं। जहाँ कमाना-धमाना नहीं, मेहनत-परिश्रम नहीं—पड़े-पड़े हराम के माल-मलीदे उड़ाना है। पुश्त दर पुश्त से ज़ागीर-ज़मीन जायदाद मिलती आती हो—केवल खून और वंश के नाम पर जागीर के स्वामी को; न किसी योग्यता की आवश्यकता है न उसके लिए कोई शर्त पाबन्दी, कायदा-कानून हैं। सिर्फ खून का सम्बन्ध होना चाहिए। बस, उसे जैसे मुफ्त में जागीर मिल जाएगी, उसी

प्रकार जागीर में बसने वाले—प्रजाजनों पर मनमानी हुकूमत—जिसे मैं तो खुले शब्दों में अत्याचार कहूँगी—करने की खुली छुट्टी मिल जाती थी। उन का तो सारा जीवन ही इस तरह व्यतीत होता था कि पड़े-पड़े जागीर की आमदनी खाना, जोर-जुल्म से किसानों से अपना कर वसूल करना, चमारों और दूसरे सेवा-कर्म करने वालों से ज़बर्दस्ती बेगार लेना। बात-बात में लाग लगाना—जिसे दूसरे शब्दों में लूट ही कहा जा सकता है, और अफीम पी लेना या चरस के दम लगाना, या भंग के गोले सटकना। शिकार खाना और रियाया की बहू-बेटियों पर गृद्ध-दृष्टि रखना। जिसे चाहें, उसे ज़बर्दस्ती उठवा ले आना। जी चाहे जिस के यहाँ से कुछ भी चीज उठा लेना और मूल्य न देना। जी चाहे जिस पर जूतों से पिटाई करा देना। यह उनके नित्य के काम थे। कुछ यही बात नहीं कि रियाया को कसूर करने पर ही पीटा जाय; बेअदबी और ठकुरास की तौहीन करने पर ही सजाएँ मिलनी जरूरी हैं। कल्पना कीजिए—कि जागीरदार ठाकुर या उसकी बिरादरी का कोई भी ठाकुर गाँव में कहीं जा रहा है, कि उसने देखा—एक नाई या ऐसा ही कोई व्यक्ति—जिसे जाति से छोटा समझा गया, अपने घर के द्वार पर खाट बिछा कर बैठा है; उसने तुरन्त खड़े हो कर, दोनों हाथ जोड़ कर ठाकुर को मुजरा नहीं किया तो ठाकुर की तौहीन हो गई। अब उसे जूतों से पिटवाना ज़रूरी हो गया। या कोई चमार बेगार से इन्कार करता है या खाने को मांगता है तो इस अपराध में उसे पीटना पड़ेगा। और कभी-कभी तो इतना कि वह मर भी सकता है। केवल पुरुष ही नहीं, स्त्री को भी पीटा जाता। ऐसी हालत में यदि वह गर्भिणी है, और मार से गर्भपात हो गया तो इसकी कोई दाद-फर्याद कहीं नहीं हो सकती। यहाँ तक कि मर जाने की भी नहीं।

बन्दर-राजा महाराजाधिराज के सगे बड़े भाई थे। यह मैं आप को बता चुकी हूँ कि महाराजाधिराज गोद आए थे। जिस ठिकाने से गोद आए थे, उस ठिकाने को—गद्दी पर गोद आने का प्रथम अधिकार प्राप्त

था। यह ठिकाना राजा के भाई बन्दों के ठिकाने में सब से निकट का और सब से प्रतिष्ठित था। यदि दुर्भाग्य वश इस ठिकाने पर भी कोई उत्तराधिकारी नहीं तो फिर दूसरे ठिकानों से लड़के गोद ले कर गद्दी पर बैठाए जाते थे। यह पुरानी परम्परा चली आती थी। छोटा भाई जब गद्दीनशीन हो कर महाराजाधिराज हो गया, तब यह बड़ा भाई अपने ठिकाने का स्वामी, अपने पिता की मृत्यु के बाद होता। परन्तु पिता के जीवन काल में ही कुछ घटनाएँ हो गईं। प्रथम तो यह कि उक्त बन्दर-राजा सर्व गुण निधान थे। पढ़े-लिखे छुच्छुम। सूरत-शक्ल में हूबहू बन्दर, तिस पर बचपन में चेचक निकलने से ऐसे कुरूप हो गए कि सारा चेहरा ही बिगड़ गया। रंग एकदम स्याह शाम। नाक बहुत बड़ी और मोटी। गर्दन ठिगनी, मोटे कान और गन्ने के पोर के समान मोटी और भद्दी उंगलियाँ। डील-डौल भैंसे के समान। भोजन भी समूचा बकरा या सूअर खाने पर तृप्ति। स्वर मोटा और भद्दा। तौर-तरीके देहाती, अशिष्ट और भद्दे। व्यंग-मज़ाक अश्लील। सोहबत गोले—और दूसरे जी हज़ूरी। बचपन में जब किसी तरह पढ़-लिख न सके तो दोस्तों के साथ आवारागर्दी करने, अमल आरोगने या दारू पीने लगे। धीरे-धीरे अपनी कच्ची उम्र में ही पक्के शराबी बन गए। राजा के बेटे थे—राजा थे—ब्याह एक ठिकानेदार की बेटी से हो गया। एक लड़की भी पैदा हो गई। पर अब उसे जुए का और तमाशबीनी का चस्का लगा। घर में काई चीज़ सलामत न थी। रुपया पैसा ज़ेवर-जवाहरात जो हाथ लगता, कौड़ियों के मोल बेच जुआ खेलते। किसी की बहू-बेटी की इज्जत सलामत न रही। जिसे चाहते उठवा मंगाते। लफंग-पार्टी के मुफ्तखोरे सदा साथ रहते, जिन के कारण कुकर्मों की बाढ़ आ जाती। राजा साहब भले आदमी थे। समझदार भी थे। लड़के के तौर-तरीके देख कर बहुत खीझते। इसी समय उन की रानी का स्वर्गवास हो गया और राजा साहब ने फिर एक नई शादी की। नई रानी की चढ़ती उम्र थी। राजा साहब बहुत थक चुके थे। कुशिक्षा और कुसंस्कार का प्रभाव कहना

चाहिए कि नई माता से पुत्र का अनुचित सम्बन्ध हो गया। इस पर राजा साहब ने क्रुद्ध हो कर पुत्र को रियासत के उत्तराधिकार से वंचित कर दिया। और केवल एक गाँव उस के गुजारे के लिए उसे दे दिया। अब तो कुंवर साहब की आवारागर्दी और भी बढ़ गई और वह गांव बेच-बाच कर एक ही वर्ष में उन्हों ने ठिकाने लगा दिया। तीन वर्ष नई रानी को सौभाग्य प्रदान कर राजा साहब स्वर्ग सिधारे। रानी अब रियासत की स्वामिनी हो गई। रियासती अधिकार पर माता, पुत्र में विग्रह हो गया। जो विकट रूप धारण कर गया। दोनों ही दोनों को मरवा डालने के षडयंत्र करने लगे। पर रानी स्त्री थी—और कुंवर साहब कुल्लांच छूछे हाथ थे। इससे कोई योजना बनी नहीं। रानी ने उन्हें रियासत में घुसने की मनाही कर दी। उनकी लड़की की शादी बड़े महाराज ही कर गये थे। सो वह कुछ दिन तो बेटी के पास रहे। पीछे उन्हों ने मटरगश्ती का धंधा अख्तियार कर लिया। दो दिन इस रिश्तेदारी में, दो दिन उस रिश्तेदारी में। खाना खाते, कपड़े पाते, नकद दक्षिणा भी पाते थे। राजा के बेटे थे। राजकुमार थे। नाते-रिश्ते के लोग उन्हें मानते और सहायता देते थे। पर उनके लान-तान और शराब खोरी की लत इस क़दर बढ़ गई थी कि इस से उन के नशे-पानी का खर्चा चलता नहीं था। उन की पत्नी ने उन्हें घर से निकाल दिया। खाना देना भी बन्द कर दिया। अब वे चोरी और उठाईगीरपने पर उतर आये। रिश्तेदारी में जाते, १०-५ दिन खाते-पीते मौज-मजा करते। शराब और शिकार की वहाँ कमी नहीं होती। चांदी के बर्तनों में खाना मिलता। और कुंवर साहब अवसर पा चांदी के बर्तन या ज़ेवर–माल या जो कुछ भी हाथ लगे—उठा कर चुपचाप चम्पत होते।

परन्तु इतने पर भी हाथ उनका खाली रहता था। जो पाते जुए और शराब की भेंट हो जाता। बहुधा वे किराये के इक्के-ताँगे में सवार हो कर घूमने निकल पड़ते, और अन्त में बिना ही किराया दिए चल खड़ होते। ऐसी हालत में इक्के-ताँगे वाले उन्हें पकड़ कर ठोक-पीट

देते या हाथ की छड़ी-छाता, पैर के जूते, कोट जो भी पा सकते थे, छीन-छान कर भगा देते थे। अब पिता के मरने पर, रियासत से बर-तरफ होने पर भी वे अपने को कुँवर नहीं, राजा कहते थे। पर हाल राजा साहब का यह था, जो अभी मैंने बयान किया। सब बातें हिज हाइनेस ने सुनीं। सुन कर उन्हें बुलाया, समझाया। पर नतीजा कुछ नहीं हुआ। अन्ततः महाराजाधिराज ने गुस्सा हो कर उन्हें महल में कैद कर लिया। महल के बाहरी हिस्से के एक कमरे में बंद कर उस पर ताला जड़ दिया। एक बन्दूक-धारी संतरी पहरे पर नियत कर दिया। महल के रसोड़े से दोनों समय उनके लिए भोजन आ जाता था। खाते थे और आराम से पड़े रहते थे। किसी न किसी तिकड़म से शराब भी मंगा ही लेते थे।

राजा थे, इसलिए धर्म-कर्म, पूजा-पाठ भी करना जरूरी था! पर यह काम करता था, राजपुरोहित का तरुण पुत्र। यह ब्राह्मण कुमार कुछ मूर्ख और बातूनी था। जन्म-जन्म के संस्कारों के प्रभाव से इस जंगली, असभ्य, कंगाल, दुराचारी कैदी को वह अन्नदाता और सरकार कह कर पुकारता। अनेक धर्म कथाएं सुनाता। उस भाग्यहीन ने बातों ही बातों में, इस बन्दर से मेरी भी चर्चा कर दी। चर्चा भी ऐसी-वैसी नहीं। खूब नमक-मिर्च लगा कर। उन दिनों मेरे जले रूप की जैसी झूठी-सच्ची शोहरत रियासत में फैली थी, इस नालायक ब्राह्मण कुमार ने उनमें भी रंग चढ़ा कर बन्दर राजा को सुनाना आरम्भ कर दिया। और अब यह बन्दर सब से अधिक मुझी में दिलचस्पी लेने लगा। मेरी ही बातें खोद-खोद कर पूछने लगा। अन्ततः यह कामुक और दुराचारी राजा मेरे विरह में सुलगने लगा। और वह पाजी ब्राह्मण उसे अच्छी तरह सुलगाने लगा। राजा रात-रात-भर अब गन्दी गजलें गाता, अनेक कुचेष्टाएं करता। जो मेरे नाम से इस कदर संयुक्त हो गईं कि वे अब मुझ तक पहुँचने लगीं। परन्तु इसका कोई गम्भीर परिणाम भी हो सकता है—यह मैंने कभी नहीं सोचा था।

एक दिन ज्योंही पहरेदार ने ताला खोल कर और भोजन का थाल ले कर भीतर प्रवेश किया, कि राजा चीते की भाँति उछल कर उस पर टूट पड़ा। और जब तक पहरेदार सम्हले—वह बन्दर की भाँति उचक कर कमरे के बाहर हो गया। द्वार पर रखी बन्दूक उसने उठा ली और देखते ही देखते आँखों से ओझल हो गया। यह कमरा महल के भीतरी आँगन में था। इसलिए पहरा और सिपाहियों का यहाँ कुछ विशेष प्रबन्ध न था। वह तो खास राजा का बड़ा भाई समझ कर सरकार अन्नदाता कह कर पुकारते थे। रुआब भी मानते थे। इसी से इस आकस्मिक घटना से बेचारा अकेला पहरेदार हक्का-बक्का हो गया। कुछ क्षण तक तो उसके मुख से बात ही न निकली। पीछे वह राजा की खोज में भागा। पर राजा का कहीं पता ही न था। उसने मन ही मन जो स्कीम बना ली थी, उसे कोई सोच भी न सकता था। वह सीधा जेलखाने पहुँचा और बन्दूक फीलवान की छाती पर तान कर कहा—'साले फीलवान, हाथी खोल।' बेचारा फीलवान डर गया। मामला क्या है, यह वह समझ न सका। उसने हाथी खोल दिया। राजा सूंड पर हो कर हाथी पर चढ़ गया। फीलवान को हुक्म दिया कि हाथी मेरे महल के पिछवाड़े ले चलो। ज्योंही हाथी महल की पिछली फसील के पास पहुँचा, यह बदमाश राजा धम से मेरे महल में हाथी से कूद पड़ा। बन्दूक अब भी उसके हाथ में थी। आँखों में खून तैर रहा था, सूरत उसकी एक खूंखार जंगली भैंसे या गैंडे के समान भयानक दीख रही थी। उस समय दैवयोग से मैं अकेली ही अपने शयन कक्ष में आराम कर रही थी। केसर बच्चे के पास थी। और किसुन किसी काम से गया था। राजा बन्दूक लिए एकदम मेरे पलंग पर चढ़ बैठा। और मैं जरा सम्हल कर उठी तो एक धक्का दे कर मुझे गिरा दिया। क्षण भर ही में मैं आसन्न-विपत्ति को समझ गई। बहुत बार इस राजा की बेहूदी हरकतों पर मुझे हंसी आई थी। बहुत बार घृणा हुई थी। परन्तु इस बार तो क्रोध से मैं जल उठी—न जाने कहाँ से मेरे शरीर में दैत्य का बल आ

गया। राजा मेरे ऊपर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था कि मैंने उसकी टाँग खींच कर नीचे गिरा दिया। गिरते ही बंदूक उसके हाथों से छूट गई। बिजली की तरह लपक कर मैंने बंदूक उठा दोनों हाथों से उस पर एक भरपूर वार किया। वार कारी बैठा और उसका सिर फट गया। सिर से खून बहने लगा। पर मुझे इसकी क्या चिन्ता थी। मैं तो उसे जान से मार डालने पर आमादा थी। मैं ने बंदूक की नाल सीधी उसकी छाती पर तान कर घोड़े पर हाथ डाला। एक ही क्षण में इस पतित की मुक्ति का क्षण आ लगा था। पर इस कायर कुकर्मी ने एकदम हाथ जोड़ कर मेरे पाँव पकड़ लिए और गिड़गिड़ाने लगा। उसी समय बहुत से सिपाही किसुन और दूसरे लोग महल में घुस आए। परन्तु किसी का हियाव उस पर हाथ चलाने का न होता था। यह देख मेरा खून खौलने लगा। बंदूक मैं ने फेंक दी और बेंत उठाया, फिर तो मैं ने गिना नहीं। देखा नहीं। जिस ढब पड़ा मैं ने वह मार मारी कि पीछे मुझे भी आश्चर्य हुआ। राजा निरीह भाव से पिटता रहा। जब मैं ही थक कर बेदम हो गई तो बेंत को फेंक कर सिपाहियों से कहा—'ले जाओ, इस जानवर को महाराजाधिराज की सेवा में।' पर कैसे आश्चर्य की बात थी, इतने पर भी किसी की हिम्मत उसे छूने की न हुई। तब मै ने ही उसे दुत्कार कर भाग जाने को कहा। और वह चुपचाप वहाँ से चल दिया। उसके पीछे ही सब सिपाहीं आदि भी चले गये। सिर्फ किसुन रह गया। वह भयभीत नजर से मेरी ओर देख रहा था। भय उसका गलत न था। एक गोली की यह हिम्मत कि राजवंशी पर हाथ उठाए। अन्नदाता को बेंत लगाए। जिसे महाराजाधिराज दादाभाई कह कर पुकारते हैं। परन्तु मैं उसी भाँति संतुष्ट थी मानो कोई अत्यन्त मनोरंजक तमाशा मैंने देखा हो। मैं खुश थी। अपने वीरत्व पर। जिस की मै ने कभी कल्पना भी न की थी। किसुन ने डरते-डरते कहा—"अन्नदाता सुन कर क्या कहेंगे ?"

मैंने दर्प से जवाब दिया—"कोल्हू में पिलवा देंगे। बस ?"

पर किसुन ने मुझ से बहस नहीं की। वह कमरे की अस्त-व्यस्त सामग्री को ठीक करने में लग गया।

: ३३ :

# अब यौवन का ज्वार उतरने लगा

दिन बीते, मास बीते, वर्ष बीते। वर्ष पर वर्ष बीत गए। इस बीच मैंने तीन और सन्तानों को जन्म दिया। तीनों पुत्रियाँ। इन सब के लालन-पालन का पूरा भार किसुन पर था, इसलिए किसुन का बहुत-सा समय बच्चों की ही सार-सम्हाल में बीत जाता था। सब बातों का ध्यान मैं यत्न से रखती थी। किसुन को खर्च-पानी का कष्ट नहीं होने देती थी। रुपए-पैसे की मुझे कमी न थी। महाराज के नए से नए वस्त्र, शाल-दुशाले, पोशाक मैं उसे दे देती। मेरे अटाले से अच्छे से अच्छा भोजन उसे मिलता। फिर हमारे झूठे थाल पर तो उसी का अधिकार था। प्रतिदिन संध्या का समय बच्चों को सजा-धजा कर मेरी ड्योढ़ियों में जुहार करने लाता था। अपनी चाकरी पर वह मेरे निकट अधिक रहना चाहता, पर मैं आग्रहपूर्वक उसे बच्चों के पास भेज देती। बच्चों की सार-सम्हाल के लिए मैंने एक दासी और दो नौकर भी उसे दे दिये थे और मेरी ताकीद थी कि वे उसे स्वामी की ही भाँति मानें। पर किसुन का व्यवहार उनके साथ भी सदैव कोमल सहयोग का रहा।

बड़ा पुत्र अब मेरा सत्रह वर्ष का था और सब से छोटी बच्ची तीन साल की। बड़ा पुत्र यह समझता था कि मैं ही उसकी मा हूँ। पर वह

ज्यों-ज्यों सयाना होता गया, वह समझता गया कि वह जन्मजात गोला है। किसुन को वह बापू कहता था और महाराज को अन्नदाता तथा मुझे सरकार। मुझे ऐसे भी अवसर मिले जब कि मैंने उसे अंक में भर कर बेटा कहा। उस से आँख में आँख मिला कर कहा—"मैं तेरी मा हूँ, मुझे मा कह।" पर वह सदा हंस कर, लजा कर आँखें नीची कर लेता। उसे एक बार भी मुझे मा कहने का साहस न होता। पर अपने हृदय में वह जान अवश्य गया था कि मैं ही उस की मा हूँ। सो उसके नेत्रों में जब किसी स्नेह प्यार और आत्मीयता की चमक मुझे दीख जाती थी तो मेरे अन्धकारपूर्ण मन-मन्दिर में बिजली सी काँप जाती थी। जवानी का वह ज्वार, जो भावना की हिलोरों के कारण तूफानों से भरा रहता है, अब मन्द हो चला था। और इन दस वर्षों के इस द्वैध जीवन ने मुझे समुद्र की भाँति गम्भीर बना दिया था। इस बीच मैं दो बार और समूचे यूरोप,

जापान और अन्य द्वीप खण्डों में घूम आई थी। मेरा ज्ञान मेरे अनुभवों तथा भावनाओं का सहारा लेकर काफी परिष्कृत हो चुका था। मेरी आयु अब पैंतीस को पहुँच रही थी। अब सम्पूर्ण तारुण्य मेरे अंग-अंग में खिल रहा था। इस बीच में एक बार भी किसी गम्भीर रोग से आक्रान्त नहीं हुई थी। मेरा रूप अब भी बिखरा पड़ता था और राजा एक प्रकार से अब भी मेरे अनुगत दास थे। मेरी किसी भी इच्छा की वह अवहेलना नहीं कर सकते थे। मेरे महल में आकर अलस भाव से दारू पीना और पड़ा रहना एक प्रकार का उनका व्यसन हो गया था। मैं भी अब उतनी अदब-कायदे की पाबन्दी नहीं करती थी। महल में सब कोई मुझे रानी ही के समान आदर करते थे। केवल एक पुरुष था जो इसका अपवाद था, वह था लालजी खवास। वह अब भी मुझे गोली ही समझता था। चम्पाबाई कह कर पुकारता था। कभी सलाम-मुजरा नहीं करता था और चाहे जब बिना इत्तला किए मेरे महल में आ धमकता था। वह राजा से भी अधिक निर्द्वंद्व था और उससे मेरी कुछ भी पार नहीं पड़ती थी। मैं उसे घृणा की दृष्टि से देखती थी, यह बात वह जानता था और समय कुसमय व्यंग्य-वाणी से उनका बदला भी चुकाता था। लेकिन किसुन वीरता से उनका मुकाबला करता था। कभी-कभी दोनों की झड़प हो जाती थी। तब किसुन उसे खूब आड़े हाथों लेता था। इससे मुझे प्रसन्नता होती थी।

मेरे पास अब काफी धन इकट्ठा हो गया था। मैंने कुछ कारोबार में भी रुपया लगा दिया था। बम्बई के एक दलाल के मार्फत शेयरों की खरीद-फरोख्त करती रहती थी। कई कम्पनियों के हिस्से भी खरीद लिए थे। एक काटन प्रेस रियासत में ही खुलवा दिया था। इस सब की देख-रेख, हिसाब-किताब सब किसुन ही रखता था। रुपया-पैसा भी वही रखता। मेरे बैंक का हिसाब भी सब उसी के सुपुर्द थे। एक प्रकार से वही मेरा दरबान, खजानजी और सलाहकार था। वह खूब सावधान होकर कौड़ी-पाई का हिसाब रखता था और समय-समय पर मुझे सम-

झाता रहता था। मैं तो अपनी ओर से उसे ही अपने सर्वस्व का मालिक समझती थी। पर वह मेरा सारा काम केवल सेवा-भाव से करता था। उसका मुझे बड़ा सहारा था, भारी भरोसा था। वह मेरी जीवन-नैया का खेवैया था। अब और क्या कहूँ, कहते अपने इस अधम गुलाम शरीर को छोड़ कर जो अन्नदाता का था—और सब कुछ मैं किसुन को दे चुकी थी, अपना मन और धन। केवल तन पर मेरा हक न था। वह स्त्री धर्म के आधीन नहीं—गोली धर्म के आधीन था।

: ३४ :

# विचित्र गृहस्थी

अंग्रेजी और हिन्दी का मुझे अब अच्छा ज्ञान हो गया था। मैं अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ने में रुचि रखती थी। पढ़ने-लिखने का मुझे अवकाश ही अवकाश था। दिन में बहुत कम महाराज मेरे महल में पधारते थे, रात को भी रोज नहीं आते थे। अतः मेरा सबसे प्रिय व्यसन पठन-पाठन हो गया था। पहले मैं धार्मिक पुस्तकों में रुचि रखती थी। गीता को मैंने पढ़ना चाहा। उसको अधिकांश कण्ठस्थ भी किया, पर उस में मेरा मन न लगा। महाभारत, बाल्मीकि रामायण मैंने खूब चाव से पढ़ा। परन्तु अब मुझे साहित्य का चस्का लग गया था। इस का आरम्भ मीरा बाई की कविता से हुआ। राजस्थान में मीरा के पद बहुत प्रसिद्ध हैं। महलों में वे प्रायः गाए जाते थे। मैंने भी कई पदों का गान सीखा था। मीरा की कविता के ही कारण मेरी रुचि धर्म-ग्रन्थों से रपट कर साहित्य पर जा लगी। आरम्भ में मैंने उपन्यास-कहानी पढ़े, पर पीछे तो साहित्य की अच्छी-अच्छी पुस्तकों को पढ़ने में मेरा मन लगता गया।

बार-बार विलायत-यात्रा करने से मेरी सामाजिक झिझक दूर हो गई थी। अब तो अन्नदाता के अधीन केवल मेरा शरीर था। इस बात को छोड़ कर और किसी तरह से मैं दासी न थी। सम्पूर्ण रूप में मैं

रानी की ही भाँति रहती थी। मैं सदा सामाजिक कार्यों में भाग लेती थी। दिल खोल कर चन्दा देती। स्वयं समारोहों में सम्मिलित होती। पर्दे का बंधन तो अब भी था, पर मैंने बहुत अंशों में उसे तोड़ दिया था। यद्यपि मैं खुले आम बहुत कम निकलती थी, फिर भी घूंघट मैंने त्याग दिया था। जब निकलती थी तब खुले मुँह। महाराज ने मुझे ऐसा करने की अनुमति दी थी। वह कभी मेरे रूप पर रीझे थे, अब मेरे गुणों पर मोहित थे। कठिन समय पर वह मेरा सहारा लेते थे। मन की खिन्नता में वह मेरे पास आ कर प्रसन्न होते। उन के जीवन में भी कठिनाइयाँ थीं। उन्हें हम मिल कर हल करते। यद्यपि फिजूलखर्ची रियासतों में बहुत होती थी, तथापि वह एक परिपाटी ही थी। उस से बचा नहीं जा सकता था। रंडी, भाँड और अन्य कलावन्त आते थे। इनाम-इकराम पाते थे। इस में खर्चा होता था। पर वह उस खर्च की समता न करता था जो अंग्रेज हाकिमों के दौरे पर होता था। मुझे याद है मेरे सामने दो बार वाइसराय रियासत में पधारे और हर बार ५–६ लाख रुपया खर्च हुआ, यद्यपि वह ठहरे केवल २–३ दिन ही। दरबार इन अंग्रेज मेहमानों से बहुत भय खाते थे—खास कर वाइसराय से। ये रियासत में राजा को डाँट-फटकार लगाने, उन की अयोग्यताओं की कैफियत सुनने-सुनाने, धमकी देने और उन पर यह प्रकट करने आते थे कि हम तुम्हें अत्यन्त अयोग्य समझते हैं, केवल कृपापूर्वक तुम्हें राजा बनाए हुए हैं। वास्तव में राजा उन के सामने एक पालतू कुत्ते से अधिक हस्ती नहीं रखता था। इसी से जब ऐसे राज-मेहमान आते, रियासत भर में गाजे-बाजे, सवारी-रोशनी, दावत-शिकार आदि की धूम मचती। तब महाराजाधिराज थक कर, प्रायः बौखलाए हुए, बेंत से पीटे हुए कुत्ते की भाँति मेरे महल में आ पड़ते थे। एक बार तो मैं ने उन की आँखों में आँसू भी देखे। पर मैं सदैव उन्हें ढाढ़स देती। सचाई और वीरता से कठिनाइयों का सामना करने की सलाह देती। बहुत बार मैं ने उन्हें विपत्ति से उबारा। एक बार तो मुझे अपना सारा संचित धन, हीरे-

जवाहरात और जेवर निछावर कर देने पड़े।

मैं दबंग भी थी। प्रकृति मेरी बचपन से ही सतेज थी। अब तो राज-वैभव, सुख-सुविधा, यूरोप-यात्रा और शिक्षा के प्रभाव से मैं और दबंग हो गई। मेरा यह दबंगपन महाराज को पसंद था। वह कहते—"चम्पा, तू राजा बन जा और म तेरा चाकर बन जाऊँ।" इस पर मैं केवल एक मीठी मौन मुसकान में ही अपेक्षित उत्तर देती थी। मेरे विद्याव्यसन को वह जानते थे, पसन्द करते थे। वह स्वयं भी विद्वान् और विद्या-व्यसनी थे। पर पढ़ने-लिखने के लिए बहुत कम समय उन्हें मिलता था। सुबह का बहुत-सा समय उन का पूजा-पाठ में बीतता और शाम का शराब की लत में। राज-काज भी वह कुछ देखते थे। पर हकीकत में वह इस के लिए योग्य पुरुष न थे। राजा की अपेक्षा वह प्रेमी अधिक थे। महल में और कोई भी स्त्री मेरी भाँति विद्या-व्यसनी न थी। धर्म-कर्म, पूजा-पाठ का ढकोसला मुझे रुचिकर न था। यह सब पहले भी मैं कम ही करती थी, अब तो प्रायः छोड़ ही दिया था। यहाँ तक कि श्रीजी के दर्शन भी मैं खास-खास अवसरों पर ही करने जाती थी। राज-पुरोहित मेरे

महल में आ कर ही नित्य चरणोदक दे जाते थ। राजा मुझे नास्तिक कह कर और कभी मेम साहब कह कर मेरी हँसी उड़ाते थे, पर कभी बुरा नहीं मानते थे। उन्हें गुस्सा बहुत आता था, पर मुझे देख कर वह उतर जाता था। मैं तो केवल एक बार उनके चाबुक से पिटी। फिर तो उन्हों ने बहुत बार मेरे सम्मुख उस करनी के लिए खेद प्रकट किया। शराब की उन्हें बुरी लत थी। शराब पी कर वह आपे से बाहर हो जाते थे, पर मै सदा उन्हें शराब से दूर रखने की चेष्टा करती। बहुधा उन्हें उत्तम पुस्तकें पढ़ कर सुनाती। कविता सुनने में उन्हें रस आता था। वह कभी-कभी कविता रचते भी थे। वह जब कभी रियासत से बाहर जाते, मै उन से अच्छी पुस्तकें लाने की फर्माइश करती और वह मेरे लिए पुस्तकें लाना कभी न भूलते। इस प्रकार मेरे पास उत्तम पुस्तकों का एक बड़ा संग्रह हो गया था।

महाराज को केवल संगीत सुनने का शौक न था, वह स्वयं संगीतज्ञ भी थे। उन्हों ने मुझे खुद संगीत का शौक कराया। आरम्भ में उन्हों ने ही मुझे इसराज-सितार और गायन सिखाया। बाद में उस्ताद जी को रखा। मै अच्छा गाने लगी थी। हाँ, उन जैसा सितार न बजा सकती थी। वह बहुधा मेरे महल में आ कर बड़ी रात तक स्वयं तबला बजाते और मेरा आलाप सुनते। कभी स्वयं भी आलाप लेते। तबला बजाने में किसुन भी सिद्ध-हस्त था। वह भी हमारी संगत में बहुधा रहता। उस की उपस्थिति से मैं प्रसन्न होती थी। कभी-कभी मैं महाराज की अनुपस्थिति में भी गाने बैठ जाती। तब भी किसुन तबले पर संगत करता था।

अब मुझे अपनी सन्तान को उच्च शिक्षा दिलाने की धुन सवार थी। मै ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि चाहे जो भी हो जाए, मै उन्हें गोले-गुलाम का जीवन नहीं व्यतीत करने दूँगी और मैं उन्हें सभ्य तथा प्रतिष्ठित नागरिक बनाऊँगी। उनके लिए मैं ने अच्छी-सी रकमें रियासत से बाहर बैंकों में जमा कर दी थीं। मेरा बड़ा लड़का जब दस वर्ष का था, तभी मैं ने महाराज से बहुत-बहुत आग्रह कर के उसे अजमेर के मेयो

कालेज में भरती करा दिया था, जो केवल राजकुमारों के लिए खोला गया था। वहाँ उसके लिए एक प्रतिष्ठित विद्वान् गार्जियन भी नियुक्त कर दिया था, जिस का पूरा खर्चा मैं देती थी। इस साल वह वहाँ से ग्रेजुएट हो कर कानून पढ़ने बम्बई चला गया था।

किसुन को भी मैं ने विद्या-व्यसनी बना दिया था। उसके रहन-सहन, क़पड़े-लत्ते का मैं पूरा ध्यान रखती थी। बहुधा मैं उसे पुस्तकें पढ़ कर सुनाती और छाँट-छाँट कर पुस्तकें उसे पढ़ने को देती थी। मेरे बड़े पुत्र को वह लाल साहब कहता था। मैं भी उसे लाल साहब ही कह कर पुकारती थी। वह जब कालेज चला गया तब किसुन बड़ा अधीर हो गया। उस से उसे बहुत प्यार हो गया था। वह उसे बापू कहता था। पर अब उस कमी को वह मेरी तीनों पुत्रियों का लालन-पालन कर के पूरी करता था। अभाव में भाव और भाव में अभाव—जैसे भी समझा जाए, हमारी विचित्र गृहस्थी इस तरह लुढ़की चली जा रही थी।

: ३५ :

# लालजी की शत्रुता

लालजी खवास रंगमहल में मेरा एक मात्र शत्रु था। जिस दिन मैं रंग-महल में आई और इस आदमी पर मेरी दृष्टि पड़ी, उसी दिन मेरा मन इस के प्रति घृणा से भर गया। इस के बाद जब मैं ने इस के सारे चरित्र सुने-जाने तब से मैं इसे तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगी। वह भी मेरी दृष्टि को पहचान गया। भला यह कैसे सम्भव हो सकता था कि जिस का रंगमहल पर अबाध शासन चलता हो, उसे एक जन्मजात गोली-गुलाम तिरस्कार की दृष्टि से देखे। उसे तुच्छ समझे। वह तो रानियों तक को कुछ न समझता था। बस, आरम्भ ही से मेरी उस के साथ ठन गई। सभी लोग उसे बाबा साहब कहते थे। पर मैं उसे 'खवासजी' कह कर ही पुकारती थी। मेरा यह सम्बोधन भी उसे सह्य न था। उस ने भी मुझे नाम ले कर 'चम्पाबाई' कह कर पुकारना आरंभ किया। पर मुझे यह पसन्द न था। मैं ने उस के लिए ड्योढ़ी बन्द कर दी। परन्तु वह रंगमहल का तो एक प्रकार से सुपरिंटेंडेंट ही था। रंग-महल की सभी स्त्रियों की आवश्यकता की पूर्ति वही करता था। इसी का उसे घमण्ड भी था। पर मैं ने सारी असुविधाएँ सहन कीं और मैं इस पशु के सामने नहीं झुकी। मेरे इस काम में किसुन ने सहायता की।

वह जब भी मेरी ड्योढ़ी में आता, किसुन बाहर ही उस से बात करता। उसे भीतर आने न देता। वह कहता—"जैसे हम गोले चाकर हैं, वैसे ही तुम भी चाकर खवास हो। हमारे अन्नदाता नहीं हो। फिर कैसे हमारी सरकार को नाम ले कर पुकारते हो। तुम सरकार कहो और मुजरा जुहार करो तो तुम्हारे लिए ड्योढ़ी खुल सकती है, नहीं तो नहीं।' उस ने अन्नदाता से भी शिकायत की, पर उन्हों ने भी कान नहीं दिया। इसी से वह सदा मुझे तेल की धार में हो कर देखता था। कहना चाहिए, सदैव मेरी जड़ काटने पर आमादा रहता था। पर मैं उसे मुँह नहीं लगाती थी। उसे तुच्छ और कमीना समझती थी।

मैं जान गई थी कि महाराज को जितनी बुरी लतें थीं, वे सब इसी आदमी ने लगाई थीं। यह मनुष्य के रूप में पक्का शैतान था। सम्भव है यदि रियासत में यह पुरुष न होता तो महाराज के अच्छे गुणों का और अधिक विकास होता। महाराज पूरी तरह से इस के चंगुल में फँसे थे। रंगमहल पर तो इस का अबाध शासन था ही। केवल मैं इस के शासन को नहीं मानती थी। इसी से यह मुझे तुच्छ गोली-गुलाम की नजर से देखता। फिर गोली तो मैं थी ही। पर अपने गुणों तथा शिक्षा के कारण और आत्म-प्रतिष्ठा की भावना से ओत-प्रोत होने से मैं अपने को अब उतना हीन नहीं समझती थी और समय-समय पर उस का तिरस्कार कर बैठती थी। इस लिए इस ने महाराज का मन मुझ से फेरने में बड़े जोड़-तोड़ लगाए। पर चाहे मेरे रूप-गुणों से कहिए, चाहे सेवा-निष्ठा से कहिए, चाहे स्वयं महाराज की शालीनता से कहिए, एक बार जो उन का मन मुझ से मिला सो मिला। मैं तो यही समझती रही। पर भीतर-ही-भीतर जो विष का पौदा पनप रहा था, उसे मैं ने उस समय जाना ही नहीं था। महाराज सब कुछ उस की सुनते थे, पर मेरे विरुद्ध कुछ नहीं कहते थे। हाँ, वह उस के विपरीत भी नहीं सुन सकते थे। महाराज की मर्जी के खिलाफ मैं उन्हें चिढ़ाना पसन्द नहीं करती थी। अतः मैं कभी अपने और उस के बीच के विवाद को

महाराज तक नहीं ले जाती थी। स्वयं ही म इस से निबट लेती थी। इस काम में किसुन मेरे साथ था। वह एक वीर पुरुष की भाँति इस नर-पिशाच से मेरे पक्ष में लोहा लेता था। अन्त में तो मुझे इस नर-पशु के षड्यंत्र का शिकार होना ही पड़ा।

: ३६ :

# वासुदेव महाराज

लालजी खवास का एक और समर्थ प्रतिद्वन्द्वी रंगमहल में था, जो उस का अदल नहीं मानता था। वह था रंगमहल के रसोड़े का मुखिया वासुदेव महाराज। बड़ा टेढ़ा था यह ब्राह्मण। रंगमहल में यह पुरुष हीरा था। इस पर अन्नदाता का भी शासन नहीं चलता था। रंगमहल में यह महाराज के नाम से पुकारा जाता था। परन्तु रियासत के बहुत-से तरुण उसे गुरुजी कहते थे। अवस्था उस की साठ को पार कर गई थी। हाथी के समान डील-डौल। सिर और डाढ़ी-मूंछ सफाचट। हाथ में मोटा सोटा। मोटे खद्दर का एक कुर्ता और धोती। पैर में राजस्थानी जूता। विविध पक्वान्न बनाने में दक्ष। छुरी, तलवार, कटार और कुश्ती के दाव-पेंच में उस्ताद। पढ़ा-लिखा कम, पर सैकड़ों संस्कृत के श्लोक, फारसी के शेर, भिन्न-भिन्न भाषाओं की कहावतें उस के कण्ठ पर रहती थीं। कुछ हकला कर बोलता था, पर बात-बात में श्लोक, कवित्त और शेर का पुट लगा कर जब वह अपनी वक्तृत्व-कला का विस्तार करता था तब रंग आ जाता था। अकेली जबान का ही उसे जोर न था, उस की सहायता के लिए हाथ का सोटा सदा प्रस्तुत रहता था। रंगमहल में ही नहीं, राजधानी में कहीं किसी पर कुछ अत्याचार हुआ नहीं कि

वासुदेव महाराज बुलाए गए, या बिना बुलाए, वहीं हाजिर हो गए। अच्छे-अच्छे व्यंजन बनाना और जिन पर प्रसन्न हों उन्हें खिलाना उन का व्यसन था। राज्य से १००) माहवार मुशाहरा उन्हें मिलता था, पर यह तनख्वाह न थी, पेन्शन थी; क्यों कि उन से काम-काज की कोई बात नहीं पूछता था। नाम के लिए वह प्रधान रसोइया थे, पर रसोड़े पर वह केवल देख-भाल ही रखते थे। अपने हाथ से कोई काम नहीं करते थे। देख-भाल भी मनमौजी थी। कुछ आवश्यक न था कि वह रसोड़े में हाजिर ही हों। बस, उन के डंडे का प्रताप पुजता था। सब काम आप-ही-आप सब लोग ठीक-ठाक करते रहते थे। दीन-दुखियों की महायता करने तथा पक्ष लेने के कारण लोग उन्हें प्यार करते थे। नगर में बहुत से तरुण उनके शागिर्द थे, जिन के लिए उन्हों ने अपने घर में अखाड़ा बना रखा था। वहाँ उन्हें वह कुश्ती तथा छुरी-तलवार के पेंच सिखाते थे। उन की गालियाँ सुन कर लोग खुश होते थे। अपने डंडे को वह निर्भयराम कहते थे। 'चलो बेटा निर्भयराम' उन का तकिया कलाम था। जब डंडा हाथ में उठा कर चलते तब यही वाक्य उच्चारण करते थे। जिस तरह मेरे रंगमहल में आते ही खवास अकारण ही मेरा बैरी बन बैठा था, उसी तरह अकारण ही यह ब्राह्मण भी मेरा मित्र बन गया। किसुन उस से कुश्ती लड़ना और तलवार चलाना सीखता था। अच्छा बदन था किसुन का। वह वासुदेव महाराज को गुरुजी कहता था और उन की अच्छी सेवा करता था। वासुदेव भी किसुन को 'बेटाजी' कहते थे। उस से मिल कर खुश होते थे। वासुदेव महाराज से मेरी भी पटरी बैठ गई। मेरे महल की ड्योढ़ी उन के लिए सदा खुली रहती थी। हम दोनों में शीघ्र ही घनिष्टता बढ़ गई। हम दोनों ने एक दूसरे के विशिष्ट नामकरण कर डाले। वासुदेव मुझे 'चम्पाकली रानी' कहते और मैं उन्हें 'बापजी' कहती। बहुधा वह मेरे लिए कुछ-न-कुछ खाने की वस्तु बना कर लाते। एक रोज लाए करेले का मुरब्बा। हरे रंग की बिल्लौरी प्याली में रख कर बड़े सुचारु रूप से वह

मुरब्बा मुझे पेश किया और उन्हों ने कहा—"चम्पाकली रानी, देखो क्या नायाब चीज लाया हूँ तुम्हारे लिए।" मैं ने हँस कर नमस्कार किया। चौकी पर बैठते हुए वह बोले—"देखो, चम्पाकली रानी, मेरे पास सोने-चाँदी के पात्रों की कमी नहीं। फिर क्या कारण है कि मै ने तुम्हें इस बिल्लौर की प्याली में यह नायाब मुरब्बा पेश किया ?" मैं ने कहा—"यह तो सीधी बात है; एक तो करेले का मुरब्बा, फिर उस का असली रूप-रंग, इस की बहार इसी प्याली में प्यारी लग सकती है। भला सोने-चाँदी की प्यालियों में यह बात कहाँ ?" मेरा जवाब सुन कर वह ठठा कर हँस पड़े। बोले—"जीती रहो, जीती रहो। बड़ी जहीन हो, भगवान् तुम्हारी उम्रदराज करे। लो, अब जरा चख कर भी देखो। मजा करेले का भी कायम है और मुरब्बे का भी।"

एक रोज एक थाल कलाकन्द ले आये और लगे कलाकन्द की खूबियाँ बयान करने। मुझ से पूछा—"तुम्हें बर्फी पसन्द है या कलाकन्द, चम्पाकली रानी ?" मैं ने हँस कर कहा—"मुझे तो कलाकन्द ही ज्यादा पसन्द है।" कहने लगे—"तो चख कर देखो, कैसा बना है ?" एक डली मुँह में डाल कर मैं ने तारीफ की—"बहुत उम्दा बना है।"

"उम्दा कलाकन्द की क्या पहचान है, बताओ तो ? और बर्फी तथा कलाकन्द में क्या फर्क है, यह भी बताओ ?"

अब मैं क्या बताऊँ, खाक या पत्थर ? "इन बारीक बातों को भला मैं क्या जानूँ ?" मै ने झेंपते हुए कहा। तब बोले—"राजाओं की सोहबत में रहती हो। बर्फी तो वह उम्दा, जो मुंह में डालते ही घुल जाए। और कलाकन्द उस का नाम—कि एक डली दीवार पर मारो तो रवा-रवा बिखर जाए। अब देखो तो जरा, इस डली में दाने का क्या उभार आया है।"

एक बार उन्हों ने मुझे दावत दी। मेरे ही महल में विविध पक्वान्न बनवाए। एक-दो चीज अपने हाथ से भी बनाई। बड़े शौक और प्यार से थाल परस कर मेरे पास लाए। ज्यों ही मैं ने पूरी का टुकड़ा तोड़ा,

तड़ाक से बोले—"भैंस हो भैंस तुम, चम्पाकली रानी। बस, देखने की ही चम्पाकली हो। खाने की तमीज नहीं।"

मैं ने घबराकर हाथ खींच लिया। डरते-डरते कहा—"कहां चूक हो गई बापजी ?" तो हकलाते हुए गुस्से से बोले—"भूक्खड़ की तरह पूरी पर टूट पड़ी। जैसे छप्पन के अकाल की मारी हुई हो। अरे, यह हलुआ तो पहले चखो, जिसे मैं ने सिर्फ तुम्हारे लिए अपने हाथ से बनाया है।" और जब मैं ने हलुआ खा कर उस की भूरि-भूरि प्रशंसा की, तब उन्होंने दस बीस हलुए के नुसखे बयान कर डाले। ऐसे ही मस्त जीव थे वासुदेव महाराज। उन की गालियाँ बड़ी प्यारी लगती थीं। प्यार में ही वह गाली देते थे। भावुक ऐसे कि बात करते-करते रो उठते थे। जब तबियत ऊब जाती तब मेरे महल में आ बैठते। जब मेरे बच्चे हुए तब उनका सारा ही प्यार बच्चों पर उमड़ आया। घंटों बैठकर उन्हें खिलाते, पेट पर उछालते। बहुत बार मैं ने उन्हें रुपया-पैसा और भेंट-नजर देना चाहा। पर उन्होंने कभी मेरा दान स्वीकार नहीं किया। जब कभी ऐसा प्रसंग आता तब हंस कर अपना डंडा ऊंचा करके कहते—"सुनते हो निर्भयराम, चम्पाकली रानी इस ब्राह्मण को आज दान देना चाहती है।" और हो-हो कर हंसते हुए चल देते।

महाराजाधिराज की भी वह परवाह नहीं करते थे। इस का कारण यह था कि उन की वृद्ध माता, जो अब अस्सी बरस से भी अधिक आयु की थीं, राजमाता की गुरु थीं। वह उन्हें गीता पाठ सुनातीं और पूजा कराती थीं, इस से वासुदेव महाराज राजमाता से जो चाहे करा लेते थे। उनकी कहीं कोई दाद-फर्याद न थी।

रसोड़े के सब कर्मचारी रसोइए उन से डरते भी थे, उन्हें प्यार भी करते थे। पर कभी-कभी कोई दुष्टता भी कर बैठता था। एक बार मैं ने गोठ की, और अन्नदाता को बुलाया। और भी सरदार आने वाले थे। मैं ने रात में ही कह दिया था कि खीर अवश्य बनाना। खीर के लिए अन्नदाता ने खास फर्माइश की थी। कोई एक और राजा राज-

अतिथि भी उस गोठ में महाराजाधिराज के साथ पधारने वाले थे। इस लिए गोठ की व्यवस्था जरा ठाठ से की गई थी। वासुदेव महाराज ने और सब व्यंजनों को बनाने का भार रसोड़े के अन्य सेवकों को बाँट दिया था और खीर स्वयं अपने जिम्मे ली थी। वह दूध को चूल्हे पर मन्दाग्नि से पकाने को रख, उस में अमुक मात्रा में चावल डाल देने का आदेश अपने सहायक को दे कर स्वयं मेवा तराशने आ बैठे थे। खीर की चिन्ता मुझे भी थी। अतः एक-दो बार मैं ने याद दिलाया था। वासुदेव महाराज स्वयं ही यह व्यंजन बना रहे थे, इस से मुझे संतोष था। परन्तु सहायक ने बड़ी दुष्टता की। उस ने दूध को ठीक-ठीक नहीं पकाया। आग तेज कर दी और चावल अधिक डाल दिए। परिणाम यह हुआ कि जब वासुदेव महाराज उस में मेवा मिलाने गए तब वह जल भुन कर भात का थक्का बन चुका था। देखते ही वासुदेव महाराज एड़ी से चोटी तक जल उठे। वह ऐसे जोर से गरजे कि एक बार तो सभी लोग स्तम्भित हो उठे। पर दूसरे ही क्षण उन्होंने असीम धैर्य, चातुर्य और प्रत्युत्पन्नमति से काम लिया। समय अब बिलकुल न था, क्योंकि कांसा आरोगने की बेला उपस्थित थी और खीर की खास फर्माइश थी, अतः खीर परसना अनिवार्य था। सहायक ने जान-बूझ कर वासुदेव महाराज को नीचा दिखाने को यह दुष्टता की थी। अब एक-एक क्षण मूल्यवान था। तत्काल उन्होंने अपना मलमल का कुर्ता फाड़ डाला और वह भात का थक्का उस में डाल जितना सम्भव था मथ कर छान लिया। फिर ताजा मक्खन कड़ाही में चढ़ा उसे भूना और मेवा डाल कर अनुपात से पका, केवड़ा, केसर-कस्तूरी आदि सुगन्ध डाल, चांदी की तश्तों में ढाल, बर्फ में दबा दिया। फिर उस पर सोने के वर्क लगा दिए। और जब तक दूसरी जिन्सों की परसगारी हुई, वासुदेव महाराज ने खुद तश्तों में वह निराली खीर ले महाराजाधिराज के सम्मुख पेश की। हाथ जोड़ कर अर्ज की, "खीर हाजिर है, अन्नदाता!" महाराज ने मुसकरा कर तश्त अपने मान्य अतिथि राजा के सम्मुख

पेश की। अतिथि राजा ने ज्योंही चम्मच में खीर ले कर चखी, त्यों ही वाह वाह कह उठे। बोले—"खूब बनी। लेकिन यह कैसी खीर कहाती है?"

राजस्थान में विशिष्ट खाद्य पदार्थों के नाम अवश्य पूछे जाते हैं और उनकी तारीफ होती है। अतिथि महाराज के प्रश्न के उत्तर में वासुदेव महाराज ने खट से हाथ जोड़ कर अर्ज की—"यह घोटा खीर माई-बाप!" अतिथि ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। और इस पर वासुदेव महाराज को अन्नदाता ने सिरोपाव दिया तथा वह घोटा खीर तब से राज्य के सब विशिष्ट भोजों में एक अनिवार्य और प्रसिद्ध खाद्य बन गई।

ज्योनार बीत गई। अब वासुदेव महाराज थे और वह बदनसीब सहायक। प्रथम तो निर्भयराम से उसका भली-भाँति सत्कार हुआ और उसके बाद तो बस कुछ पूछिए मत। बहुत बार मैं ने भी उस की हिमायत ली, पर वासुदेव महाराज ने उसे ऐसा रगड़ा कि वह अधमरा हो गया। ऐसे ही थे वासुदेव पंडित। अनेक कठिन अवसरों पर उन्होंने मेरी मदद की। आवश्यकता होने पर वह अपनी सामर्थ्य से भी अधिक कर गुजरते थे। एक घटना सुनिए—दाता का स्वर्गवास हो गया और ठिकाना उन का खालसा हो गया। ठिकाने का कर्जा चुकाने के लिए बहुत से फालतू सामान, जवाहरात और जेवर नीलाम किए गए। इन जेवरों में मेरी मा की एक नथ भी थी, जिसकी कीमत तीन लाख थी। उन दिनों मेरी मा रियासत में आई हुई थीं। उस ने वासुदेव महाराज से उस नथ की चर्चा की। सुन कर उन्होंने कहा—"देखूँगा।" ठीक समय पर जब नथ नीलाम की जा रही थी तब महाराज भी आ धमके। जौहरियों का बंधा नियम है कि जब रियासतों में कीमती जवाहरात नीलाम होते हैं तब वे चाहे बम्बई, कलकत्ता, जयपुर कहीं के भी हों, गुट्ट बना लेते हैं और थोड़ी घटा-बढ़ी के बाद बोली नहीं बढ़ाते। लाखों का माल वे कौड़ियों में खरीद लेते हैं और पीछे माल बेच कर मुनाफा

बाँट लेते हैं। वासुदेव महाराज सब बातें जानते थे। जब नथ पर बोली लगी तब जौहरी लोग बारह हजार लगा कर रुक गए। आगे किसी ने बोली नहीं बढ़ाई। वासुदेव महाराज ने खड़े हो कर बोली दी—"साठ हजार रुपए।" सुनकर जौहरी चौंके। कानाफूसी की, यहाँ तक कि पचास हजार रुपया उन्हें देने को राजी हो गए कि वह बोली न बोलें। पर वासुदेव महाराज भला क्यों मानने लगे। हकला-हकला कर लगे शोर मचाने—"तुम चोर हो, उठाईगीर हो, जौहरी नहीं हो। अभी तो मैं तुम्हारी सब पोल खोलूंगा। तुम ने गुट बनाकर राज्य का लाखों का माल कौड़ियों में खरीदा है।" नतीजा यह हुआ कि नथ नहीं बिकी और जौहरी मिल कर मेरे पास आए। रोए पीटे, कि हम लोगों का धन्धा ही डूब जाएगा। वासुदेव महाराज अपना हक ले लें। मा ने कहा—"नथ की कीमत तीन लाख है। यह मैं ने स्वयं खरीदी थी।" जौहरियों ने कहा—"जरूर खरीदी होगी सरकार, आप रईस हैं। आपका शौक है। पसन्द आने पर दस लाख में भी आप खरीद सकती थी। पर हम लोग तो व्यापारी हैं, हम तो देख-भाल कर ही दाम देंगे।" अन्ततः यह फैसला हुआ कि नथ लेकर फिर वासुदेव महाराज तंग न करेंगे। और साठ हज़ार रुपया नकद दे कर वह नथ खरीद लाए और मुझे दे दी। मेरे पास उस समय उतना रुपया न था। मजा यह था कि रुपया वासुदेव महाराज के पास भी न था। पर रुपया उन्होंने मुझ से मांगा ही नहीं। नथ ला दी। पीछे मैंने सुना—अपनी जायदाद रेहन रख कर उन्होंने रुपया जुटाया था। बड़ी कठिनाई से उन्होंने वह रुपया मझ से लिया।

वासुदेव महाराज के 'निर्भयराम' की भी यशोगाथा कम न थी। उस की भी एक घटना सुनिए। एक नए पुलिस के सुपरिंटेंडेंट आए थे, नौजवान और दिल फेंक। रियासत के दीवान ने अंग्रेज सरकार से इन्हें मांगा था। बड़ा रुआब और दबदबा था उनका। अच्छे-बुरे सभी लोग उनके नाम से काँपते थे। चोर-डाकुओं के काल थे। पर लंगोटे के कच्चे थे। किसी एक गरीब सिपाही की युवती स्त्री पर उनकी आँख जम

गई। धीरे-धीरे अपने अधिकार और रुपए के बल से उन्होंने उस पर अधिकार जमा लिया। गरीब सिपाही वासुदेव महाराज के पास आ कर बहुत रोया-पीटा। एक दिन बीच-बजार सुपरिंटेंडेंट साहब बहादुर को जाते देखा तो वासुदेव महाराज ने आगे बढ़ उन के घोड़े की रास पकड़ ली। हकलाते हुए कहा—',आशीर्वाद हुजूर ! आप तो राजधानी के माई-बाप हैं। बदमाशों और गुनहगारों को सीधा करना आप का काम है। पर मैं ने सुना है कि उस बेचारे गरीब सिपाही की बीबी पर आप की नजर है। बड़ी खराब बात है सरकार।"

सुपरिंटेंडेंट साहब यह सब कैसे बर्दाश्त कर सकते थे, भला। बहुत बिगड़े और "दूर हट बूढ़े" कह कर उन्हों ने घोड़ा बढ़ाया। वासुदेव महाराज चिल्ला कर बोले—"अच्छा तो कान खोल कर सुन लेना, अब उधर न जाना, वरना 'निर्भयराम' आप को राह दिखाएगा।" और एक दिन उन्हों ने मौके-वारदात पर पहुँच कर सुपरिंटेंडेंट साहब की अच्छी तरह मरम्मत कर दी। दूसरे दिन वासुदेव पंडित को हवालात में बन्द कर दिया गया। उन दिनों अन्नदाता विलायत गए हुए थे। मैं भी उन के साथ थी। अतः तीन महीने वह हवालात में सड़ते रहे। जब बाहर निकले तब सीधे दीवान साहब के बंगले पर जा धमके। लगे चीखने-चिल्लाने—"दुहाई सरकार, जुल्म हुआ है, मुझ पर जुल्म। मुझ ब्राह्मण की भी सुनिए।" दीवान अय्यर बूढ़े और गम्भीर पुरुष थे, बोले—"सुनूंगा पंडित, सौ बार सुनूंगा। पर फुर्सत होने पर।" इस पर वासुदेव महाराज बोले—"सरकार का जय-जयकार, एक बार तो आज ही सुन लीजिए।" और उन्हों ने सारा मामला सुना दिया। फिर तो दिन निकलते ही रोज का उन का काम हो गया, जब दीवान जी हवाखोरी को निकले तब सामने वासुदेव महाराज—"दुहाई सरकार, सौ बार सुनाने का हुक्म हुआ है, अभी निन्यानवे बार सुनाना बाकी है।' नतीजा यह हुआ कि दीवान तंग आ गए। मामले की जाँच हुई और सुपरिंटेंडेंट मुअत्तिल हो गए।

मसखरे भी वासुदेव महाराज एक नम्बर के थे। उन के मजाक बेजोड़ होते थे। इस का भी एक उदाहरण सुनिए। मेरी तबियत खराब थी। महीनों हो गए थे ज्वर उतरता ही न था। चिकित्सा के लिए दिल्ली के प्रसिद्ध चिकित्सक नन्हेजी वैद्य को बुलाया गया था। उन दिनों दिल्ली में दो चिकित्सकों की तूती बोल रही थी—एक हकीम अजमल खाँ, दूसरे नन्हे वैद्य। डाक्टरों की उन दिनों पूछ कम थी। नन्हे वैद्य एक हल्के-पुल्के कोई ढाई माशे के आदमी थे। वेश-भूषा, आकार-प्रकार सब निराला था। मिजाज भी निराला था। दुबला-पतला

शरीर, ठिगना कद, छोटी-सी खिजाब लगी डाढ़ी, बदन पर सफेद अंग-रखा, कमर में धोती और सिर पर गोल नुक्केदार दिल्ली-फैशन की पगड़ी। बगल में दुपट्टा या दुशाला। हाथ में चाँदी की मूंठ की मोटी छड़ी। बस, यही उन का वेश था। बड़े मृदुभाषी थे। कवि भी थे और हर विषय में टाँग अड़ाते थे। दिल्ली की ललकती भाषा में बातें करते थ। अब तो दिल्ली में न वह पगड़ी, न वह अंगरखा, न वह भाषा रही। पर नन्हे वैद्य का नाम अब भी है। दीवाली पर अब भी दिल्ली के कुम्हार नन्हे वैद्य की मिट्टी की मूर्ति बनाते हैं, जिसे दिल्ली वाले बड़े चाव से खरीदते और बच्चों को उन के लतीफे सुनाते हैं।

सुबह का वक्त था। वैद्य जी मेरे पलंग के पास कुर्सी पर बैठे मेरी नब्ज देख रहे थे। नब्ज देखते जाते थे और श्लोक पढ़ते जाते थे। यह

उन की आदत थी। किसुन अदब से पास खड़ा था और वासुदेव महाराज जरा फासले से चौकी पर बैठे उन के श्लोकों पर अपने जोड़-तोड़ लगाते जाते थे। बीच-बीच में नुस्खे में लिखी दवाइयों पर बहस भी चल रही थी। गिलोय, नीम की छाल, लाल चन्दन, पद्माख ऐसी ही नुस्खा मुझे पिलाया जा रहा था। एक-एक जड़ी की व्याख्या वैद्य जी श्लोकों में कर रहे थे। बात-की-बात में कुश्ती की बात निकली। नन्हेजी ने अपने स्वभाव के अनुसार कहा—"बचपन में अभ्यास किया था। अब छूट गया। पर शौक अब भी रखता हूँ।" ऐसी बातें वासुदेव महाराज चुपचाप सुनने के आदी न थे। बोले—"तब तो आप गुणी और पुराने कद्रदान हैं। लीजिए, एक नया पेच दिखाता हूँ। देखिए और दाद दीजिए!" इतना कह कर वह उठे और कुर्सी पर से वैद्यजी को इस तरह उठा लिया जैसे किसी बच्चे को उठाते हैं। एक-दो बार हवा में उछाला, उलटा-पुलटा किया। कहीं पगड़ी, कहीं दुपट्टा और कहीं डाढ़ी। वैद्यजी लगे हाथ-पैर मारने और छटपटाने। दो-एक बार उलट-पुलट करने के बाद वासुदेव महाराज ने वैद्यजी को आहिस्ता से कुर्सी पर रख दिया। सिर पर पगड़ी और गले में दुपट्टा रख दिया। फिर अपने आसन पर बैठते हुए कहा—"कहिए, है न निराला पेच? कहीं देखा न होगा?" वैद्यजी श्लोक पढ़ना भी भूल गए और कुश्ती की उस्तादी भी। कहने लगे—"यह तो दैत्यों का पेच है, भगवान बचाए आप से।" हँसी से मेरा बुरा हाल हो रहा था और किसुन 'गुरुजी' 'गुरुजी' रट रहा था, परन्तु वासुदेव पंडित मौज में थे। एक से बढ़ कर एक कुश्ती के पेच बताते चले जा रहे थे—उसी प्रकार हकलाती हुई निराली भाषा में। ऐसे ही थे वासुदेव महाराज।

: ३७ :

# गोद-नशीनी

बन्दर-राजा की बात तो आप भूले न होंगे। मेरे हाथों की मार खा कर वह न जाने कहाँ जहन्नुम में चला गया था। इसके बाद उस की कोई खैर-खबर नहीं मिली। महाराजाधिराज ने उस की बहुत खोज की। बहुधा वह मुझ से उस की चर्चा करते थे, मैं ने उसे पीटा था—यह बात यद्यपि उन्हें अच्छी नहीं लगी थी। पर इस सम्बन्ध में उन्हों ने मुझ से कुछ भी नहीं कहा। इस प्रकार उसका मेरे घर में घुसना और दुस्साहस करना स्वयं हिजहाइनेस को भी बुरा लगा था। उन्हों ने यद्यपि उसे कैद कर रखा था, पर बड़े भाई की भाँति ही मानते थे। यह बात तो मैं भी जानती थी। इसी से मैं अपनी ओर से उन के सम्मुख यह प्रसंग छेड़ती ही न थी।

अब इस घटना को कोई दस बरस बीत चुके थे कि एकाएक महाराजाधिराज ने उस का उल्लेख किया। कहा, उसकी हालत खतरनाक है। उसे भगन्दर का भयानक रोग हो गया है। और वह एक धर्मशाला में असहायावस्था में पड़ा है। महाराज उसे महलों में ला कर रखना और उस का इलाज करना चाहते हैं। यह इच्छा भी मुझ पर प्रकट कर दी। बीती बात मैं भूल चुकी थी। दुरवस्था की बात सुन

कर तथा महाराजाधिराज से रक्त सम्बन्ध की बात का खयाल कर के मैं ने महाराज के इस इरादे का समर्थन किया। मेरा समर्थन पा कर वह खुश हो गए और वह बदनसीब राजा फिर महलों में आ गया। उस की चिकित्सा के लिए दिल्ली से एक प्रसिद्ध वैद्य बुलाया गया। दो खिदमतगार उस की सेवा को रख दिए गए। और इस बार उस की राज-अतिथि के समान खातिर-तवाजा तथा खुशामद होने लगी।

इन सब बातों को, और इन बातों के भेद को मैं नहीं जानती थी। केवल महाराजाधिराज की सुजनता ही समझती थी, परन्तु यहाँ तो एक विचित्र ही खेल खेला जा रहा था। जिस का पता मुझे बाद में लगा।

अकस्मात् ही एक दिन महाराजाधिराज ने कहा वह बन्दर राजा मेरे बड़े लड़के को गोद लेना चाहता है। मैं इस का अभिप्राय नहीं समझी। महाराज से मैं ने पूछा—"किसलिए ?"

"इसलिए कि उस ठिकाने पर उसके बाद तुम्हारे लड़के का अधिकार हो जाय। मैं उसे राजा देख सकूं।"

"परन्तु यह हो कैसे सकता है ? प्रथम तो मेरे पुत्र को गोद लेने की बात ही में कोई तुक नहीं है। हम लोग गोली-गुलाम हैं। राजा बन नहीं सकते। दूसरे इस राज का ठिकाने पर अधिकार ही नहीं है। अधिकार रानी साहिबा का है। तीसरे राजा के पिता ने राज में पक्की लिखा-पढ़ी करा कर ही उसे राज से बर-तरफ कर दिया था।"

मेरी बात सुन कर महाराजाधिराज हँसने लगे। बड़ी विचित्र-सी, ठण्डी-सी, कड़ुवी-सी थी वह हँसी। कभी भी महाराज को मैं ने वैसी हँसी हँसते देखा नहीं था। मैं महाराजाधिराज की यह मुद्रा देख ठगी-सी रह गई। महाराज ने मुझे समझाते हुए कहा—"यह ठीक है कि बाबा ने दादा को ठिकाने के अधिकार से वंचित कर दिया था। परन्तु वंचित दादा ही को तो किया था उस के पुत्र को तो नहीं किया।"

"उस के पुत्र को ?" मैं ने अकचका कर कहा। "उस का पुत्र कौन है ?"

"क्यों ? तुम्हारा लड़का।"

"वाह, यह भी कोई बात है ?"

"क्यों नहीं है। गोद लेने पर वह उन का पुत्र हो गया या नहीं।" क्षण भर मैं ने हिज हाइनेस के मुँह की ओर देखा—फिर कहा—"खैर, ऐसा हुआ भी तो उन के जीते जी तो नहीं हो सकता। फिर अभी तो रानी साहिबा जीवित हैं। जो इस समय ठिकाने की मालिक हैं।"

"वे बीमार हैं। और दिल्ली के अस्पताल में उनका इलाज हो रहा है।"

"क्या बीमारी है उन को ?"

"कैन्सर हो गया है।"

भय की एक सिहरन मेरे शरीर में दौड़ गई। मेरे मुँह से निकला—"कैन्सर ?"

"तो तुम जानती हो कि इस मूज़ी रोग के चुँगल में जो फँस गया, उस का बचना सम्भव नहीं है।"

"मैं जानती हूँ।"

"यही बात तो भगन्दर के सम्बन्ध में कही जाती है। फिर, दादा की हालत तो सर्वथा निराशापूर्ण है। उन का रोग अब अच्छा नहीं हो सकता।"

"क्या वे इस बात को जानते हैं ?"

"नहीं, वे तो आराम होने की आशा लगाए बैठे हैं। वैद्यराज ने भी उन्हें आशा बंधाई है। यह बात कहते-कहते महाराजाधिराज के मुँह पर वैसी ही ठण्डी और अशुभ मुसकराहट फूट पड़ी।"

वह मुसकाहट मुझे रत्ती-भर भी न भाई। परन्तु मैं ने एक शब्द भी न कहा। चुपचाप महाराजाधिराज के मुँह की ओर ताकती रही। महाराज ने उसी मुस्कान में कहा—तुम्हारा बेटा राजा बन जाएगा। मेरा मन भी यही है, और तुम्हें भी इस में कोई आपत्ति न होगी।

परन्तु इस पर भी मेरे मुँह से बोली न फूटी। किसी अज्ञात भय की एक सिहरन-सी मेरे शरीर में फैल गई।

महाराज ने कहा—"सब व्यवस्था ठीक है। दीवान और ए. जी. जी. की खानापुरी तो करनी ही पड़ेगी। इसके अतिरिक्त मैं खुल्लम-खुल्ला इस मामले में आना नहीं चाहता। भाईबन्दी का मामला ठहरा। परन्तु इन्तजाम मेरा पक्का है।

"कैसा इन्तजाम ?" मैं ने सहम कर पूछा।

"बस, पहले मा, पोछे बेटा।"

"क्या मतलब ?"

"वैद्यराज से मामला तय हो गया है। बहुत होशियार आदमी है। उसने दादा को विश्वास दिलाया है कि वे जरूर अच्छे हो जाएंगे। तुम्हारे लड़के को गोद लेने का प्रस्ताव भी उन्हीं ने सुझाया है। उन्हों ने कह दिया है कि इस से महाराजाधिराज प्रसन्न हो कर इलाज जारी रखेंगे। खातिरदारी भी करेंगे। आराम होने पर वे ठिकाने के मालिक हो जाएँगे।"

"लेकिन आप का इन्तजाम ?"

"कहा तो, पहले मा, पीछे बेटा।"

"पर मैं तो समझी नहीं इस का मतलब ?"

"सीधी बात है। पहले मा खत्म होनी चाहिए, जिस से अधिकार सीधा बेटे को जाय। बापू बरतरफ अवश्य कर गए हैं, परन्तु जब कोई दूसरा वारिस ही न होगा तो दादा ही का हक है। उन के बाद तुम्हारा लड़का।"

"बड़ी भयानक बात है। मरना जीना तो भगवान के हाथ है।"

"होगा, पर ऐसे मौकों पर दूसरे लोगों को भी भगवान् का काम करना पड़ता है।"

"तो···मेरा हलक सूख गया, मगर मैं कुछ-कुछ समझ गई। पर राजाधिराज ने एक लम्पट की भाँति हँस कर कहा—वैद्यराज ने इस

बात का जिम्मा ले लिया है कि जब तक रानी साहिबा न मर जायं—"वे दादा को जिन्दा रखेंगे। रानी साहिबा के मरते ही दादा भी खत्म। फिर ठिकाने पर तुम्हारे लड़के का दखल।"

हे परमेश्वर, ये राजा-महाराजा रईस इस कदर नीच स्वार्थी निर्दय होते हैं कि सगे भाई-मा और सम्बन्धी को जहर देकर मार डालने की बात हँस-हँस कर करते हैं। ऐसे कामों की व्यवस्थित योजना बनाते हैं। और उसे दूसरों से कहते हुए तनिक भी नहीं शर्माते। मेरी आँखों से झरझर आँसू बहने लगे। मैंने गिड़गिड़ा कर कहा—"क्षमा करो, अन्नदाता! इस कुकर्म से मुझे और मेरे बच्चे को दूर ही रखिए। मैं मैं गोली हूँ, गुलाम हूँ। मेरा बच्चा भी गुलाम रहे। कुछ हर्ज नहीं। पर ऐसी बातें मुझ से न कहिए।"

महाराजाधिराज पर मेरी बातों का कुछ भी असर न हुआ। उन्होंने कहा—तू बेवकूफ है! सब बातें नहीं समझती। ये रियासती मामले हैं, तू देखती रह। क्या-क्या गुल खिलते हैं। दिल्ली मेरा आदमी जा चुका है। रानी जी वहाँ से जिन्दा लौटेंगी नहीं।

राजाधिराज ने और बातें नहीं कहीं। मेरा रोना-धोना उन्हें भाया नहीं। उनकी योजना चलती ही रही। अपने बच्चे के अनिष्ट की आशंका से मैं रह-रह कर काँप उठती। बन्दर राजा की खूब आवभगत हो रही थी। चार-चार खिदमतगार उसकी सेवा में लगे थे। वैद्यराज खूब मालमलीदे उड़ा रहे थे। उधर रियासत भर में मेरे लड़के की गोद-नशीनी की धूम मच रही थी। इन दिनों मेरा लड़का मेयो कालेज अजमेर में पढ़ रहा था। मैं चाहती थी कि इस पाप कर्म से मैं अलग ही रहूँ तो अच्छा। पर मेरा तो कुछ अधिकार ही न था। मैं ने किसुन से सब बातें कहीं। और वासुदेव महाराज से भी सलाह लेने को कहा। इस पर और एक दूसरे भेद का भण्डाफोड़ हुआ। ज्ञात हुआ कि दादा के बाद ठिकाने पर उनकी लड़की, दामाद दावेदार हुए हैं। जिनसे अन्नदाता नाराज हैं। और केवल उन्हें नीचा दिखाने ही को यह सब प्रबन्ध

आरम्भ हुआ है। यह भी हो सकता था कि मेरे बेटे के प्रति महाराजाधिराज का कुछ मोह हो—परन्तु मैं तो किसी भी हालत में यह सब कुकर्म पसन्द नहीं करती थी।

पर मेरी पूछता कौन था। रियासत में महाराजाधिराज की इच्छा के विपरीत में कर ही क्या सकती थी। ठीक मुहूर्त शुभघड़ी दिखा कर गोद-नशीनी का जल्सा धूमधाम से हो गया। बन्दर-राजा को सजा-धजा कर सोने की कुर्सी पर बैठाया गया। सोने के हुक्के पर तमाखू पिलाया गया। रियासत के सभी जागीरदार और रईस-उमरा आए। दावतें हुईं। जश्न हुए, लीजिए साहिब, मेरा बेटा अब राजा का उत्तराधिकारी बन गया। पक्की लिखा-पढ़ी हो गई। कागजात पर गवाही करने और इस बात का सर्टीफिकेट देने, कि राजा पागल या बदहोश नहीं है, दो अंग्रेज सिविल सर्जन भी बाहर से बुलाए गए। सब काम पूरा हो गया। यह काम जैसे मुझे अच्छा न लगा—उसी भाँति किसुन को भी पसन्द न आया। हम ने जैसे सम्भव हुआ—लड़के को तुरन्त ही अजमेर वापिस भिजवा दिया। रियासत में उसका रहना हमें अच्छा न लगा। एक बात और कही—महाराजाधिराज इस मामले से बजाहिरा दूर ही दूर रहे। एक प्रकार से यह स्वतन्त्र ठिकाने का ही समारोह था। ऐसा प्रकट किया गया।

: ३८ :

# माँ और बेटा

अभी गोदनशीनी के जश्न खत्म भी न हुए थे कि सुना रानी साहिबा दिल्ली से लौट आई हैं। राजधानी में ही ठिकाने की कोठी थी, उसी में वे ठहरी हैं। हालत उनकी बहुत खराब है। वे जिन्दा तो हैं। पर बे-होश हैं। दिल्ली के अस्पताल से उन्हें असाध्य कह कर हटा दिया गया है। अब यहाँ उनका इलाज महाराजाधिराज की आज्ञा से रियासत के डाक्टर लोग कर रहे थे। राजा साहब अलबत्ता वैद्यराज के फन्दे में थे। किसुन इन मामलों में चौकन्ना था। और मैं भी अब उत्सुकता से, आगे क्या होने वाला है, जानने को अधीर हो रही थी। मुझ को किसुन ने बताया कि ठिकाने की कोठी को हथियारबन्द सिपाहियों ने घेर रखा है। सिवा डाक्टरों के बाहर का दूसरा कोई आदमी भीतर नहीं जा सकता। महाराजाधिराज को भी अपनी इन मा साहब की बड़ी चिन्ता है। इलाज धूमधाम से हो रहा है। मैंने एकाध बार अन्नदाता से इस मामले में कुछ पूछना चाहा भी, पर मुझ से कुछ पूछते न बना। वे भी इस सम्बन्ध में चुप ही रहे। एक बात यह भी थी कि इस बीच मुझे उनसे मिलने का अवसर भी कम ही मिला।

एक दिन भोर ही में सुना कि रानी साहिबा चल बसीं। और राजा

साहब सिपाही और बन्दूक लेकर ठिकाने की कोठी पर दखल करने गए हैं। बाद में सुना उनकी बेटी और दामाद भी वहाँ पहुँच चुके थे। उन्हें सिपाहियों से पिटवा कर खदेड़ दिया। लाश निकाल कर सहन में डलवा दी। और कोठी के सब कमरों में ताले जड़ दिए। खजाना, सामान, मोटर सब पर कब्जा कर, दो लारी हथियारबन्द सिपाही ले राजा साहब ताबड़-तोड़ ठिकाने पर कब्जा करने दौड़ चले।

रानी साहिब का क्रिया कर्म ब्राह्मणों ने सम्पन्न किया।

बेटी और दामाद ने ए. जी. जी. के यहाँ अर्जी दी। अपना हक जाहिर किया। दोनों तरफ के वकीलों ने अपने-अपने पक्ष का समर्थन किया। एक दो महीने इस मुकदमे में लगे और अन्त में ए. जी. जी. का निर्णय राजा ही के पक्ष में हुआ। वहाँ से हुक्म आया कि राजा ही ठिकाने का सच्चा उत्तराधिकारी है। यह ठीक है कि स्वर्गीय राजा ने उसे रियासत से बर-तरफ कर दिया था। पर अब उसके जीवित रहते दूसरा कोई व्यक्ति वरासत को नहीं पहुँचता है। इसलिए राजा ही ठिकाने का अधिकारी घोषित किया जाता है। अवश्य ही ए. जी. जी. ने इस सम्बन्ध में अन्नदाता से भी अनुमति माँगी थी। वे राज्य के अधीश्वर थे। इसके नाते भी और ठिकाने के बेटे थे इस नाते भी। पर अन्नदाता ने स्वीकृति इस नाते दी कि वे निर्मम, निर्दय राजवर्गी थे। जहाँ न भाई की ममता, न खून का लिहाज।

परन्तु इधर ए. जी. जी. का हुक्म पहुँचा ही था कि राजा साहब भी खट् से मर गए। बेचारे वह हुक्म सुन भर पाए। सुना तीन चार दिन से वे केवल शराब ही पीते रहे थे। यह हुक्म सुन—ठिकाने पर राजा का अधिकार प्राप्त कर उन्होंने परमधाम की यात्रा की। हिजहाइनेस ने बड़ी ही धूमधाम से उनकी शव यात्रा की, भारी मातम मनाया। दान-पुण्य किए। इस सब पाखण्ड को देख घृणा से मेरा मन भर गया।

अब असल नाटक आरम्भ हुआ। ठिकाने पर अब कौन अधिकार करे; राजा के लड़की-दामाद ने फिर ए. जी. जी. का द्वार खटखटाया। फिर

मुकदमा हुआ। वकीलों की दौड़ धूप हुई। और निर्णय हुआ मृतराजा का गोद लिया पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी तथा ठिकाने का स्वामी हो।

इस प्रकार मेरा बेटा राजा बन गया। पर मेरे मन ने इसे स्वीकार ही न किया। ठिकाने की आय अब मेरे पास आने लगी थी। किसुन उसकी भी देख भाल करने कभी-कभी जाता था। वहाँ का कारिन्दा भी आता-जाता रहता था। पर मैंने अपने लड़के को वहाँ कभी जाने ही नहीं दिया।

महाराजाधिराज अपनी इस सफलता, कूटनीति और योजना पर बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने मुझे बहुत-बहुत बधाइयाँ दी थीं। बधाइयाँ और भी बहुत मिली थीं। पर मेरे हृदय पर तो वह बोझ ही थीं। बहुत दिनों तक मैं भाग्यहीन इस बन्दर-राजा के प्रति मन ही मन तरस खाती रही।

: ३९ :

# डेढ़ करोड़ की पतलून

और भी कुछ दिन बीत गए। अब मैं फिर एक बच्चे की मा होने वाली थी। पर मेरी तबियत ठीक नहीं रहती थी। महीनों से मन्द ज्वर रहता था। अपच था और मैं बहुत कमजोर हो गई थी। कोई चीज हजम नहीं होती थी। चिकित्सकों का कहना था कि रक्त की बहुत कमी हो गई है। जलवायु बदलना आवश्यक है।

उधर महाराजाधिराज विलायत जाने की तैयारी कर रहे थे। इस बार की तैयारी साधारण न थी। खास जार्ज पंचम का निमन्त्रण था। लन्दन में राउंड टेबल कानफरेंस हो रही थी। उस में गांधी जी जा रहे थे, मालवीय जी जा रहे थे, सरोजिनी नायडू जा रही थीं। सम्राट् जार्ज पंचम ने हमारे महाराजाधिराज को भी सादर निमन्त्रण दिया था। सो इस बार ऐसी तैयारी हो रही थी कि जिस की राजधानी में धूम मची हुई थी। जब से महाराजाधिराज को जार्ज पंचम से लन्दन आने का निमन्त्रण मिला था, वह इसी उधेड़-बुन में थे कि इस खास अवसर पर वह कोई ऐसी अनोखी चीज साथ ले जाएँ, जो बेजोड़ हो और जिस की विलायत में धूम मच जाए। खूब सोच-समझ कर उन्हों ने यह तै किया कि कानफरेंस के ऐन इजलास में वह ऐसी बेजोड़ पतलून पहनें, जैसी

संसार में आज तक किसी ने न पहनी हो। महाराजाधिराज बुद्धिमान तो थे ही, सो उन्हों ने सोचा कि जब गांधी जी सिर्फ एक लंगोटी पहन कर उक्त कानफरेंस में जा रहे हैं, तब क्यों न इस लंगोटी का जवाब इस पतलून से दिया जाए। इस से भारतीय संस्कृति का भी सवाल हल होता था। भारत के शिरोमणि दो ही जाति के पुरुष हैं। एक संत, दूसरे राजा। गांधी जी संत हैं, वह लंगोटी पहन कर जाएंगे, तो हम राजा हैं, हम पतलून पहनेंगे। जैसे उस राज-सभा में गांधी जी की लंगोटी अद्वितीय होगी, वैसे ही हमारी पतलून। अब सवाल यह रह गया कि लंगोटी और पतलून इन दोनों में सब से अधिक चर्चा का विषय कौन हो। श्रेष्ठता किसे मिले। बस, हम जो पतलून पहनेंगे वह अद्वितीय होनी चाहिए, उसे गांधी जी की लंगोटी को मात करना चाहिए और उस 'अद्वितीय' कानफरेंस में हमारी पतलून को भी 'अद्वितीय' की उपाधि मिलनी चाहिए।

महाराजाधिराज खुश हो-हो कर ये सब बातें मुझे सुनाते थे और कहते थे—"अफसोस, इस बार तुम यह सब देखने के लिए साथ न रह सकोगी।" मैं सुनती थी और मन-ही-मन हँसती थी। पर प्रकट में अन्नदाता की बुद्धि की प्रशंसा करती थी। मेरी प्रशंसा का व्यंग्य वह समझते नहीं थे। उन के स्वभाव और सनक को मैं जानती थी। विलायत में उन्हों ने जा कर पहले भी अनेक हास्यास्पद चेष्टाएँ की थीं, पर यह सब से बढ़ कर थी। पर उन्हें समझाए कौन? मैं तो सोलह आना हाँ-जी की चाकर थी।

पीढ़ियों की लूट-खसोट के फलस्वरूप करोड़ों रुपयों के हीरे-मोती उन के खजाने में भरे पड़े थे। कीमती रत्नों के संग्रह का उन्हें शौक था। गत बार विलायत में उन का प्रदर्शन भी किया था। उस प्रदर्शन की अखबारों में प्रशंसा भी छपी थी। वह भी उन की इस सनक में जोर लगा रही थी।

सो पतलून बनी। बनारस के खास कारीगरों को आर्डर दे कर

उन्हों ने सोने के ठोस तारों और चीन के महीन रेशम का कपड़ा पतलून के लिए तैयार कराया। वह कपड़ा दिन के प्रकाश में सूर्य की तरह चमकता था। पतलून बम्बई की एक अंग्रेज़ी फर्म में सिलाई गई थी और फर्म ने वह पतलून सीने को खास तौर पर एक कारीगर फ्रांस से बुलाया था। जब पतलून सिल कर आ गई तब उस पर दिल्ली के बारह चतुर कारीगरों को रियासत में बुलवा कर उस पर हीरे-मोती, जवाहर टँकवाए गए। इन कारीगरों ने रात-दिन पचास संगीनधारी पहरेदारों के पहरे में दो-दो महीने तक परिश्रम कर के ये रत्न कारचोबी और सलमें के सहारे पतलून में टांकें। सुना कि कुल जमा डेढ़ करोड़ रुपयों की लागत पतलून पर बैठी है। पतलून को देख-देख कर महाराजाधिराज खुश थे। उन्हों ने मुझ से कहा—"देख चम्पा, गांधी जी की लंगोटी हर्गिज इस पतलून का मुकाबला नहीं कर सकती। क्या कहती है तू, बोल ?"

मैं ने हँस कर कहा—"अन्नदाता, पतलूनों के इतिहास में यह पतलून अद्वितीय है।"

महाराज खुश हो कर मूँछों पर ताव देने लगे। फिर अफसोस के स्वर में बोले—"अफसोस है, तू नहीं चल सकेगी। चल कर एक बार देखती तो !"

अफसोस मुझे भी हो रहा था। आखिर इस अनोखी हिमाकत की विलायत में कैसी फजीहत होती है, यह देखना मैं अवश्य चाहती थी, पर लाचार थी। इस समय मैं यह यात्रा कर ही नहीं सकती थी।

यात्रा के लिए इस बार एक खास जहाज समूचा ही किराए पर लिया गया था। पतलून की चोरी न हो जाए, इस अंदेशे से बहुत-से पुलिस-अफसर और सिपाही तो तैनात किए ही गए थे, लन्दन के स्काट-लैंड यार्ड से भी आठ मुस्तैद अफसर मांगे गए थे। परन्तु अफसोस कि राजा साहब वह पतलून वहाँ पहनने का शौक पूरा न कर सके। इस बार उन्हों ने शाही अदब और एटिकेट सिखाने के लिए लन्दन से एक एटिकेट मिनिस्टर भी मँगाया था। अब जब उस से पतलून की चर्चा

चली तब उस ने पतलून को देख कर साफ कह दिया कि आप यह पतलून नहीं पहन सकते। इस बात पर बहुत हुज्जत भी हुई। महाराज ने कहा–

"क्यों नहीं पहन सकते ?"

"एटिकेट के खिलाफ है।"

"लेकिन गांधी जी कैसे लंगोटी पहन सकते हैं ?"

"वह पहन सकते हैं।"

"वह एटिकेट के खिलाफ क्यों नहीं है ?"

"उन के साथ ब्रिटिश सरकार की कोई ट्रीटी ( सुलह ) नहीं है। वह ब्रिटिश रूकोक नहीं हैं। वह महात्मा हैं। वह बादशाह के प्रतिष्ठित मेहमान हैं।"

"मैं भी प्रतिष्ठित मेहमान हूँ।"

"पर आप बादशाह के अधीन करद राजा हैं।"

"तो इस से क्या ? इंगलैंड से हमारे बाप-दादों ने कोई ऐसी ट्रीटी नहीं की है कि हम अपनी मनचाही पतलून न पहन सकेंगे।"

"न सही, पर यह एटिकेट के खिलाफ है। वहाँ आप को किस अवसर पर कैसी पोशाक पहननी होगी, इस का विचार मैं ने कर लिया है और उस की तैयारी का आर्डर मैं ने लन्दन की एक प्रसिद्ध फर्म को दे दिया है। वहाँ पहुँचते ही पोशाकें मिल जाएंगी।"

"लेकिन मैं यह पतलून पहन कर खास इजलास में जाना चाहता हूँ।"

"ऐसा नहीं हो सकता।"

"क्यों नहीं हो सकता ?"

"कहा तो, एटिकेट के खिलाफ है।"

"फिर भी यदि मैं पहनूं ?"

"तो लन्दन के लोग आप को पागल समझेंगे। आप का मजाक उड़ाएंगे।"

"यह तो सरासर बदतमीजी है।"

"बदतमीजी नहीं, एटिकेट है।"

और भी बहुत बहस हुई, पर एटिकेट मिनिस्टर ने किसी तरह हामी नहीं भरी। महाराज सख्त नाराज हो गए। उन का लन्दन जाने का सारा उत्साह ठण्डा हो गया। उन्हों ने ठण्डी साँस ले कर कहा—"फिर तो मेरा लन्दन जाना ही बेकार है।"

"बेकार क्यों है ?"

"मैं यह पतलून तो वहाँ पहन ही नहीं सकूंगा।"

"लेकिन आप एक काम कर सकते हैं", चतुर एटिकेट मिनिस्टर ने हंस कर कहा।

"वह क्या ?"

"लंदन से वापसी में आप अपनी रियासत में एक जल्सा कर के यह पतलून पहन सकते हैं।" महाराज ने पूछा—"यह एटिकेट के खिलाफ नहीं होगा ?"

"जी नहीं, हिन्दुस्तान में एटिकेट का कोई सवाल ही नहीं है।"

राजा साहब को तसल्ली हुई। उन्हों ने मुझे बम्बई से खत में यह सारा किस्सा लिखा था। खत के अन्त में लिखा था—"अफसोस चम्पा, मेरा दिल बुझ गया और लंदन जाने का मेरा सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया। भला सोच तो, जब मैं वहाँ यह पतलून ही न पहन सकूंगा, तब मेरा वहाँ जाना ही बेकार है। मगर कोई बात नहीं। लंदन में न सही, वहाँ से वापसी में जबर्दस्त दरबार करूँगा और यही पतलून पहनूंगा।"

: ४० :

# मौत के चंगुल में

महाराजाधिराज विलायत चले गए। अफसोस, कि मैं इस बार न जा सकी और मन मसोस कर रह गई। किसुन को वह साथ ले गए। किसुन जैसे विश्वस्त, चतुर और अन्तरंग सेवक के बिना उन का काम ही नहीं चल सकता था। अपनी सुख-सुविधा का विचार किए बिना ही मैं ने किसुन को चले जाने दिया। मैं जानती हूँ कि किसुन गया तो अवश्य, पर बहुत भारी मन से। जाती बार उस की आँखें बरस उठीं। आँखें मेरी भी बरसीं। पर हम दोनों ने ही एक-दूसरे को, आँखों की उस बरसात से अज्ञात रखने की असफल चेष्टा की। मैं बीमार थी, दुर्बल थी। आसन्न-प्रसवा थी। मेरे प्राणों पर संकट भी आ सकता था, इस लिए मुझ से अधिक भयभीत किसुन था। पर उसे जाना ही पड़ा। सेवा-धर्म ऐसा ही दुरूह होता है। कोटि-कोटि जन्म के पाप से मनुष्य को सेवक हो कर जन्मना पड़ता है। फिर हमारा गोले-गोली का जीवन ? छीः, छः।

किसुन का बिछोह तो दुस्सह था ही, उस का चला जाना मेरे लिए एक मुसीबत भी थी। पर मुसीबत इस बार अकेली यही नहीं थी। इस बार मुझे केसर से भी बिछुड़ना पड़ा। जो अब तक मेरी परछाईं की भाँति मेरे साथ रहती रही थी, मेरी हर कठिनाई में जिस ने मुझे उबारा

था, मेरी हर मुसीबत में जिस ने हिस्सा लिया था, वह केसर—जो मुझ अन्धी की लकड़ी थी, मेरी जीवन-नैया की खिवैया थी, इस बार वह भी मुझ से बिछुड़ी। किसुन के जाने के बाद बच्चों की सारी सार-सम्हाल उसी पर आ पड़ी। वह स्वयं भी बहुत कमजोर हो गई थी और बीमार थी। मुझ अभागिन को यद्यपि अपने बच्चे के साथ मा के समान व्यवहार करने का अधिकार तो प्राप्त न था, पर मेरा हृदय तो मा का हृदय था।

अतः मैं ने केसर के मामले में भी वही किया जो किसुन के मामले में किया था। अपनी सुख-सुविधा का तनिक-सा विचार किए बिना ही मैं ने केसर को बच्चों पर ही लग जाने दिया और मैं उस की सेवा, सहायता और सान्निध्य से वंचित रह गई। यह मेरी दूसरी मुसीबत थी।

परन्तु अभी तो मैं तीसरी और सब से बड़ी मुसीबत की चर्चा करूँगी। महाराजाधिराज चलती बार मेरी जचकी और स्वास्थ्य-सुधार के लिए आबू में जा कर रहने की व्यवस्था कर गए थे। और उस व्यवस्था का भार दे गए थे मेरे पिछले जन्म के बैरी उस पाजी लालजी खवास को, जिस से मैं घृणा करती थी। जिसे मै पशु समझती थी और जिसे कभी मुँह न लगाती थी। वह भी मुझे एक शत्रु की भाँति देखता था। स्त्री समझ कर दया भाव रखना या स्त्रियों के प्रति कोमल रहने की सद्भावना उस जानवर में नहीं थी। वह तो स्वभाव से ही स्त्रियों के प्रति निर्दय और निर्मम था। उस का कुत्सित जीवन ही कुछ ऐसा था, उस का स्वभाव भी ऐसा था कि स्त्रियों को सताने में उसे मजा आता था। रंगमहल में मैं सदा उस की जड़ काटती थी और वह भी मेरी जड़ काटने में कसर न रखता था। पर अफसोस कि हम दोनों ही की जड़ें पाताल तक धंसी हुई थीं। हम एक-दूसरे पर चोटें कर के रह जाते थे। पर इस बार तो म उस पाजी के पंजे में फंसी हरिणी थी। महाराजाधिराज ने जब यह व्यवस्था की थी, तब मैं इस का विरोध कर सकती थी। पर अपने स्वाभाविक आत्म-सम्मान की भावना से मैं ने विरोध नहीं किया। फिर तब तक मुझे यह भी मालूम नहीं हुआ था कि म किसुन और केसर के सान्निध्य से भी वंचित रह जाऊँगी। परन्तु अब मैं भयभीत भी थी और चिन्तित भी। मैं रोगिणी थी, कमजोर थी, आसन्न-प्रसवा थी, असहाय थी और इस दशा में दूर एक अपरिचित स्थान पर अपने जन्म के बैरी के साथ जा रही थी। मैं औरत हूँ और मेरी जात गोली है, ये दोनों बातें मैं ने उस दिन सब से अधिक जानीं जिस दिन उस पशु ने अपनी कर्कश आवाज में कहा—"कल हमें चलना है; बस, जरूरी

सामान हो साथ रखना। अपना राजपाट यहीं छोड़ देना।"

वह एक कुटिल भ्रूभंग कर के चला गया। किसी अज्ञात भय की भावना से मैं काँप गई। पर मैं ने उस की किसी बात का जवाब नही दिया, बस क्रोध में उबलती रही। यद्यपि आज मुझे कोई सहारा न था, मैं अकेली, असहाय इस पाजी के साथ जा रही थी, पर मैं कोई बच्ची न थी। अपना बोझ उठाने में स्वयं समर्थ थी। तीन बार यूरोप घूम आई थी। अतः इस दुरात्मा से डरने की मुझे ऐसी कुछ आवश्यकता नहीं थी। मैं ने मुस्तैदी से कमर कस ली। अब मुझे न केवल अपने रोग और प्रसव से निबटना था, बल्कि इस जन्म के बैरी से भी लोहा लेना था, और मैं ने ठान ली थी कि मैं अकेले ही डट कर उस का मुकाबला करूँगी। पर उस समय यह मैं कहाँ जानती थी कि वहाँ कोई दूसरा ही गुल खिलने वाला है, जिस का सब पक्का प्रबन्ध भीतर-ही-भीतर हो चुका है। इक्कीस वर्ष रंगमहल में रह कर और सारी दुनिया की खाक छान कर भी मै इस बात का तनिक-सा भी संकेत न पा सकी कि मेरे विरुद्ध कोई भयानक षड्यन्त्र हो रहा है, और किसी खास ही मतलब से मेरे इस बैरी के साथ मुझे भेजा जा रहा है।

राजा में अवश्य ही बहुत-से गुण-दोष थे, जैसा कि मैं पहले ही कह चुकी हूँ, फिर भी बीस वर्ष तक मै ने उन की तन-मन से सेवा की थी। यद्यपि अब वह साठ को पार कर चुके थे और मै चालीस की देहरी पर पहुँच रही थी, पर बीस बरस उन से मेरी अत्यन्त घनिष्टता रही थी। मैं ने उन का गुस्सा भी देखा था, उन का प्रसाद भी देखा था। सब के ऊपर म उन्हें एक उदार हृदय व्यक्ति ही समझती थी। वह कोई नीच कर्म भी कर सकते हैं और वह भी मेरे ही साथ; इस की मैं ने कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी, क्यों कि चलते-चलते भी उन की किसी चेष्टा से मुझे कुछ भी सन्देह नहीं हुआ था।

केसर ने मुझ से एक बार साथ चलने को कहा भी, पर मै ने कहा—"तेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है और लड़कियों की व्यवस्था होनी अधिक

आवश्यक है।" यह कह कर मैं ने उसे साथ नहीं लिया और म अकेली ही लालजी के साथ चल दी। मुझे यह पता नहीं लगा कि मेरे महल से बाहर पैर रखते ही विधाता मुसकराने लगा था।

हमारे साथ दो और व्यक्ति भी आबू आए। एक कर्नल राबर्ट, जो स्टेट के सर्जन थे। दूसरी, रियासत के जनाना अस्पताल की हैड डाक्टर नायडू। कर्नल राबर्ट एक बूढ़े और मिलनसार आदमी थे। पहले वह सेना में थे। रियासत में उन का बहुत नाम था। दीन-दुखियों पर वह दया रखते थे। वह एक प्रसिद्ध सर्जन थे। दूर-दूर के रोगी उन के पास चिकित्सा के लिए आते थे। सभी के साथ उन का समान व्यवहार था। रियासत की नौकरी में वह काफी अर्से से थे। अपनी खुशमिजाजी और मिलनसारी से वह बहुत लोकप्रिय हो गए थे। रंगमहल में बहुधा वही मेरी चिकित्सा करते थे। हिन्दी अच्छी बोल लेते थे। मुझ से वह बहुत खुश थे। वह जानते थे कि मैं तीन बार यूरोप घूम आई हूँ। वह बहुधा मुझ से गपशप किया करते। यूरोप की मजेदार बातें सुनाते। हिन्दुस्तान के अनुभव सुनाते। मैं कभी-कभी उन्हें दावत देती। हिन्दुस्तानी भोजन उन्हें बहुत पसन्द आता। राजस्थान का खास भोजन दाल-बाटी और चूरमा वह खूब चाव से खाते थे। मेरे साथ वह सदा हिन्दुस्तानी भाषा में ही बात करते थे और सदा 'बाई साहब' कह कर पुकारते थे। पर कभी-कभी अधिक विभोर होने पर 'माई चाइल्ड' (मेरी बच्ची) कह देते थे। महाराजाधिराज के साथ मेरी घनिष्टता उन पर प्रकट थी। किसुन से भी वह बहुत खुश थे। उसे वह 'ओल्ड गुड ब्वाय' कहा करते थे। मेरे मन में भी उन के प्रति पिता के जैसी आत्मीयता थी। उन्हों ने मुझ से नजर-भेंट, फीस भी लेनी छोड़ दी थी। मैं जब कुछ देना चाहती, तब वह खूब हंसते और कहते—"नो, नो, माई चाइल्ड नो' (नहीं, मेरी बच्ची नहीं) हम नईं ले सकता। रियासत से हम को तनख्वाह मिलती है।" कभी-कभी वह अपनी लड़की की भी चर्चा करते, जो मर चुकी थी। वह मुझ से उस की तुलना करते और कहते—"तुम भी हमारा बच्चा

हाय !" और उन की आँखें गीली हो जातीं। महाराज ने उन्हें खास तौर से मेरे साथ भेजा था। उन का आना मेरे लिए बड़ा सहारा था। इस से मुझे बड़ी तसल्ली थी।

डाक्टर नायडू एक मोटी-ठिगनी, मद्रासी ईसाइन थी, बदमिजाज और सख्त। न वह मुझे पसन्द करती थी, न मैं उसे। पर चिकित्सा में उस का बड़ा नाम था। उस ने विलायत की बड़ी डिग्री प्राप्त की थी। आयु में अभी वह जवान ही थी। मुश्किल से चालीस बरस की होगी। उस ने तीन पतियों को तलाक दिया था। मिजाज उस का बड़ा तीखा था, पर वह बार-बार ईसामसीह के गीत गाती थी। हिन्दुस्तानियों को वह काला आदमी कहती थी, यद्यपि वह स्वयं भी काफी काली थी। वह सदा अंग्रेजी वेश-भूषा में रहती थी। जब कि डाक्टर राबर्ट जैसा अंग्रेज डाक्टर मेरे साथ हिन्दुस्तानी में बात करता था, वह ईसाइन मेरे साथ अंग्रेजी बघारती थी। अंग्रेजी मैं अब अच्छी बोल लेती थी, इस लिए मैं उस के साथ ठाठ से अंग्रेजी ही में बात करती थी। मैं उसे रियासत का नौकर समझती थी और उस के साथ मालिक की भाँति बात करती थी। पर वह मेरी असलियत जानती थी, इस लिए मुझे तुच्छ दृष्टि से देखती थी। फिर भी वह मेरे रुतबे से इन्कार नहीं कर सकतीथी, क्यों कि यह तो वह देखती ही थी कि महाराजाधिराज मेरे साथ महारानी से किसी तरह कम पेश नहीं आते हैं। मैं हमेशा ही उसे नीचा दिखाने की चेष्टा करती रहती। जब कभी वह कोई दवा या पथ्य मेरे लिए तजवीज करती, तभी मैं उसे नपा-तुला जवाब देती—"कर्नल राबर्ट से पूछूँगी।" इस पर वह जल-भुन कर कहती—"हम भी डाक्टर हैं। कर्नल से सलाह करना हमारा काम है, आप का नहीं।" तब मैं शान्त, संयत स्वर में कहती—"मैं कर्नल राबर्ट से बिना पूछे कुछ कह नहीं सकती।"

पर उस का कथन सत्य था और मेरा उस के साथ यह व्यवहार ठीक नहीं था। वास्तव में वह बहुत बड़ी डाक्टर थी। कर्नल राबर्ट

स्वयं यह बात कई बार कह चुके थे। परन्तु मैं तो उस से चिढ़ी हुई थी। अतः वह शुरू से ही मुझ से खुश न थी। परन्तु अब तो वह मुझ से सख्त नाराज रहती थी। अभी मैं रोगिणी थी तथा प्रसव का समय निकट आ रहा था। मेरी जान उसके हाथ में थी। ऐसे समय में इतनी बड़ी डाक्टर को नाराज करना मेरी मूर्खता थी। पर मैं करूँ भी क्या? उस की सूरत देखते ही मेरा मन खराब हो उठता था। मैं ने उसे वास्तव में अपने ऊपर सख्त नाराज कर लिया था। उसे चिढ़ाने में मुझे बड़ा मजा आता था। पर मैं स्वीकार करती हूँ कि यह मेरी नादानी थी। इतनी बड़ी डाक्टर से मुझ ऐसा बेहूदा व्यवहार नहीं करना चाहिए था। कभी-कभी मुझे अपने व्यवहार पर ग्लानि भी होती थी। पर यह मैं कतई नहीं जानती थी कि कुछ और भी गम्भीर तथा भयानक बातें हो सकती हैं, और आगे चल कर मेरी यह मूढ़ता मेरे लिए कितनी भयानक सिद्ध होगी।

: ४१ :

# खवास का षड्यंत्र

आबू राजस्थान और गुजरात की सीमा-संधि पर एक मनोरम पार्वत्य स्थली है। राजस्थान के प्रायः सभी बड़े-बड़े अंग्रेज अफसर और राजे-महाराजे यहीं ग्रीष्मवास करते हैं। हरी-भरी उपत्यकाओं, मनोरम पर्वत शृङ्खलाओं और छोटी-छोटी घाटियों ने इस स्थान को अत्यन्त दर्शनीय बना दिया है। यहाँ गुजरात के महामंत्री विमलदेव का एक भव्य मन्दिर भी है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का ऐसा अद्भुत स्थापत्य भारत में विरले ही कहीं देखने को मिलता है। रियासत की यहाँ एक विशाल कोठी थी। उसे कोठी न कह कर महल ही कहना चाहिए। सामने से वह दुमंजिली दीखती है, पर पीछे से पाँच-मंजिली है। पर्वतीय उतार-चढ़ाव पर अत्यन्त कारीगरी से यह कोठी बनाई गई है। इमारत बनाने का महाराजाधिराज को व्यसन है, परन्तु यह कोठी तो महाराज के पिता-श्री ने बनवाई थी। महाराज प्रायः यहीं ग्रीष्मवास करते थे। तब बड़ी-बड़ी रंगरेलियाँ होती थीं। अंग्रेजों की शानदार दावतें होतीं, जलसे होते, नृत्य होते और शराब की नदियाँ बहतीं। परन्तु मैं अभी तक एक बार भी यहाँ नहीं आई थी। इधर महाराज भी कई वर्षों से नहीं आए थे। एक प्रकार से कोठी बन्द ही पड़ी थी। इस लिए सफाई होने पर

भी सभी कमरों और फर्नीचर में एक प्रकार की सील की गंध आ रही थी। मेरे लिए ऊपर के दो कमरे ठीक किए गये थे। मेरी बगल में ही डाक्टर नायडू का कमरा था। कर्नल राबर्ट नीचे के कमरे में ठहरे थे। खवास ने भी डाक्टर नायडू के कमरे के बराबर ही कमरे में डेरा जमाया था। मेरी सेवा-सुश्रूषा के लिए दो नर्सें बम्बई से बुलाई गई थीं। दोनों हिन्दुस्तानी थीं। उन में से एक-न-एक हर समय मेरे पास बनी रहती थी। दोनों कम उम्र की थीं। उन में से एक मुझे पसंद थी। उस का भोला-भाला चेहरा और हंसमुख स्वभाव मुझे बड़ा अच्छा लगता था। वह सीधी और मितभाषिणी थी। मेरे मन में उस के प्रति प्यार भी हो गया था। बहुधा मैं उसे चाय पर बैठाती और उस के हाल-चाल पूछती। इस से वह भी मुझ से प्रेम करने लगी थी। इस निर्वासन में मैं उसे ही अपना मित्र समझती थी। परन्तु वह एक धोखे की टट्टी थी और मैं ने आदमी की परख में कितनी भारी भूल की थी, यह आप को आगे चल कर मालूम हो जाएगा।

एक दिन अकस्मात ही मुझे खवास के भयानक इरादे का पता चल गया। वह नहीं जानता था कि मैं बराबर के गुसलखाने में हूँ। वे दोनों—डाक्टर नायडू और वह—साथ-साथ बातें करते हुए हाल में से निकले। मैं ने डाक्टर नायडू को फुसफुसाते हुए सुना—"बहुत खतरनाक काम है। पच्चीस में नहीं होगा। पचास हजार देना होगा और कर्नल राबर्ट को यहाँ से टरकाना होगा।"

खवास का स्वर भी मैं ने सुना। वह कह रहा था—" उस अदना गोली की जान की इतनी कीमत ? आप यह न भूलिए कि रियासत में आप मेरे कारण ही जमी हुई हैं और मेरे द्वारा आप ने इतना कमाया है कि जिन्दगी-भर ऐश कर सकती हैं।'

नायडू कह रही थी—"तो मैं ने भी हमेशा तुम्हारी मदद की है, तुम्हारे लिए खतरे उठाए हैं। फिर हमेशा मैं ने तुम्हारा हिस्सा तुम्हें दिया है।"

खवास कह रहा था—"लेकिन यह तो अन्नदाता का काम है। आप को इतना दे दूं तो मेरे पल्ले क्या पड़ेगा ?"

"दस तुम लो और चालीस मुझे दो, बस।"

मैं इतना ही सुन सकी। वे बातें करते हुए चले गए और मैं सन्नाटे के आलम में जड़ बनी खड़ी-की-खड़ी रह गई। उनका एक-एक शब्द बन्दूक की गोली की तरह मेरे मस्तिष्क में घूम कर मेरे स्नायुओं को तोड़-फोड़ रहा था। मुझे धरती-आसमान घूमते नजर आ रहे थे और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मै बेहोश हो जाऊँगी। मैं दोनों हाथों से सिर पकड़ कर वहीं धरती पर बैठ गई। हे भगवान, ये हत्यारे मुझे मार डालने के लिए यहाँ लाए हैं और मै हत्यारों के चंगुल में फंस गई हूँ ? सब से ताज्जुब की बात तो यह है कि अन्नदाता भी इस घृणित हत्या-काण्ड में शरीक हैं। वह मुझे अपनी राह से दूर करना चाहते हैं। किन्तु क्यों ? मैं ने तो कभी उन का कुछ बिगाड़ा नहीं। धर्मपूर्वक अपना तन-मन सब कुछ उन्हें सौंप दिया। एकनिष्ठ हो कर उन की सेवा की, चाकरी बजाई। अपने पति तक का स्पर्श नहीं किया। अपनी जान तो मैं उन के लिए तलवार की धार पर चली। उस का यह बदला ? यह भी क्या हमारे गोली-गुलामों के भाग्य में लिखा है ? इन राजा रईसों के लिए हम केवल फूलों के गजरे हैं ? बासी होने पर फेंक दिए जाते हैं, हमारी जगह और ताजे आते हैं ? हम में जैसे जान नहीं है, अहसास नहीं है, इज्जत नाम की कोई चीज नहीं है। हम गोली हैं, गुलाम हैं—मनुष्यों में अधम, स्त्री-जाति में कलंक-रूप। अधर्म ही हमारा धर्म है, दुष्कर्म और दुराचार ही हमारा सदाचार है। सो क्या इसी पाप का यह दण्ड मुझे भोगना पड़ेगा ? परन्तु बात क्या है ? क्या कोई ताजा फूल अन्नदाता की सेवा में आ रहा है ? फिर मैं तो अभी जवान हूँ, सुन्दर हूँ। बचपन की सारी ही आदतें तो अभी मुझ में हैं। मेरा रूप और यौवन भी अभी ढल नहीं गया है। फिर मैं अभी से कैसे बासी हो गई ? चलती बार भी तो उन्हों ने मेरे प्रति बड़ी ममता दिखाई थी। तो क्या

वह नाटक था ? बनाव था ? वह किसुन को मुझ से दूर क्यों ले गए ? केसर को तो खैर मैं ने ही दूर कर दिया, पर उस के लिए मैं पछताती नहीं। आखिर मेरे ही बच्चों को तो वह छाती से लगाए बैठी है। यह काम तो मुझे ही करना था। सभी माताएँ यही तो करती हैं। पर गोली तो डायन होती है, माता कहां होती है। उस का धर्म तो संसार की सभी स्त्रियों से निराला होता है। पाप ही उस का पुण्य है। मृत्यु ही उस का जीवन है। सो अब ये मुझे मार कर क्या सचमुच जीवन देना चाहते हैं ? पर प्राणों से मेरी इतनी ममता क्यों है ? भला इस अधम, कलुषित शरीर पर इतना मोह क्यों है ? यह तो अच्छा ही है कि अब इस का अंत हो जाए। परन्तु क्या मैं सचमुच ऐसा चाहती हूँ ? यह तो म ने आज पहली बार यह अनुभव किया कि मैं अपने जीवन से कितनी लिपटी हुई हूँ।

खवास के दुष्ट स्वभाव और चरित्र को तो मैं जानती थी। परन्तु यह नहीं जानती थी मनुष्य की जान लेना भी उस के बाएं हाथ का खेल है। और डाक्टर नायडू को मैं क्या कहूँ ? इतनी बड़ी डाक्टर विदुषी ! मानती हूँ कि उस के साथ मैं ने सद्व्यवहार नहीं किया। पर क्या इसी से यह डाक्टर मेरी हत्या का जघन्य पाप करने को तैयार हो जाएगी। क्या रुपए का मूल्य इतना अधिक है कि मनुष्य उसके लिए सब कुछ कर सकता है ? परन्तु अब तो सब कुछ मेरी समझ में आ रहा था। मुझे अब यह भी भान होने लगा था कि हो न हो डाक्टर नायडू मुझे ऐसी दवाइयाँ दे रही है, जो मुझे अच्छा होने के स्थान पर रोगी बना रही हैं और सम्भवतः मैं धीरे-धीरे मौत के मुँह में धकेली जा रही हूँ। इन सब बातों को सोचते-सोचते मेरा कलेजा काँप गया और मैं पसीने से नहा गई। पर म तुरन्त ही सावधान हो गई। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मेरी सम्पूर्ण चेतना मेरी रक्षा के लिए उद्विग्न हो उठी है। अब मैं अपनी आत्म-रक्षा के लिए चौकन्नी हो गई। मैं सोचने लगी कि अब मुझे क्या करना चाहिए और किस की सहायता लेनी चाहिए। सब बातों पर

ध्यान पूर्वक सोचने के बाद मैं ने दृढ़ निश्चय किया कि जो काम किया जाए शान्त चित्त से, सब बातों का आगा-पीछा सोच कर किया जाए। उत्तेजना के वशीभूत नहीं होना चाहिए और अपना सन्देह भी किसी पर प्रकट न करना चाहिए।

इस विजन विदेश में मैं निपट अकेली थी। मुझे इस समय एक विश्वासी मित्र की अत्यन्त आवश्यकता थी। पर गलत आदमी से और भी खतरा था। मुझे अपने पति और अकपट सहायक किसुन की याद आ रही थी। आज केसर का अभाव भी मुझे खटक रहा था। पर ये दोनों मेरे सहायक मुझ से दूर थे। बहुत बार मैं उनकी याद में रोई, पर इससे क्या लाभ था। अब तो केवल मुझे अपनी ही बुद्धि का भरोसा था। मै खूब चौकन्नी रहने लगी। मैं बारीक नजरों से दोनों नर्सो को भी जाँचने लगी और इस बात की फिक्र में रहने लगी कि कुछ और बातों का भी पता लगाया जाए। डाक्टर नायडू और खवास से मैं ने बेरुखी का व्यवहार छोड़ दिया। अपेक्षाकृत नर्म और अनुकूल व्यवहार मै उन के साथ करने लगी। डाक्टर नायडू चतुर स्त्री थी। मेरे इस भाव-परिवर्तन को वह भाँप गई। अब वह जब मेरे पास आती, मुझे कड़ी दृष्टि से देखती। वास्तव में वह जानना चाहती थी कि कहीं मैं उस पर सन्देह तो नहीं करती हूँ। परन्तु मै अपने स्वभाव और व्यवहार को कोमल तथा मधुर बनाती गई।

औषध खानी मैं ने बिल्कुल बन्द करदी। नर्सों की नजर बचा कर मै दवा उगालदान में फेंक देती। परन्तु पेटेन्ट गोलियाँ म अवश्य खा लेती थी। खाने मे पहले उन की जाँच भी करती थी। उन की शीशी अपने ही पास रखती थी। सूई मै केवल कर्नल राबर्ट से लगवाने को राजी हुई। डाक्टर नायडू बहुत बिगड़ीं, पर मैंने उनकी एक न सुनी। फिर भी मने यह न प्रकट होने दिया कि मैं उस पर सन्देह करती हूँ। उसे खुश करने के लिए मैं कभी-कभी उसकी खुशामद भी करती, पर वह कभी सीधे मुँह मुझ से बात नहीं करती थी।

अब मैं यह जानने को व्यग्र हो उठी कि अब और आगे क्या हो रहा है। एक बार मन हुआ कि कर्नल राबर्ट से भेद खोल दूँ। पर फिर सोचा—कर्नल को भी अभी जाँचना चाहिए।

बरसात का आरम्भ था। प्रथम मेघ आकाश में घुमड़-घुमड़ कर आ रहे थे। उस मनोरम पर्वत की उपत्यका में वे मुझे बड़े प्रिय लग रहे थे। सुखद समीर बह रही थी। अभी अपराह्न ही था। मेरा मन फुर्ती से भर रहा था और मै आज कई दिन बाद अपने को कुछ अच्छा अनुभव कर रही थी। एकाएक मेरी इच्छा जरा घूम आने की हुई। एक शाल मै ने कन्धे पर डाला और मै चल दी—एक के बाद दूसरे कमरे पार करती हुई। दैव योग से किसी ने मुझे देखा नहीं। न खवास ही अपने कमरे में था, न डा० नायडू। नर्स को भी मैने आराम करने को कह दिया था। वह यह समझ कर निश्चित थी कि मै अपने कमरे में आराम कर रही हूँ। मैं नीचे उतर आई। कर्नल राबर्ट अपने बरांडे में बैठे कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। मुझे देखकर उन्होने मेरी तबियत का हाल पूछा। म ने कहा—"अच्छी हूँ कर्नल। कृपा के लिए धन्यवाद। मै जरा घूमना चाहती हूँ।"

"लेकिन ठण्डी हवा चल रही है, ज्यादा दूर न जाना।"

"जी, नहीं, मैं कोठी में ही इधर-उधर घूम रही हूँ।"

डाक्टर पुस्तक पढ़ने लगे और मैं आगे बढ़ी। सब कमरों को, उनके फर्नीचर को, साजो-सामान को देखते हुए मैं कोठी के पिछवाड़े के कमरों की ओर चली गई। सामने लान में माली काम कर रहा था। उस ने झुक कर मुझे सलाम किया। मैं उस से बिना कुछ बात किए ही केवल मुसकरा कर आगे बढ़ गई। यहाँ सन्नाटा था। कोठी का यह भाग रोज साफ भी शायद न होता था। कमरे बन्द थे। मुझे एक प्रकार का भय सा लगने लगा। एक सिहरन-सी मैं ने अनुभव की। मैं लौट जाने को ही थी कि मुझे किसी की बातचीत करने और हंसने की ध्वनि सुनाई दी। मैं ने ध्यान से देखा और मैं उसी ओर चल दी। मैं ने समझा कि

शायद यहाँ नौकर-चाकर और उनके परिवार के लोग रहते होंगे। उन से बातचीत करके मन बहलाने का मेरा मन हो गया। दालान पार करके मैं ने एक बड़ा हाल पार किया। उस के दाहिनी ओर के कमरे में दो आदमी धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। बीच-बीच में हंस भी रहे थे। मेरा मन हुआ कि मैं लौट चलूं। पर किसी अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत होकर मै आगे बढ़ी। अब मैं ने दोनों कण्ठ-स्वर पहचान लिए—डाक्टर नायडू और खवास के थे। मै अपनी उत्सुकता और जिज्ञासा को न रोक सकी। पहले मैं ने कान लगा कर सुना। फिर मैं ने दरार से झाँक कर देखा। जो कुछ देखा उस से मेरा मन कुत्सा से भर गया। इस की तो मै ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। वहाँ शराब के नशे में चूर वे दोनों गुनहगार न कहने योग्य स्थिति में पैग पर पैग चढ़ा रहे थे। मैं तो जड़ हो गई। ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरी चीख निकल जाएगी। पर किसी तरह मै ने अपने को व्यवस्थित किया। यद्यपि मै चाह रही थी कि ठहरूँ और देखूं कि कहीं कुछ मेरे विपरीत बात भी सुनाई देती है या नहीं, यद्यपि मैं ठहर न सकी। मैं उल्टे पैर भागी। माली एक सुन्दर गुलदस्ता लिए द्वार पर खड़ा था। वह एक बूढ़ा निरीह आदमी था। उसने मुझे झुक कर सलाम किया और गुलदस्ता मुझे भेंट किया। मैं उस समय किसी से बातचीत करने की स्थिति में नहीं थी। फिर भी गुलदस्ता ले कर मैं ने उससे कहा—"शाम को कोठी पर इनाम लेने आना।" वह झुक कर सलाम कर के एक ओर खड़ा हो गया और मै लम्बे पग रखती हुई अपने कमरे में आ पलंग पर पड़ रही। इस समय मेरा दिल जोरों से धड़क रहा था। मै बहुत परेशान थी, परन्तु न जाने कैसे मुझे जल्दी ही नींद आ गई और मैं सो गई।

: ४२ :

# विष-पान

प्रसव का समय निकट आ रहा था, परन्तु मेरी हालत तेजी से खराब होती जा रही थी। मेरा सारा शरीर काला हो गया था और मेरा सौन्दर्य गायब हो चुका था। मैं हैरान थी। वास्तव में मैं अकस्मात् ही बुढ़िया हो रही थी। ज्वर अब दिन में कई बार कमोबेश होता था। सारा अंग भीतर से जला जा रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि कलेजे में अंगीठियाँ दहक रही हैं। बाल मेरे झड़ने आरम्भ हो गए थे। आवाज खोखली और धीमी हो गई थी। यत्न करने पर भी मैं जोर से नहीं बोल सकती थी। इस एक हफ्ते में ही मैं इतनी कमजोर हो रही थी कि टट्टी-पेशाब के लिए जाने में मैं हाँफने लगती थी। स्पष्ट था कि इतना यत्न करने और सावधान रहने पर भी विष मेरे शरीर में पहुँचाया जा रहा था। परन्तु कैसे ? यह मैं नहीं जान पाती थी। इधर दो दिन से मेरे सिर में भी चक्कर आ रहे थे। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता था कि धरती उलट-पलट हो रही है, सिर पर जैसे पहाड़ लदे हुए हैं।

अब मैं क्या करूँ ? किस का सहारा लूँ ? क्या ये लोग मुझे मार ही डालेंगे ? क्या मैं अब अपने बच्चों को भी न देख सकूँगी ? रंगमहल के मेरे वे सपने क्या सब समाप्त हो चुके ? हे भगवान्, क्या मैं मर रही

रही हूँ ? हाय, एक बार भी मैं ने अपने पति को अपना प्यार नहीं दिया। वह राजा मेरी जान का गाहक बन गया, जिस पर मैं ने सब कुछ न्यौछावर कर दिया ? मुझे सारे ही संसार के मनुष्यों से घृणा हो गई। परन्तु यह कैसे ? क्या किसुन-जैसे श्रेष्ठ पुरुष दुनिया में नहीं हैं ?

फिर भी मैं ने हिम्मत नहीं हारी। मैं ने दृढ़ निश्चय कर लिया कि मैं अन्त तक लड़ूँगी। परन्तु क्या डाक्टर राबर्ट भी इस घृणित षड्यन्त्र में शामिल हैं ? दवा तो मैं अब उन्हीं से ले कर खाती हूँ और सूई भी उन्हीं से लगवाती हूँ।

परन्तु शीघ्र ही मेरा भ्रम दूर हो गया। एक दिन मेरी हालत देख कर डाक्टर राबर्ट एकदम अधीर हो उठे। स्पष्ट था कि मेरे लक्षणों को देख कर बहुत परेशान हो गए थे और वह ठीक-ठीक उस का कारण नहीं समझ पा रहे थे। उस दिन मेरे ही सामने उन्हों ने नायडू से बहुत-सी बहस की। दवाइयाँ बदलीं। नए नुसखे तजवीज किए। बम्बई से नई दवाइयाँ मंगाने को तार दिए। वह बहुत देर तक बेचैनी से मेरे कमरे में चक्कर लगाते रहे।

मेरा मन हुआ कि मैं उन्हें वे सब बातें बता दूं जो मुझे ज्ञात हो चुकी थीं। परन्तु अभी मेरा मन साफ न था। क्या जाने राबर्ट भी षड्यन्त्र में सम्मिलित हों। परन्तु मुझे विष कैसे और कब दिया जा रहा है, अब यही जानने को मैं बेचैन हो उठी। परन्तु उसी रात मुझे इस का भी पता चल गया। मैं दीवार की ओर मुँह फेर कर सो रही थी। कमरे में मद्धिम रोशनी हो रही थी। डाक्टर नायडू अपना अन्तिम राउंड करने आई। क्षण-भर उस ने मसहरी में मुझे सोते देखा। दीवार पर मेरे सामने ही आइना लगा था, उस में मैं ने उसे आते और तेज नजर से अपनी ओर ताकते देखा। पर मैं नींद का बहाना कर के चुपचाप पड़ी रही। दो ही मिनट में नायडू चली गई और उस के कुछ देर बाद वही नर्स कमरे में आई, जिसे मैं पसन्द करती थी और प्यार करने लगी थी। मेरी मसहरी के निकट आ कर उस ने भली भांति जाँचा कि मैं सो रही

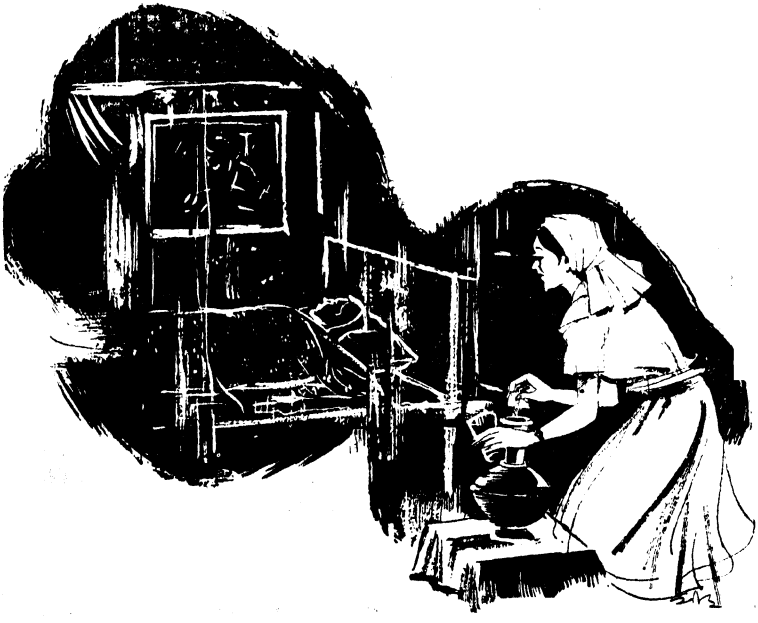

हूँ या जाग रही हूँ। जब उसे विश्वास हो गया कि मैं सो रही हूँ तब उस ने लैम्प की रोशनी और मद्धिम की। फिर वह उस टेबुल के पास आई, जो मेरे सिरहाने रखी थी। उस पर पानी की सुराही रखी थी। नर्स ने एक पुड़िया चोली से निकाली और सुराही में डाल दी। उस ने फिर मेरी ओर देखा और वह दबे पाँव चली गई। आइने में हो कर मैं ने सब कुछ देख लिया। ओफ, मुझे दवा में नहीं पानी में जहर दिया जा रहा है—कोई ऐसा मन्द विष कि मैं घुल-घुल कर मर जाऊँ और किसी को गुमान भी न हो कि मेरी हत्या की गई है। कितनी चतुराई और सावधानी से इस गोली का खून किया जा रहा था। वाह!

उस दिन मैं ने वह पानी नहीं पिया और सुबह मैं ने यह अनुभव किया कि आज अपेक्षाकृत मेरी तबियत ठीक है। कलेजे में जलन कम है। बदन में दर्द नहीं है। सिर उतना भारी नहीं है। मैं ने मुँह अँधेरे ही उठ कर दवा की एक शीशी खाली कर के उस में वह पानी भर कर

अपने तकिए के नीचे छिपा लिया। उस के बाद मैं सो गई। सब से पहले वही नर्स आई। सावधानी से मेरे सिरहाने आ कर जाँचा कि मैं सो रही हूँ या जाग रही हूँ, फिर वह सुराही उठा कर चली गई।

न नायडू को, न उस नर्स को यह पता लगा कि मैं उन का भेद जान गई हूँ। वास्तव में उस आइने की ओर उन का ध्यान ही न था।

दूसरे दिन रात की ड्यूटी दूसरी नर्स की थी। पर उस दिन वह जहर नहीं मिलाया गया। मालूम होता है कि उस नर्स को षड्यंत्र में सम्मिलित नहीं किया गया था। इस से दूसरी सुबह मैं और भी चंगी हो गई। ताकत भी मालूम हुई। खाना भी ठीक खाया। पर तीसरे दिन फिर वही नाटक हुआ और मैं ने उस पानी का नमूना भी शीशी में भर कर अपने पास रख लिया।

मैं ने यह प्रकट न होने दिया कि मेरी तबियत आज अकस्मात् अच्छी है। उसी भाँति मैं बीमारी का बहाना कर के पड़ी रही। दोनों डाक्टरों से और नर्स से भी मैं ने वही व्यवहार रखा। मैं यह सोचने लगी कि मैं यहाँ किसकी मदद लूँ। अब इस विपत्ति में कौन मेरा मित्र है, शुभ-चिन्तक है, जो मुझे मौत के मुँह से उबारे। एकाएक मुझे वासुदेव महाराज का ध्यान आया और मैं ने उन के नाम एक तार लिखा। तार में इतना ही लिखा कि तुरन्त आओ। हाँ, एक बात कहना तो भूल ही गई। वह बूढ़ा माली उसी दिन से नित्य शाम को मेरे लिए फूल ले कर आने लगा था। वह बहुत भला, सीधा आदमी था। इनाम दे कर मैं ने उसे अपना भक्त बना लिया। वह तार मैं ने चुपचाप उसी के द्वारा भिजवा दिया। तार की रसीद उस ने मुझे ला दी। यह बात किसी से वह न कहे, यह बात भी मैं ने उसे समझा दी थी।

: ४३ :

# ए. डी. डी. से भेंट

दूसरे दिन भोर में ही पड़ोस वाली कोठी में बड़ी हलचल दिखाई दी। बहुत से सिपाही, अहलकार, अफसर और बैरा-खानसामा वहाँ दौड़-धूप कर रहे थे। कोठी पर यूनियन जैक फहरा रहा था। माली ने मुझे बताया कि हुजूर एजेन्ट गवर्नर जनरल साहब बहादुर पधारे हैं। इस अंग्रेज हाकिम की सारे राजस्थान में तूती बोलती थी। कहना चाहिए कि सारे राजा-महाराजाओं का वह विधाता था। बड़ा सख्त आदमी था। मुझे ले कर रियासत में जो आन्दोलन कुँवरानी का चला था, उस में मेरे साथ ताल्लुक रखने के कारण इस ने महाराजाधिराज को बहुत डाँट पिलाई थी। तभी से मैं जानती थी कि वह मेरा प्रबल विरोधी है। परन्तु आज अकस्मात् मेरे मन में एक बात बिजली की भाँति कौंध गई। बहुत देर तक मैं उस बात पर विचार करती रही और अन्त में मैं ने चुपचाप उन से मुलाकात करने का इरादा पक्का कर लिया।

दो बजे सब के खा-पी कर आराम करने के बाद डाक्टर नायडू और खवास अपनी रंगरेलियाँ करने कोठी के पिछवाड़े वाले भाग में चले जाते थे, यह मैं ने जान लिया था। आज भी वे चले गए। उन के जाने पर मैं ने नर्स को आराम करने की छुट्टी दे दी और कहा—"मैं

सोऊंगी, मुझे डिस्टर्ब न किया जाए।" कुछ देर मैं और रुकी। फिर मैं ने कपड़े बदले। पानी की शीशियां कपड़ों में छिपाईं और दबे पांव मैं नीचे उतर आई। सौभाग्य से इस समय कर्नल राबर्ट का कमरा भी बन्द था। किसी ने मुझे नहीं देखा और मैं कदम बढ़ाती हुई ए. जी. जी. के बंगले में जा पहुँची।

इत्तला पाते ही साहब ने तुरन्त मुझे भीतर बुला भेजा। मेरा परिचय पा कर कहा—"हाँ, हाँ, मैं आपको जानता हूँ। कहिए, क्या दिक्कत है।" उस ने बड़ी इज्जत और प्रेम से मेरा स्वागत किया, खूब ध्यान से मेरी बात सुनी। जो कुछ मैं जानती थी, वह सब मैं ने उन्हें बता दिया। साहब का प्रेम देख अपनी बेवसी पर मैं रो उठी। साहब ने मुझे तसल्ली दी और कहा—"आप फिक्र मत कीजिए, मैं सब आवश्यक प्रबन्ध कर दूँगा। आपका बाल भी बाँका नहीं होगा। पर आप अभी इस भेद को गुप्त ही रखिए।"

जब मैं वहाँ से लौट रही थी तब भी हमारी कोठी में सन्नाटा था। मैं चुपचाप अपने कमरे में जा रही थी कि किसी ने 'चम्पाकली रानी' कहकर मुझे पुकारा। वासुदेव महाराज थे। हंस रहे थे और हकला-हकला कर कुछ कहना चाह रहे थे। पर मैं एकदम अधीर हो कर दौड़ी और उनके वक्ष से बच्ची की तरह चिपट कर फफक-फफक कर रोने लगी। वासुदेव महाराज को इस की कल्पना भी न थी। वह घबरा कर बोले—"क्या हुआ, हुआ क्या ? मैं तो तार पाते ही..."

मैं ने ओठों पर उंगली रख कर धीरे से कहा—"आपको मैं ने तार भेज कर बुलाया है, यह बात किसी से मत कहिए। बड़ी भयानक बात है। आप मेरे कमरे में आइए।"

वासुदेव महाराज को कमरे के भीतर ले जा कर मैं ने द्वार बन्द कर लिया और सब कुछ उन्हें बता दिया। अभी-अभी मैं ए. जी. जी. से मिल कर आई हूँ, यह भी कह दिया। सुन कर वासुदेव गुस्से से लाल हो गए, कहने लगे—"उस खूसट नाऊ के बच्चे को तो मैं आज ही कच्चा

चबा जाऊँगा। और वह रांड..."

पर मैं ने वासुदेव महाराज को शांत करते हुए कहा—"नहीं, नहीं; सब काम सावधानी से चुपचाप करना होगा। इस कुकर्म में केवल खवास और डाक्टर नायडू ही नहीं हैं, अन्नदाता भी हैं।" बात की गम्भीरता समझ कर वासुदेव महाराज भी गम्भीर हो गए। उन्होंने कहा—"भले ही अन्नदाता भी हों, पर मैं तुम्हारे साथ हूँ चम्पाकली रानी! तुम्हारा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।"

वासुदेव महाराज को मैं ने समझा दिया कि दूसरों से कहो कि यों ही चले आए हैं। वासुदेव महाराज को भी यही तजवीज पसन्द आई। हम ने यह भी तय कर लिया कि प्रकट में वासुदेव महाराज मेरी ही भाँति डाक्टर नायडू और खवास से मिल-जुल कर रहेंगे।

: ४४ :

# हत्या का प्रयत्न

एक घंटे में ही डाक्टर नायडू का बिस्तर गोल हो गया। ज्ञात हुआ कि ए. जी. जी. साहब बहादुर के खास हुक्म से वह कहीं किसी खास केस पर नियुक्त हो कर जा रही है। उस के साथ एक नर्स भी जा रही थी। पर उस ने हरामजादी भोली-भाली नर्स को मेरे पास ही छोड़ा। मैं भी उस गुनहगार को अपने कब्जे में ही रखना चाहती थी।

डाक्टर नायडू रवाना हो गई और इस के कोई एक घंटा बाद कर्नल राबर्ट बहुत परेशानी की हालत में मेरे कमरे में आए। उन्होंने बहुत बारीकी से मेरी जाँच की और बिना कुछ कहे वह चुपचाप चले गए। मैं खूब सावधानी से इन सब बातों को देख रही थी। चलती बार जब डा० नायडू विदा होने मेरे कमरे में आई तब कमजोर और दुःख-सागर में डूबी होने पर भी मैं अकस्मात् मुसकरा दी। वह मुसकराहट उस से छिपी न रही। एक बार उस ने भयभीत नजरों से मेरी ओर देखा। पहली ही बार मैं ने उस की वह भय-विह्वल दृष्टि देखी थी। कदाचित् वह संदेह करने लगी थी कि उस का भेद मुझ पर खुल गया। पर उसके पास सोचने का समय ही कहाँ था! वह दो-चार औपचारिक बातें कर के चली गई।

डाक्टर राबर्ट की परेशानी से मैं पहले तो घबरा गई, पर पीछे मुझे ज्ञात हो गया कि ए. जी. जी. ने उन्हें भी चेतावनी दी है। डाक्टर राबर्ट ने उस नर्स से बहुत हुज्जत की थी, जिरह की थी, यह भी पीछे मैं ने सुना। मैं ने यह भी जान लिया कि नर्स कम उम्र और बुद्धि की कच्ची है। अतः मैं उस से सब बातें उगलवाने का अवसर देखने लगी।

खवास का चेहरा इस समय बिगड़ा हुआ था। क्यों न बिगड़ता भला ? उस का सारा प्रोग्राम जो बिगड़ गया था। वह भुनभुना रहा था, बात-बात पर नौकरों से बिगड़ रहा था। पुराना घाघ था, इस लिए घबराहट का नामोनिशान उस के चेहरे पर न था। कदाचित् उसे मेरी कारस्तानी का कुछ पता भी न था। नायडू के चले जाने की तो उसे परेशानी थी ही, वासुदेव महाराज के आने से भी उस के तन-बदन में आग लग गई थी। पर वासुदेव उस से खूब हँस-हँस कर, खूब घुल-

घुल कर बातें कर रहे थे। चुहल और मजाक भी बीच-बीच में चलते थे। खवास का मन यद्यपि ठीक न था और वह वासुदेव का दोस्त भी न था, पर मन के भाव छिपाने में वह उस्ताद था। अतः वह भी वासुदेव महाराज का साथ दे रहा था। दोनों पुराने खिलाड़ी अपने-अपने खेल खेल रहे थे। परन्तु खेल का मजा तब आया ,जब रात को कोई चोर आ कर खवास को ठोक-पीट गया। शोर-शप्पा बहुत हुआ, पर चोर पकड़ा नहीं गया। पहचाना नहीं गया। चोर ने कम्बल खवास पर डाल उसे उस में लपेट लिया। फिर लात-घूंसों से अच्छी तरह मरम्मत की। सुबह खवास जब सूजा हुआ मुँह और फूली हुई आँखों पर पट्टियाँ बाँधे उधर से निकला तब बरबस मुझे हँसी आ गई। वासुदेव महाराज अपने डंडे को सहलाते हुए हकला-हकला कर कह रहे थे—बेटा निर्भयराम, खवास का खयाल रखा करो, वह हमारे पुराने दोस्त हैं। खवास भी समझ गया था और मैं भी, कि सारी कारस्तानी वासुदेव महाराज की थी।

तीसरे पहर जब वासुदेव महाराज मेरे पास बैठे तब मैं ने कहा—"यह क्या किया बाबाजी, खवास को खतम ही कर दिया ?" तब हँस कर वासुदेव महाराज बोले—"ख···खतम क···कहाँ कि···किया, आ··· ज···जरा सी खो···खोपड़ी स···स···सहलाई है सिर्फ। अब जब तक बेटाजी आबू से अन्तर्धान नहीं हो जाते उन की सेवा तो निर्भयराम को करनी ही पड़ेगी। क···क्या कहते हो बेटा निर···निर्भयराम !"

मैं हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई और कल तक मैं कैसी भयानक मुसीबत में फँसी थी, यह बिलकुल ही भूल गई।

इस घटना के तीसरे ही दिन पुलिस दल-बल-सहित आ धमकी। पुलिस के बड़े साहब आए थे। नौकर-चाकर छोटे-बड़े सभी भय से काँपने लगे। जो असल कारण नहीं जानते थे वे भांति-भाँति की अटकल लगाने लगे। पुलिस ने सब से प्रथम उस नर्स को फाँसा। उस ने पाँच-दस मिनिट में ही सब भेद खोल दिया। जहर की पुड़िया भी उस के पास से बरामद हुई। इस के बाद मेरा बयान हुआ। अथ से इति तक

मैं ने सब बातें बता दीं। परन्तु जब मैं बयान दे रही थी, तभी अकस्मात् खवास ने मेरे ऊपर रिवालवर चला दिया। परन्तु इसी क्षण वासुदेव महाराज गरज कर खवास पर चीते की भाँति टूट पड़े। खवास का निशाना चूक गया और गोली मेरे कान को छूती हुई दीवार में घुस गई। इसी समय मैंने देखा कि खवास में दैत्य के समान बल था। उस ने अनायास ही वासुदेव महाराज को उठा कर दूर फेंक दिया और लगा दनादन गोलियाँ दागने। एक गोली वासुदेव महाराज की जाँघ में घुस गई। पुलिस के जवान तुरन्त ही उस पर टूट पड़े और उन्हों ने पिस्तौल छीन कर उसे कब्जे में कर लिया तथा हथकड़ियों में जकड़ लिया। एक क्षण-भर में ही यह सब भयानक काण्ड हो गया। वासुदेव महाराज खून में भर गए, पर उन्हें इस समय अपने जख्मी होने की जरा भी परवाह न थी। वह हकला-हकला कर खवास पर व्यंग्य-बाण चला रहे थे और खवास गंदी-गंदी गालियाँ बक रहा था। मैं उस हत्यारे की गोली से बाल-बाल बच गई थी, इस लिए वासुदेव महाराज बहुत खुश थे। उन्हें तत्काल प्रारम्भिक उपचार के लिए अस्पताल भेज दिया गया। खवास ने प्रत्येक बात से कतई इन्कार कर दिया। पुलिस ने उसके वस्त्रों की भी तलाशी ली और कमरे की भी। मेरे कहने पर कोठी के पिछवाड़े वाले कमरे की भी। वहां से भी कई संदिग्ध वस्तुएं मिलीं। उन में सब से अधिक महत्वपूर्ण था एक अधूरा पत्र, जिसे वह महाराजाधिराज को कदाचित् उसी समय लिख रहा था जब कि पुलिस ने उसे धर दबाया था। पत्र अधूरा था और उस पर उसके हस्ताक्षर नहीं थे, पर वह उसी

के हस्तलेख में था और उस से मेरी हत्या की योजना तथा महाराजाधिराज से उस योजना के सम्बन्ध पर काफी प्रकाश पड़ता था।

पुलिस खवास और नर्स को गिरफ्तार कर के ले गई। कर्नल राबर्ट ने बाद में मुझे बताया कि मैं ने जो पानी ए. जी. जी. को दिया था, वह बम्बई जाँच के लिए भेजा गया था और उस में विष पाए जाने पर ही ए. जी. जी. ने पुलिस बुलाई थी। उन्हों ने मुझे बहुत-बहुत तसल्ली दी और कहा—"अवश्य ही डाक्टर नामडू भी गिरफ्तार होगी।" उन्हें इस बात का भारी खेद था कि इतनी योग्य डाक्टर होने पर भी उस ने यह दुष्कर्म किया। उन्होंने मुझे यह भी बताया कि मेरी डिलीवरी के लिए बम्बई से एक लेडी डाक्टर और दो नर्सें बुलाने का प्रबन्ध ए. जी. जी. महोदय ने कर दिया है।

यह अंग्रेज चरित्र था, जिस पर आज मुझे विचार करना पड़ा। डाक्टर राबर्ट इस समय एक सच्चे पिता की भाँति मेरी सेवा-सहायता कर रहे थे और ए. जी. जी. साहब बहादुर ही नहीं बल्कि उन की मेम साहिबा भी दो बार आकर मुझे तसल्ली दे गई थीं। यह मेरे ऊपर उन का अनुग्रह न था, कर्तव्य पालन था। मैं जानती थी कि यही साहब कुंवरानी के मामले में मेरे कितने विरोधी थे। मुझे रंगमहल से निकालने में उन्होंने बड़ा बल लगाया था, पर आज वही मेरे प्राणों की इस प्रकार रक्षा कर रहे थे। सच तो यह है कि उन्हों ने ही मुझे नवजीवन दान दिया था। मैं मन-ही-मन उन की कृतज्ञ हो रही थी और जब-जब सारी बातों पर ध्यान आता था तब-तब मेरी आँखों में आँसू उमड़ आते थे।

मुझे वासुदेव महाराज की बड़ी चिन्ता थी। बेशक उन्हों ने मेरे प्राण बचाने में अपने प्राण संकट में डाल दिए थे। वह बूढ़ा ब्राह्मण अकारण ही अपने प्यार से मुझे आप्लावित कर रहा था। मैं उन्हें देखने और उन का हाल जानने को अधीर हो रही थी, पर कर्नल ने मुझे बता दिया था कि गोली उन की जाँघ से निकाल दी गई है और उनकी हालर सुधर रही है, कोई खतरे की बात नहीं है।

: ४५ :

# मातृ-सुख

प्रसव सही सलामत हो गया। यद्यपि मैं अत्यन्त कमजोर थी और मुझे अभी ज्वरांश भी था तथा मेरा बच्चा अत्यंत स्वस्थ्य था; वह मानो चाँद का टुकड़ा था। इस बार जो लेडी डाक्टर बम्बई से आई थी, वह बड़ी सुयोग्य गुजराती महिला थी। अभी-अभी कोई बड़ी भारी डिग्री ले कर अमरीका से आई थी। बहुत कम आयु थी, कुमारी थी। अमरीकी समाज और शिष्टाचार का उस पर पूरा प्रभाव था। सुन्दरी वह मुझ से भी अधिक थी। मेरी तो अब उतरती जोत थी। मैं तो उस की प्रिय मूर्ति को ठगी-सी देखती रह जाती थी। मेरी सारी दुःख गाथा सुन कर उसे मुझ से प्यार और सहानुभूति भी हो गई थी। अब हम गहरे मित्र थे। बहुधा मैं उसे अपने यहाँ आग्रहपूर्वक शाम की चाय पिलाती थी। नर्सें भी दोनों बहुत भली थीं। नर्सें एंग्लो-इण्डियन थीं। एक तो खूब मोटी अधेड़ औरत थी। टूटी-फूटी हिन्दी बोल लेती थी। मजेदार औरत थी। ऐसी-ऐसी नकलें करती और लतीफे सुनाती थी कि हंसते-हंसते पेट में बल पड़ जाते थे। दूसरी नर्स कम उम्र की थी। पर अपने काम में चौकस थी। उस का सेवा-भाव धर्म को छू गया था। वह श्रद्धा और प्रेम से सेवा करती थी। अब मेरे चारों ओर

प्रेम मित्रता और आनन्द का वातावरण था। मोटी नर्स को राजा-रजवाड़ों के, खवासों के, सौतों के झगड़े-बखेड़े सुनने का बड़ा चाव था। जब उसे मालूम हुआ कि मैं रानी-महारानी नहीं, गोली हूँ, और मेरे जीवन की विचित्रताएं ज्यों-ज्यों उस पर प्रकट होने लगीं त्यों-त्यों वह मुझे खिलौना समझ कर खोद-खोद कर मेरा जीवन-वृत्त पूंछने लगी।

यह सब प्रबन्ध बड़े साहब ने स्वयं किया था और वह बराबर की कोठी में अभी तक उपस्थित थे तथा मेरे साथ दिलचस्पी रखते थे। दो बार तो वह सपत्नीक मुझे देखने आ चुके थे और फल-फूल के उपहार तो बहुधा भेजते ही रहते थे। मेरे प्रति जैसे उनकी ममता जाग उठी थी। इन सब बातों के कारण भी डाक्टर, नर्स और दूसरे लोग सब मेरी लगन से सेवा-सुश्रूषा करते थे। वासुदेव महाराज स्वयं अपने हाथ से मेरा पथ्य बना कर अपने सामने मुझे खिलाते-पिलाते। जब तक मैं खाती-पीती रहती अपनी हकलाहट-भरी बातों से वह मुझे हंसाते रहते थे।

दिन बीतते चले गए और मेरा बच्चा अब एक महीने का हो गया। मेरा स्वास्थ्य अब बहुत कुछ सुधर गया था, पर कमजोरी तो अभी थी ही। इस से डाक्टर राबर्ट ने यह निश्चय किया कि अभी और दो मास तक मुझे यहीं रहना चाहिए। मुझे इस में कुछ उज्र न था। मनोरम दृश्य, सुखद वातावरण, स्वास्थ्यप्रद जलवायु, आनन्ददायी मित्र-मण्डली। और अब मुझे क्या चाहिए था? वह माली अब मेरा भारी मित्र बन गया था। दोनों समय फूलों के गुलदस्ते, हार, चोटी और न जाने वह क्या-क्या ले आता था। घंटों बैठा कर मैं उससे बातें करती और चलती बार उसे कुछ-न-कुछ अवश्य देती थी। उस के बेटे की बहू कभी-कभी आकर मेरे पैरों के तलुओं में तेल मल जाती थी। बड़ी लजीली और स्वस्थ बहू थी। एकदम सुर्मई रंग और खूब भरा शरीर। पच्चीस वर्ष की आयु। बड़ी-बड़ी आँखें। चाँदी के भारी-भारी गहने। उसे मैं ने अपना एक सोने का जड़ाऊ गहना दे दिया था। वह पहले मुझे सरकार कह कर पुकारती थी। सभी मुझे यही सम्बोधन करते थे। केवल वासु-

देव महाराज चम्पाकली कहते और डाक्टर राबर्ट 'माई चाइल्ड' कहते थे। नई डाक्टरनी ने भी सरकार कहना आरम्भ किया था, पर मैं ने उन्हें जब अपना सारा जीवन खोल कर बता दिया तब उन्होंने मेरा एक-दम नया नामकरण कर डाला। किसुन का शुद्ध उच्चारण लगा कर वह मुझे श्रीमती कृष्ण कहने लगीं। बालक के पिता का नाम जो अब तक किसुन दारोगा लिखा जाता था, यहाँ डाक्टरनी के कहने से मिस्टर कृष्णसिंह लिखा गया। मैं अपने अदृश्य किसुन को मिस्टर कृष्णसिंह के नवीन संस्करण में न केवल नए सिरे से प्यार करने लगी, अपितु श्रीमती कृष्ण के नाम में एक नया गौरव भी अनुभव करने लगी। उस माली की बहू को मैं ने जीजी कहना सिखा दिया। बड़ी कठिनाई से उस भोली के मुँह से मुझ जैसी राजरानी के लिए जीजी शब्द निकला। फिर तो वह मेरे ऊपर मर मिटी।

ऐसे सुखद वातावरण को छोड़ कर मैं भला क्या करने रियासत में जाना पसन्द करती! विशेष कर मैं जानती थी कि जब तक यहाँ हूँ तब तक मेरा पुत्र, मेरी आँखों का तारा, मेरी छाती से लगा हुआ है। वहाँ तो जाते ही छीन लिया जाएगा। यह सोचकर भी मैं यहीं रहना पसन्द करती थी। मैं सुन चुकी थी कि महाराजाधिराज राजधानी में विलायत से लौट आए हैं। परन्तु उन्हों ने न कोई खत लिखा था, न मुझे बुलाया था, न कोई संदेश ही भेजा था। उन की यह उपेक्षा मुझे भयानक-सी लग रही थी। खास कर यह याद कर के कि उन्हों ने ही मेरी हत्या करने को उस खवास के बच्चे को नियुक्त किया था। अब क्या मेरे वे राजसुख के दिन बीत चुके? अब क्या मैं राजा के मन से उतर गई? क्या अजब कि रियासत में जाने पर वह मुझे फिर न मरवा डालें। अब तो मैं फूंक-फूंक कर पाँव रख रही थी। पर मुझे सब से अधिक अपने किसुन का अभाव खटक रहा था। मैं चाह रही थी कि केवल किसुन यहाँ आ जाए, तो मैं अब जीवन भर कभी रियासत में जाऊं ही नहीं। पर मुझे न किसुन का कोई समाचार मिला था, न केसर का,

और अपने बच्चों का। इन सब बातों के लिए मैं कभी-कभी बहुत ही व्याकुल हो उठती थी।

इसी समय कर्नल राबर्ट ने मुझे सूचना दी कि उन्हें रियासत में बुलावा आया है, और उन्हें यह भी आदेश हुआ है कि वह मुझे भी साथ लेते आएँ। परन्तु इस के साथ ही उन्हों ने अपने मन की बात भी कह दी। उन्हों ने कहा—"मेरी बच्ची, तुझे अभी वहाँ नहीं जाना चाहिए। प्रथम तो अभी तेरा स्वास्थ्य पूरी तौर पर ठीक नहीं हुआ है। दूसरे वहाँ का वातावरण कैसा है, हिजहाइनेस की मनोवृत्ति कैसी है, यह मैं पहले जा कर जाँचना चाहता हूँ। तीसरे यहाँ तेरे लिए सब भाँति का आराम है। इस लिए तू अभी ६ महीने यहीं रह। मै ए. जी. जी. से कह कर इस का प्रबन्ध करा दूंगा।"

मुझे इस बूढ़े अंग्रेज की बात भा गई। मैं ने कहा—"आप मेरे पिता-तुल्य हैं। मेरे भले के लिए आप जो ठीक समझें, वही करें। परन्तु आप भी यहीं रहें तो उत्तम है।" पर डाक्टर राबर्ट ने बताया कि यह सम्भव नहीं है। अन्ततः यह तय पाया कि जब तक मैं यहाँ हूँ, वह लेडी डाक्टर और नर्स भी यहीं रहेंगी, भले ही इन का खर्चा मुझे अपने पाकेट से देना पड़े। वासुदेव महाराज भी मेरे पास ही रहेंगे, यह भी तय हुआ।

डाक्टर राबर्ट ने ऐसा ही प्रबन्ध करा दिया और चलते-चलते वह कह गए—"जब कभी कोई कठिनाई हो, बड़े साहब से कहना।"

वह चले गए और अब मैं स्वच्छन्दतापूर्वक अपने बेटे को छाती से लगा कर निर्द्वन्द माता का सुख-भोग करने लगी—अपने जीवन में पहली ही बार, यद्यपि यह मेरी चौथी सन्तान थी, और मैं अब अधेड़ आयु की स्त्री थी।

: ४६ :

# मुक़दमा

एजेन्ट गवर्नर-जनरल बहादुर बड़े सख्त अंग्रेज थे। पहले कह चुकी हूँ कि कुँवरी के मामले में वह मेरे प्रबल विरोधी थे, यहाँ तक कि मुझे रियासत से बाहर निकालने में उन्हों ने कोई कोर-कसर नहीं रखी थी। परन्तु आज वह मेरे ऊपर अत्यन्त सदय थे। वास्तव में न्याय और व्यवस्था ही पर उन का ध्यान था। मेरी हत्या का षड्यन्त्र अत्यन्त जघन्य था। वह जानते थे कि ऐसे मामले अक्सर रियासतों में होते रहते हैं। मेरी-जैसी गोलियाँ जब तक सुन्दरी, जवान रहती हैं, वे इसी तरह चूसी जाती हैं और फिर उन का कंटक दूर कर दिया जाता है। राजा-रईसों की रंगरलियों की यह पुरानी परम्परा है। एक निष्ठावान् अंग्रेज कैसे इसे बर्दाश्त कर सकता है। अतः इस मामले में ए. जी. जी. ने बड़ा सख्त कदम उठाया और जिस समय मैं आबू की उपत्यकाओं में बैठी अपने पुत्र को लोरियाँ गा-गा कर वहाँ के स्वस्थ सुखद वातावरण का आनन्द ले रही थी, उस समय राजधानी में उथल-पुथल हो रही थी। मेरी हत्या का प्रयत्न करने में लालजी खवास और डाक्टर नायडू की गिरफ्तारी की चर्चा हजार मुँह से विविध रूप धारण कर के फैल गई थी। उस में अनेक विकृत बातों का भी समावेश हो गया था। उधर

महाराजाधिराज विलायत से लौटते ही अपनी पतलून का जलसा धूम-धाम से करने की तैयारी कर चुके थे। बहुत से राजा-रईस-अंग्रेज अफसरों को आमंत्रित किया गया था। दावत की बहुत भारी तैयारी की जा रही थी। इतने में ही इस मुकदमे में महाराज का नाम आ जाने से ये सारी तैयारियाँ उलट-पुलट हो गईं और महाराज को गद्दी से उतार देने की अफवाह सारी रियासत में फैल गई।

महाराजाधिराज एकदम बौखला उठे। मैं कह ही चुकी हूँ कि उन में अनेक अच्छे गुण थे। परन्तु वह सनकी भी एक नम्बर के थे। उन्हों ने सनक में ही वह पतलून सिलवाई थी। भला कौन उन-जैसा पढ़ा-लिखा, सभ्य पुरुष ऐसी पतलून पहनने की कल्पना कर सकता था। अब तो ऐसी भी खबरें आ रही थीं कि राजा पागल हो गए हैं।

इन सब सूचनाओं को पा कर मैं भी बौखला उठी। कैसी अद्‌भुत बात है कि मेरा भाग्य इसी पुरुष से बंधा था। अब मैं कभी-कभी यह सोचने लगती थी कि मेरा क्या होगा। यद्यपि मेरे पास अब काफी अपनी जमा-पूंजी थी, हीरे-जवाहरात भी थे, तथापि मैं रह-रह कर यही सोचा करती कि मेरा किसुन मुझे मिल जाए और मैं सचमुच श्रीमती कृष्ण बन कर राजधानी से बाहर कहीं अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया में किसी नगर में जा बसूँ। परन्तु क्या यह सम्भव हो सकता था? हम गोली-गुलामों का है ऐसा भाग्य?

फिर भी वह विचार मेरे मस्तिष्क में पुष्ट होता जा रहा था और मैं यही सोचा करती थी कि कभी-न-कभी यह स्वप्न पूरा होगा ही। परन्तु किसुन की मुझे कोई सूचना न मिल रही थी। हर बार मैं वासुदेव महाराज से कहती। वह अपने आदमियों को लिखते, पर हर बार उन्हें यही जवाब मिलता कि किसुन का कुछ भी पता नहीं है। सुना है कि अन्न-दाता ने उसे कैद में डाल दिया है। यह समाचार सुन कर मैं अधीर हो उठी। मैं ने चाहा कि एक बार वासुदेव महाराज स्वयं राजधानी जाएँ और सब समाचार ले आएँ। परन्तु अभी मैं यहाँ निरापद न थी।

वासुदेव महाराज ने भी मुझे छोड़ जाना ठीक नहीं समझा। इतने में मुझे सूचना मिली कि मेरी हत्या के षड्यन्त्र का जो मुकदमा चल रहा है, उसमें मुझे भी गवाही देने राजधानी जाना होगा। षड्यन्त्र में महाराजाधिराज भी सम्मिलित थे, इस लिए यह मुकदमा साधारण अदालत में न चला कर इस के लिए एक विशेष अदालत बैठाई गई थी, जिस की कुल कार्रवाई बन्द कमरे में हो रही थी। मेरी गवाही अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण थी। उसी पर महाराजाधिराज की गद्दी और इज्जत निर्भर थी। मुझे सख्त पहरे में राजधानी ले जाया गया, क्यों कि ए. जी. जी. की हिदायत की थी कि मेरी सुरक्षा का पूरा बन्दोबस्त रहे।

मैं सीधी अदालत पहुँचाई गई। अदालत में किसी भी बाहरी आदमी को नहीं आने दिया गया था। फिर भी बाहर आदमियों की बहुत भारी भीड़ थी। अखबार वाले भी काफी शोर मचा रहे थे और वातावरण खूब उत्तेजनापूर्ण था। मुझे देख कर भीड़ और भी उत्तेजित हो गई। मुझे घेर लिया गया और पुलिस ने बड़ी कठिनाई से मुझे अदालत में पहुँचाया। लालजी खवास और डाक्टर नायडू, दोनों ही अभियुक्त अदालत में हथकड़ियों से जकड़े हुए हाजिर थे। अदालत ने उन की जमानतें मंजूर नहीं की थीं। परन्तु राजाधिराज उपस्थित नहीं थे। महाराज की ओर से कलकत्ता-बम्बई के बड़े-बड़े बैरिस्टर पैरवी कर रहे थे। नायडू और खवास ने भी बड़े-बड़े वकील जुटाए थे। मुकदमा सरकार की ओर से चल रहा था और सरकार ने भी एक बहुत बड़ा वकील खड़ा किया था। नायडू का चेहरा उतरा हुआ था। मुझे देख कर उस ने आँखें नीची कर लीं। अनुनय और अनुताप उस की आँखों में भरा था। पर खवास जलती आँखों से मुझे घूर रहा था। उस पर दो संगीन जुर्म थे—एक मेरी हत्या का षड्यन्त्र करना और जहर देना और दूसरा रिवाल्वर से कातिलाना हमला करना। मेरी गवाही हुई। मैं ने एक-एक कर के सारी ही घटनाएँ बयान कर दीं। पर जब महा-

राज की बात आई तब मेरी वाणी जड़ हो गई। जब सरकारी वकील ने प्रश्न किया कि तुम जानती हो कि हिज हाइनेस भी इस साजिश में थे, तब किसी अतर्क्य शक्ति ने मेरे मुँह पर ताला जड़ दिया। मैं बोल न सकी, परन्तु जब बारम्बार वही प्रश्न दुहराया गया, तब मैं ने धीरे से कहा—"मैं नहीं जानती।"

बयान मेरा खत्म हुआ। उस पर बहुत-सी जिरह हुई। महाराज के बैरिस्टर बहुत प्रसन्न मुद्रा में थे। महाराज के विरुद्ध तो एक मात्र मैं ही गवाही दे सकती थी। मेरे बाद वासुदेव महाराज का बयान हुआ। उन्हों ने बताया कि खवास ने उन पर मार डालने की नियत से गोली चलाई थी, लेकिन उन के झपट पड़ने से खवास का निशाना चूक गया और गोली उन की जाँघ में लगी। जिरह उस से भी बहुत हुई। बयान होने पर हम लोग उसी भाँति सख्त पहरे और सुरक्षा में आबू पहुँचा दिए गए।

आबू लौट आने पर मैं तरह-तरह की चिन्ताओं में घिर गई। मैं नहीं जानती थी कि अब महाराजाधिराज मेरे साथ क्या व्यवहार करेंगे। यद्यपि मैं ने उन के प्रतिकूल बयान न दे कर उन पर भारी अहसान किया था, फिर भी वह उस निष्ठा से बढ़ कर न था जिस के साथ बीस वर्ष पहले मैं ने उन के प्रति आत्मार्पण किया था। मेरे इस आत्मार्पण के बदले यदि वह मेरी हत्या करा सकते थे तो भला मेरे इस बयान का वह क्या मूल्य समझ सकते थे? न पहले और न अब आबू आने पर मुझे उन का कोई संदेश मिला। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे, मैं बेचैन होती जाती थी। मेरी समझ में ही न आता था कि क्या करूँ। अन्ततः मुझ से निष्क्रिय नहीं बैठा गया। राजधानी से लौट मुझे अभी दो ही मास हुए थे कि म ने वासुदेव महाराज को सब बातें समझा-बुझा कर राजधानी भेज दिया। मैं ने उन से अनुरोध किया कि वह किसुन का, मेरे बच्चों का, केसर का तथा दूसरे सारे हाल-चाल ले कर आएँ। पहले वह मुझे वहाँ छोड़ने को राजी नहीं हुए, पर अन्त में चले गए। अपनी

गैरहाजिरी में मेरी सुरक्षा की जो भी व्यवस्था वह कर सकते थे, करते गए। राजधानी में उन्हों ने जो-जो बातें बताईं, उन्हें सुन कर मेरा मन और भी व्यग्र तथा व्यथित हो गया और मैं घबरा गई। उन्हों ने बताया कि महाराजाधिराज ने अपने बचाव के लिए वकीलों की सलाह से यह बयान दिया था कि वह पागल हैं। वह सचमुच पागल हैं या नहीं, यह जांच करने के लिए दो अंग्रेज विशेषज्ञ विलायत से बुलाए गए थे। जब वे अंग्रेज महाराज की जाँच करने महलों में गए, तब उन से कहा गया कि महाराजाधिराज की हालत बहुत खतरनाक है। ज्यादा आदमियों को देख कर वह भड़क उठते हैं। इस से ठीक यह होगा कि एक-एक डाक्टर ही उन की पृथक्-पृथक् जाँच करे। बेचारे अंग्रेज डाक्टर झाँसे में आ गए। महाराज रंगमहल के भीतरी भाग में एक छोटे से कमरे में जा बैठे। वहीं जब उन में से एक डाक्टर उन की परीक्षा के लिए पहुँचा तब वह उस पर शेर की भाँति टूट पड़े और उसकी गर्दन पर सवार हो कर बोले—"साले के साले, लिख दे कि हम पागल हैं, नहीं तो अभी मार डालूंगा।" बेचारे डाक्टर की अक्ल गुम हो गई और उस ने प्राण-संकट देख उन्हें पागल होने का सार्टिफिकेट दे दिया। सार्टिफिकेट को पढ़ कर महाराज ने हंस कर कहा—"इसे अभी बन्द कर दो और दूसरे गधे को भी लाओ।" जब दूसरा डाक्टर आया तब उस के साथ भी यही व्यवहार किया गया और उस से भी पागलपन का सार्टिफिकेट ले लिया गया। इस के बाद प्रत्येक को पाँच-पाँच लाख रुपया इनाम दे कर प्रसन्न कर लिया गया। रुपए पा कर दोनों अंग्रेज पुंगव अपना अपमान भूल गए, प्रसन्न हो गए। उन्हें एक सप्ताह राजधानी में मेहमान की भाँति रखा गया, शिकार, दावत और जल्से हुए और फिर विदा कर दिया गया।

मेरी गवाही और पागलपन के सार्टिफिकेट के कारण मुकदमे से तो महाराजाधिराज बरी हो गए, पर उन के राजनीतिक अधिकार सब छिन गए। एक प्रकार से उन्हें गद्दी से उतार ही दिया गया। एक अंग्रेज

सिंवालियन राज्य का दीवान हो कर आया और रियासत का वही सर्व-सर्वा बन गया। महाराज को एक निश्चित राशि प्रति मास प्राइवेट पर्स की मिलने लगी और वह जब राज-काज में कोई दखल नहीं दे सकते थे। अब उन का सारा ही समय रंगमहल की ललनतरानियों में व्यतीत होता था।

किसुन के सम्बन्ध में वासुदेव महाराज कोई निश्चित खबर नही लाए थे। उन का कहना था कि किसुन विलायत से लौटती बार तो महाराज की सेवा में देखा गया था, पर अब उस का कोई पता ही न था। राजधानी में वह न था और यह कोई न जानता था कि वह कहाँ है। यह अफवाह थी कि महाराजाधिराज ने उसे कैद कर लिया है। यह इसलिए कि महाराज ने उस से मेरे सब हीरे-जवाहरात और धन माँगा था, पर किसुन ने वापस देने और बताने से इन्कार कर दिया था। उसे मारा-पीटा भी बहुत गया था। इन सब बातों को सुन कर मेरा कलेजा मुँह को आने लगा और मै किसुन के लिए बहुत छटपटाई। पर मैं कर भी क्या सकती थी, निरुपाय थी।

उस पतलून का भी किस्सा मजेदार रहा। विलायत से लौटने पर महाराज ने उस के लिए एक बड़े जल्से और धूम-धाम की व्यवस्था की थी। सुना कि एक बटन जरा ठीक से टांकने के लिए विलायत से दर्जी आया था और उसे ग्यारह हजार रुपए दिए गए थे। परन्तु मुकदमे के झमेले में पतलून का जल्सा हो न सका। और अब इस अंग्रेज मिनिस्टर ने रंगमहल की बहुत-सी फालतू चीजें—हाथी, घोड़े, जवाहरात, मोटरें आदि फालतू जिन्सें—बेच कर कर्जा चुकाने की योजना बनाई तो वह पतलून भी बेच दी गई।

: ४७ :

# बुरे दिन

दिन बीतते चले गए। अब मुझे आबू में रहते एक वर्ष पूरा हो रहा था। लेडी डाक्टर और नर्सें चली गई थीं। मेरे पास केवल वासुदेव महाराज रह गए थे। इस बार वह दो लठैत अपने साथ लाए थे जो मुस्तैदी से कोठी पर पहरा देते थे और जब मैं बाहर हवाखोरी को जाती तब वे परछाईं की भाँति मेरे साथ रहते थे। मैं बहुत कुछ स्वस्थ हो गई थी। मेरा पुत्र बहुत चंचल, सुन्दर और हंसमुख था। उस की बाल-लीला ने मुझे विभोर कर दिया था। यद्यपि अपने पुत्र को अपनी छाती से लगा कर रखना मेरे लिए एक अलभ्य लाभ था, फिर भी अब यहाँ से मेरा जी ऊब गया था। मैं किसुन, केसर और बच्चों के लिए बेचैन हो रही थी। मैं वासुदेव महाराज से कहती कि वह मुझे राजधानी ले चलें। पर उधर से महाराजाधिराज का कोई आदेश नहीं मिल रहा था। हाँ, यहाँ मेरे खाने-पीने आदि का सब खर्चा ठीक-ठीक चल रहा था। मालिन की बहू अब दिन भर मेरी सेवा में रहती थी। मेरा बच्चा भी उस से बहुत हिल गया था। मैं अब यह तो भूलने ही लगी थी कि मैं कभी राजरानी थी। अब तो मैं एक साधारण स्त्री की भाँति इस खुशमिजाज औरत की सोहबत में और अपने जिगर के टुकड़े को गोदी में उछाल-उछाल कर

आनन्द के दिन व्यतीत कर रही थी। यदि किसुन और बच्चे मुझे मिल जाते तो मैं कभी राजधानी जाने का नाम भी न लेती। पर अब तो ज्यों-ज्यों दिन बीत रहे थे, मैं अधीर होती जाती थी। एजेन्ट गवर्नर-जनरल बहादुर सीजन खत्म होते ही चले गए थे। मेरे बयान से वह कुछ असन्तुष्ट भी हुए थे, ऐसा मैं ने सुना था। उन की कोठी अब सुनसान पड़ी थी। मेरी कोठी में भी प्रायः सन्नाटा रहता था। रात को जब वायु पहाड़ों से टकराती तब मैं डर जाती थी। सर्दी अब शुरू हो गई थी और अभी से तेज ठण्डी हवा के झोंके तीर-से लगने लगे थे।

मैं ने महाराजाधिराज का कितना उपकार किया था। पर आज उन्हों ने एकबारगी ही मुझ से मुँह फेर लिया था। कैसे आश्चर्य की बात थी। वह तो मुझे बहुत प्यार करते थे! बहुत मानते थे! मुहब्बत की बड़ी-बड़ी बातें करते थे! मैं अभागिन अब उन्हीं सब बीती बातों को सोचा करती थी और कभी-कभी रोया करती थी। मैं रोती थी अपने बीते दिनों को याद कर के। पर अभी मुझे और भी बुरे दिन देखने पड़ेंगे, यह मैं बिल्कुल नहीं जानती थी। कभी-कभी यह आशंका मेरे मन में घर कर जाती थी कि आखिर महाराजाधिराज ने जो मुझे एकबारगी ही बिसार दिया है, इस का कारण क्या है। क्या वह अब मुझे नहीं रखेंगे? तब मेरा क्या होगा? इस विचार ने मेरा खाना-सोना हराम कर दिया था।

इसी समय कुछ भयानक खबरें मुझे राजधानी से मिलीं। वासुदेव महाराज का एक विश्वस्त शिष्य ये खबरें लाया था। सब से बड़ी खबर तो यह थी कि एक ठाकुर की बेटी से महाराजाधिराज ने नया ब्याह रचाया है। दूसरी यह कि केसर मर गई है और मेरी दोनों लड़कियाँ होस्टल में मेरी बड़ी लड़की के पास हैं। किसुन के सम्बन्ध में कोई खबर नहीं मिल रही थी। मेरे लिए ये सब खबरें मौत से भी बढ़ कर भयानक थीं और अब मैं अपने को स्थिर नहीं रख सकती थी। यहां अब एक क्षण भी काटना मुझे पहाड़ हो रहा था। वासुदेव महाराज से मैं ने सलाह ली। उन का विचार था कि वह एक बार जा कर वहाँ के हाल-चाल देख

आएं, परन्तु मेरी तकदीर में जो कुछ भोगना बदा था, उस ने मेरी मति फेर दी और मैं ने तुरन्त ही राजधानी चल देने की ठान ली। अन्ततः मैं आबू से चल ही दी। या यों कहूँ कि होनी मुझे विपत के सागर में खींच लाई।

राजधानी में जा कर मैं ने देखा कि मेरा महल अब मुझे नहीं मिल सकता क्यों कि महाराजाधिराज ने जिस ठाकुरड़े की लड़की से नया ब्याह किया है, वही उस महल में नई रानी की तरह आबाद है और राजधानी में महाराज के ब्याह की धूमधाम चल रही है। मेरे महल में सुहागरात मनाई जा रही है। विलायती शराब के दौर चल रहे हैं। दूर-दूर के रंडी-भाँड आए हैं। उन के मुजरे हो रहे हैं। यह सब देख कर तो मेरा मुँह सूख गया। अब मै कहाँ जाऊँ ? कहाँ रहूँ ? वासुदेव महाराज ने महाराजाधिराज से मुलाकात करना चाहा, पर मुलाकात नहीं हुई। लाचार वासुदेव मुझे अपने घर ले गए। उन की आँखों में आँसू आ गए। मेरी दुर्दशा और असहायावस्था देख कर उस बूढ़े ब्राह्मण का दिल रो उठा। वह पुराना सम्बोधन चम्पाकली भूल गया। मेरे पुत्र को मेरी गोद से अपनी गोद में ले कर कहा—"चलो बेटी, इस ब्राह्मण का घर तुम्हारे लिए खुला है। जो रूखा-सूखा मिले खाना और समझना कि अपने गरीब बाप के घर आई हो।" मैं भी अपने आँसू न रोक सकी। आज तो धरती-आसमान पर मेरा कोई न था। केवल वासुदेव महाराज का आसरा था। मैं ने भी अपने अतीत की सब बातें भुला दीं। काँपते कण्ठ से कहा—"चलिए पिता जी !" और मै उन के पीछे चल दी।

वासुदेव महाराज का घर काफी बड़ा था। पक्की तिमंजिला हवेली थी। पर मेरे रंगमहल की भला उस से क्या तुलना हो सकती थी ! घर में वासुदेव की वृद्धा माता और वृद्धा पत्नी थी। एक पुत्र था, जिस ने हाल ही में कानून पास किया था। वह रियासत ही की कचहरी में प्रैक्टिस करता था। उस का विवाह हो गया था, पर बहू अभी मायके में ही थी। एक सेवक था, जो ऊपरी कार-धन्धे करता था। मकान के नीचे

का खण्ड एक दम मर्दाना था। उसी की एक बारहदरी में अखाड़ा बना हुआ था। वहाँ वासुदेव महाराज की शिष्य-मण्डली कुश्ती, छुरी, तलवार, गदके के हाथ सीखती थी। वासुदेव महाराज की अवाज सुन कर वे सब आ जुटे। मुझे ऊपर की मंजिल में एक छोटी-सी कोठरी मिली। वहाँ एक साधारण-सी चारपाई पर बिछी शतरंजी पर जब मैं ने अपने बच्चे को सुलाया तब अपने भाग्य के इस परिवर्तन को देख मुझे हँसी आ गई। वाह रे, विधाता ! मेरा बिस्तरा मेरे साथ था। वस्त्र भी बहुत थे। पर बिस्तरा मैं ने खोला ही नहीं। मैं ने निश्चय किया कि मैं इस ब्राह्मण के घर उस की बेटी बन कर साधारण जीवन ही व्यतीत करूँगी। थोड़ी देर में उन की ब्राह्मणी मेरे लिए थाल परस कर लाई। बच्चे के लिए दूध भी लाई। मैं ने कहा—"मा जी, मेरे लिए इतना कष्ट न करें। मैं वहीं आ कर भोजन कर लूंगी।" इस पर उन्हों ने कहा—"नहीं रानी बेटी, यह ठीक न होगा। मुझे अपने बच्चों को खिलाने-पिलाने में कष्ट काहे का होता है।"

मैं ने तो अपने जीवन में नौकरों की सेवाएँ देखी है। बुजुर्गों की प्यार-भरी सेवा तो यह पहली बार ही देखी। मेरी आँखों में आँसू आ गए और मैं ने झुक कर उन के चरणों में सिर रख दिया।

दूसरे दिन सवेरे ही मैं साफ-सादा सूती साड़ी पहन कर ब्राह्मणी के पास जा पहुँची। वह रसोई की खटपट में लगी थीं। मैं ने पास पहुँच कर कुछ संकोच से कहा—"मा जी, मैं शूद्र हूँ। गोली हूँ, आप की रसोई में नहीं आ सकती। पर काम मुझे भी चाहिए। दाल मैं धो दूंगी, चावल मैं साफ कर दूंगी। बर्तन मैं माँज दूंगी।" ब्राह्मणी किसी तरह राजी न हुईं, पर मैं भी हठ पकड़ बैठी। लाचार ब्राह्मणी को मेरा हठ मानना पड़ा। घर के सभी कामों में मैं हाथ बटाने लगी। जीवन में कभी भी तो मैं ने घर-गिरस्ती का काम नहीं किया था। झाड़ू कभी हाथ से नहीं छुई थी। करछुल को हाथ नहीं लगाया था। पर आज तो मैं सभी कुछ कर रही थी, यहाँ तक कि जूठे बर्तन भी माँजने में मुझे सुख था। मना वासु-

देव महाराज ने भी बहुत किया, पर मैं ने माना नहीं। मेरे पास अब भी काफी रुपया था, पर वासुदेव महाराज ने वह लेना स्वीकार नहीं किया। मैं ने भी हठ नहीं किया।

एक महीना बीत गया। मैं अपने इस नए गृहस्थी के जीवन की कुछ कुछ अभ्यस्त होने लगी। वासुदेव महाराज तो उदार वृत्ति के ब्राह्मण थे ही, उन की माता और पत्नी भी वैसी ही थी। खास कर माता बहुत विदुषी और पण्डिता थीं। वह छुआछूत का वैसा कुछ विचार नहीं रखती थीं। खास कर मेरे प्यार ने उन्हें वशीभूत कर लिया था और मैं उनकी रसोई में भी सहायता करने लगी थी। अपनी घर-गिरस्ती का काम-काज भी मैं अपने हाथों से करने लगी। अपने बच्चे को तेल मलती, उबटना लगाती, नहलाती और छाती पर सुलाती। ये सब काम अपने हाथों से करने में मुझे आनन्द आने लगा, ऐसा आनन्द, जो न कभी मा के साथ रहते हुए बचपन में आया था और न रंगमहल में राजरानी बन कर। मैं भूल गई थी कि मैं गोली गुलाम हूँ, मेरा रक्त राजा का बन्धक है और मेरा कलुषित शरीर पाप धर्म से दूषित है। अब तो मैं ब्राह्मण-कन्या की भाँति सारे आचार पालन कर के इस सीदे-सादे प्रेमी और उदार ब्राह्मण के घर उस की बेटी बन कर रह रही थी। आश्चर्य तो यह था कि मैं आस्तिक बन गई थी। मैं नित्य उठ कर नित्य कर्म से निवृत्त हो स्नान-पूजन, सन्ध्या करती—उसी भाँति, जैसे गृहिणी करती थी। फिर मैं थोड़ा जलपान कर के बच्चे को नहलाती, खिलाती-पिलाती और तब घर-गिरस्ती के कामों में ब्राह्मणी को सहायता देती। या मा जी की चरण सेवा करती और योग वाशिष्ठ तथा गीता का वचनामृत पान करती। मेरे जीवन का सुप्रभात उदय हुआ था। कभी कल्पना में न आया हुआ जीवन-रहस्य मुझ पर प्रकट हो रहा था। मैं नारी धर्म समझ रही थी। नारी जीवन व्यतीत कर रही थी। मेरा नारी शरीर उसी एक मास में धन्य हो गया था। मैं उस समय में—एक साथ ही सच्चे अर्थों में माता, कुलवधू और सभ्य-शिष्ट परिवार की कन्या बन गई थी।

मेरे जीवन की वह अस्वाभाविक असाधारणता खत्म हो चुकी थी और अब मैं नारी बन गई थी।

पर हाय रे गोली की योनि ! अभी तो मुझे वास्तविक गोली जीवन के अवशेष अध्याय पूरे करने थे। मैं गोली मा की कोख में जन्मी हूँ तो क्या कुल-कन्या या कुल-वधू होने के लिए ? इसी जन्म में रौरव नर्क का भोग न किया तो गोली कैसी ? म अभागिनी अपने उस निर्वासित, उपेक्षित, किन्तु गौरव पूर्ण नए जीवन का सुख अभी पूरे एक मास भी न भोग पाई थी कि उसका अन्त आ गया।

एक दिन सवेरे-ही-सवेरे रथ मुझे डचोढ़ियों में ले जाने के लिए आ गया। डचोढ़ी की चर्चा तो मैं आप से कर चुकी हूँ। वहाँ की बड़ी-बड़ी रोमाँचकारी घटनाएं मेरे रंगमहल में रहते घटी थीं। उसकी काली मनहूस दीवारों की छाया में से भी मैं सदा दूर ही रहती थी, यद्यपि वह रंगमहल का ही एक भाग था, पर रहस्यपूर्ण और अगम था। प्रसिद्ध था कि जो स्त्री एक बार उस काल-मुख में प्रविष्ट होती थी वह फिर जीते जी बाहर नहीं निकल सकती थी। यद्यपि उस स्त्री-नर्क का यमराज लालची खवास इस समय जेल काट रहा था, पर उसके यमदूतों का वहाँ अखण्ड राज्य था।

मुझे डचोढ़ियों में ले जाने के लिए रथ आया है, यह सुन कर हो मेरे शरीर के रक्त की गति रुक गई और मैं जैसे मूर्च्छित हो गई। अब मैं अपनी मूर्खता पर अछताने-पछताने लगी। क्यों मैं रियासत में लौट आई ? मैं अंग्रेजी राज मे खुशी से बस सकती थी—बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली कहीं भी। मैं ने अपनी मूर्खता या मूढ़तावश उस षड्यन्त्र के मुकदमे में राजा का बचाव करके ए. जी. जी. को नाराज कर दिया था। क्या ही अच्छा होता, यदि मैं उन की शरणापन्न हो जाती और उनकी सुरक्षा में इस गुलामी के जीवन से मुक्ति पा लेती। परन्तु मैं अभागिन करती भी क्या ? किसुन का और बच्चों का मोह मुझे यहाँ खींच लाया था और अब मैं काल-सर्प की कुण्डली में फंस चुकी थी।

मेरा क्या होने वाला था, यह मैं ठीक-ठीक नहीं जानती थी, पर मेरे बुरे दिन आए हैं, यह तो मै समझ ही चुकी थी।

संक्षेप में, बहुत रोना-धोना हुआ। वासुदेव महाराज ने बहुत गर्जन-तर्जन किया। मैं ने माजी की बहुत दुहाई दी, परन्तु सब बेकार। माजी ने चाहा कि वह एक बार रंगमहल जा कर राजमाता से कह कर मेरे लिए वहीं उन के साथ रहने की अनुमति ले आएं। वासुदेव महाराज ने बहुत-बहुत कहा-सुनी की कि वह महाराजाधिराज से मुलाकात कर आएं, तब तक ठहरा जाए, पर किसी की कुछ नहीं चली। किसी को घर मे बाहर कदम रखने की आज्ञा नहीं मिली। हथियारबन्द सिपाहियों ने घर घेर लिया था। एक अपरिचित गोला दारोगा उन की सरदारी कर रहा था। वह सूअर की भाँति काला, कुरूप और भैंसे के समान मोटा ताजा था। उसका घृणित चेहरा चेचक के दागों मे और भी भयानक हो गया था। उसकी एक आँख में बड़ा-सा फूला था। उस के पीले और बड़े-बडे दाँत बड़े ही कुत्सित थे। उस की वाणी फटे बाँस के समान थी। वह हाथों में मोटे-मोटे चाँदी के कड़े पहने था और सिर पर पीली पगड़ी बाँधे था। कपड़े-लत्ते उसके साफ-सुथरे थे और वह एक अच्छे घोड़े पर सवार था। वह घर में भीतर घुस आया था और बारम्बार गरज-गरज कर कह रहा था—"उस गुलमरी गोली को अभी हमारे हवाले करो, वरना सब को बाँध ले चलूंगा। अन्नदाता का हुक्म है। जल्दी से बाहर निकालो, देर मत करो।" मुहल्ले के बहुत से नर-नारी एकत्र हो रहे थे। मैं भय से पीली पड़ गई थी और पीपल के पत्ते की भाँति काँप रही थी तथा अपने बच्चे को छाती से लगा कर करुणाभरी दृष्टि से कभी उस नए यमदूत की ओर और कभी वासुदेव महाराज की ओर ताक रही थी। वासुदेव महाराज बफरे हुए शेर की भाँति फूं-फाँ करते, दहाड़ते, हकला-हकला कर उस गोले अफसर को गाली-गुफ्ता देते घर भर में चक्कर लगा रहे थे। वह गुलमरा भी मुंह-दर-मुंह उन्हें गालियाँ दे रहा था। अजब अंधेर था। अन्नदाता का हुक्म था। उस की कहीं दाद-फरियाद न थी।

अंग्रेज सरकार से राजा-रजवाड़ों की ऐसी ही सन्धि थी, वे राजाओं के भीतरी शासन में दखल नहीं देते थे। ऐसे-ऐसे छोटे-मोटे अत्याचार भी शासन के ही अन्तर्गत थे। ये तो रियासतों की नित्य की घटनाएं थीं। इन में सिरदर्द मोल लेने की भला अंग्रेजी सरकार को क्या जरूरत थी। राजा लोग उन के कोल्हू के बैल थे। उन के साम्राज्य के स्तम्भ थे। उन्हें बनाए रखना उन के साम्राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक था। वास्तव में ये राजा ब्रिटिश राज्य के पीले सोने के खम्भे थे। इन पर आँच न आने देना और इन्हें कायम रखना उनकी नीति थी। फिर ऐसे ऐसे छोटे-मोटे घरेलू झमेलों का पता ही उन्हें कहाँ लग सकता था। रियाया में विद्रोह करने का दम न था। गली में सैकड़ों आदमी जमा थे। एक औरत बिना मर्जी के जबर्दस्ती ले जाई जा रही थी, पर इसका विरोध करने की शक्ति किसी में न थी। अकेले वासुदेव महाराज ही उससे जूझ रहे थे।

अन्त में बात बहुत बढ़ गई। वासुदेव महाराज तलवार सूत कर पैंतरा बदल कर मेरे आगे आ खड़े हुए। उन्हों ने कहा—"अबे गुलाम, आ तेरा सिर मैं अभी धड़ से जुदा करता हूँ।" उधर उस गोले ने सिपाहियों को ललकारा—"देखते क्या हो, बाँध लो इस बाम्हन को। घर की सब औरतों को भी बाँध लो। इन पर राज-विद्रोह का मुकदमा चलेगा। हंसी खेल नहीं है। अन्नदाता का हुक्म है।

एक क्षण में ही कुछ घटना होने वाली थी कि अन्ततः मैं ने साहस किया। अपने भाग्य पर मैं ने हाथ की। वासुदेव महाराज के हाथ से तलवार ले कर म्यान में की और चादर बदन से लपेट अपने बच्चे को और भी छाती के निकट खींच मैंने कहा, "चल निर्दयी, मैं चलती हूँ।" मैं ने माताजी और गृहणी के पैरों में सिर रखा। वासुदेव महाराज के चरण छुए और चल दी रथ में बैठ कर—चौधारे आँसू बहाती हुई, रौरव नर्क में प्रविष्ट होने के लिए, अपने जन्म-जन्म के कर्मों का लेखा-जोखा भुगतने के लिए, अथवा अपने गोली के जीवन को पूरा करने के लिए।

: ४८ :

# ड्योढ़ियों का नारकीय रूप

ड्योढ़ियों के विषय में ब्योरेवार सब बातें जानने के लिए आप अवश्य उत्सुक होंगे। बहुत बार प्रसंग आने पर मैं ने उस की चर्चा की है, पर मैं ने भी सुनी-सुनाई बातें कही थीं। कभी स्वयं तो मैं वहाँ गई ही न थी। परन्तु अब सुन लीजिए और देख भी लीजिए, इस प्रत्यक्ष रौरव नर्क को, या कुम्भीपाक नर्क को। अब तो मैं यहाँ आ ही गई थी, सब कुछ देख रही थी, भुगत रही थी। मेरे-जैसे प्रत्यक्ष-दृष्टा और भुक्त-भोगी और कौन आप को दूसरा मिलेगा, राजस्थान के राजा-महाराजाओं की विलास वासना की इस कुत्सा का चश्मदीद गवाह।

ड्योढ़ियों का यह रौरवावास रंगमहल के बिलकुल पिछवाड़े भाग में है। त्रिपोलिया द्वार से तनिक आगे बढ़ कर बाईं ओर जो मार्ग रंगमहल के पीछे की ओर गया है, उसी के छोर पर एक पतली गली है, जिस में कठिनाई से एक वाहन जा सकता है। गली के दोनों ओर ऊँची-ऊँची दीवारें हैं। एक ओर रंगमहल के पिछवाड़े की और दूसरी ओर नगर के प्रधान बाजार के पिछवाड़े की। दीवारों में एक भी मोखा-सूराख, खिड़की, झरोखा कहीं नहीं है। ड्योढ़ियों के फाटक पर जा कर यह गली समाप्त हो जाती है। गली में सदैव सन्नाटा रहता है, क्यों

कि यह आम रास्ता नहीं है, केवल ड्योढ़ियों का एकमात्र रास्ता है, जिस पर कोई भी व्यक्ति जाता-आता नहीं। ड्योढ़ियों में किसी स्त्री-पुरुष, नौकर-चाकर को आने-जाने की आज्ञा नहीं है। केवल लालजी खवास ही वहाँ अकेला आ-जा सकता था। वह अब जेल में था और उस की जगह यह जालिम वहाँ का दारोगा तैनात हुआ था।

ड्योढ़ी में घुसते ही एक बिलकुल अंधेरा कमरा आता है, जिस में सम्मुख ही हनुमानजी की एक डरावनी विशाल मूर्ति है, जिसे सब लोग बालाजी कहते हैं। यही ड्योढ़ियों में रहने वाली अभागिन स्त्रियों के इष्टदेव हैं। हर मंगलवार को वहाँ ड्योढ़ी की प्रत्येक स्त्री जा कर प्रसाद दे-ले सकती है। उसी दिन पुजारी भी वहाँ आता है। इसी कमरे के एक छोर पर एक द्वार है, जहाँ कोई तीन फुट चौड़ा एक गलियारा दूर तक चला जाता है। गलियारे में घुप अंधकार रहता है। बिना मशाल या लालटेन लिए वहाँ चलना असम्भव है। गलियारे की छत कहीं-कहीं सिर को छू जाती है। गलियारे के दोनों ओर पत्थर की दीवारें हैं, जिन में कहीं कोई मोखा-खिड़की नहीं है। उस के छोर पर एक फाटक है। फाटक के बाहर एक खुला चौक है, जिस के चारों ओर छोटी-छोटी कोठियाँ बनी हैं। कोठरियाँ प्रायः दस-बारह फुट लम्बी-चौड़ी हैं। आप समझते होंगे, यह रंगमहल है; इस में महाराजाधिराज की रखेलिनें रहती हैं; इस में बड़े ठाठ-बाट, साज-शृङ्गार के समान होंगे; फर्नीचर होगा, बिजली का प्रकाश होगा; अन्य विलास के साधन होंगे। परन्तु इन बातों का तो वहाँ नामोनिशान भी नहीं है। कोठरियों में दरवाजे या किवाड़ नहीं हैं। कोई स्त्री भीतर से किवाड़ बन्द कर के एकान्त में नहीं रह सकती। इस सम्बन्ध में ड्योढ़ियों में कठोर शासन है। कोठरियों में कोई फर्नीचर मेज-कुर्सी भी नहीं है। चारपाइयाँ भी नहीं हैं। प्रत्येक स्त्री को भूमि पर पथारी बिछा कर सोना होता है। उसे खाना पकाने-खाने के बर्तन पीतल के मिलते हैं। प्रत्येक को पाँच बर्तन उस के प्रवेश-काल में दिए जाते हैं। उन्हीं में उस का खाना-पीना,

रसोई सब चलता है। ड्योढ़ियों के कोठार से सब को पेटिया मिलता है। पेटिए का मतलब—पेट के गढ़े को भरने के लिए आटा, दाल, चावल, तरकारी, नमक, मिरच, गुड़ और लकड़ी। सब चीजों की बंधी मात्रा है। प्रायः सभी जिन्स घटिया और निकम्मी होती है। बहुतों के लिए नाकाफी होती है। पेटिया एक ही समय मिलता है। उसी को दोनों समय पकाना-खाना पड़ता है। प्रत्येक स्त्री को अपना खाना पृथक पकाना पड़ता है। कोई-कोई मिल-जुल कर भी बना लेती हैं। नाम के लिए घी भी मिलता है, जिस से दाल-भात में बंघार दिया जा सके।

पथारी में नारियल का एक गद्दा एक कम्बल, दो चादरें, एक तकिया हर औरत को आते ही मिलता है। जो अपना बिस्तरा लाती हैं, वे उसी का प्रयोग कर सकती हैं। साल में दो साधारण सफेद सूती धोतियाँ और दो जम्पर मिलते हैं। महीने में एक बट्टी नहाने और एक बट्टी कपड़े धोने का साबुन। एक टीन का बक्स अपनी इस सारी सम्पत्ति की रखने के लिए। स्त्रियाँ खुले नल पर नंगी हो कर नहातीं, वस्त्रों में साबुन लगातीं, लड़ती-झगड़ती गाली-गलौज करती हैं। इन सब रौरवीय दृष्यों की द्रष्टा वे ही हैं। मर्द का बच्चा वहाँ नही जा पाता है—केवल खवास को छोड़ कर। खवास जब जाता था, एक चमड़े की चाबुक उस के हाथ में रहती थी, जिस का वह साधारण कारणों से भी प्रयोग कर बैठता था। किसी भी स्त्री को मार बैठना ऐसी बात थी कि उस ओर किसी का ध्यान ही न जाता था। खवास के आते ही प्रायः बहुत-सी औरतें अपनी-अपनी आवश्यकताएँ बताने को उसे घेर लेतीं। तब अपनी जान छुड़ाने और उन्हें चुप कराने का उपाय उस के पास वही चाबुक थी। अब यही काम यह नया दारोगा करता है। अन्तर इतना ही है कि खवास केवल निर्दयी पुरुष था और यह क्रूर पशु है।

ऐसा ही वह रौरव नर्क था, जो महाराजाधिराज के रनवास का एक अंग था। सच्चे अर्थों में इसे रनवास ही कहा जा सकता है, क्यों

कि इस की सृष्टि महाराजाधिराज की विलास-वासना की पूर्ति के लिए ही की गई थी।

इस की सृष्टि अब से कोई पैंतीस साल पहले इसी खवास ने की थी। तब महाराजाधिराज का गद्दी पर चरणारोहण हुआ ही था। यह खवास महाराज का खास सेवक था। इसी सेवा के बदले वह राज्य का एक खास पुरुष हो गया था और अब वह करोड़ों की सम्पदा का स्वामी था। यद्यपि इस समय वह रियासत की जेल में था, पर जीवन के सभी ऐश्वर्य उसे वहां भी प्राप्त थे, यह बात मैं सुन चुकी थी।

रंगमहल का यह भाग वास्तव में बाँदियों और दासियों के लिए बनाया गया था। इस समय यह बिल्कुल बर्बाद, बेमरम्मत और खण्डहर के रूप में पड़ा था। उस के सुधार की ओर किसी का ध्यान ही न था। मजे की बात यह थी, यद्यपि इस ड्योढ़ी के अस्तित्व को तो रियासत का बच्चा-बच्चा जानता था, परन्तु उस का भीतरी भाग क्या है, इस को कोई नहीं जानता था। बाहरी लोग तो ड्योढ़ियों का मतलब जनाना महल ही समझते थे।

जिस प्रकार यहाँ पानी का प्रबन्ध यथेष्ट न था, उसी भाँति रोशनी का भी कुछ प्रबन्ध न था। औरतें लालटेन जलाती थीं। कुछ की काठरियों में मिट्टी के तेल की ढिबरियां जलती थीं। पर बहुतों के यहाँ तो सूर्य छिपने के बाद घोर अन्धकार ही रहता था।

कुछ भलीमानस पढ़ी-लिखी और सच्चरित्रा स्त्रियाँ भी यहाँ थीं, जो भाग्य-दोष से यहाँ आ गई थीं। वे पूजा-पाठ भी करतीं, पढ़ती-लिखती भी थीं। पर यह संख्या दो-चार से अधिक न थी। फिर भी उन का धैर्य सराहनीय था। वे एक निरीह विधवा की भाँति या कहिए भिक्षुणियों की भाँति अपना काल-यापन करती थीं।

: ४६ :

# ड्योढ़ी की काल-कोठरी में

वह नर-पशु मुझे सहन में छोड़ गया। जाते समय कह गया कि अपने लिए कोई एक कोठरी ठीक कर ले। अपने बच्चे को छाती से लगाए मैं बड़ी देर तक सहन में खड़ी इन नर्क के नर-कीटाणुओं को देखती रही। मैं समझ ही न रही थी कि अब मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ। धीरे-धीरे मैं आगे बढ़ी। बहुतों ने मुझे देख कर व्यंग्य किया। बहुतों ने घृणा से मुंह बिचका कर कहा—"यह कोई नई डाइन आई है।" बहुतों ने आँख उठा कर मेरी ओर देखा तक नहीं। एक बार उस दालान में चक्कर मार कर मैं टूटी-फूटी सीढ़ियों से उपर चढ़ गई। वहाँ दो-चार कोठरियाँ खाली थीं। सब खराब, खस्ता हालत में। उन में से एक को अपेक्षाकृत साफ-सुथरी समझ मैं ने उसी में रहने की ठान ली। भूमि पर अपना ओढ़ना बिछा कर मैं ने बच्चे को सुला दिया। अब यहाँ लाज-शर्म किस की और कैसी ? झिझकती हुई बगल की कोठरी में रहने वाली से मैं ने झाड़ू माँगी। उस ने दुतकार कर कहा—"दुर, झाड़ू क्या तेरा खसम रख गया है ? कल ही तो एक चुड़ैल इस कोठरी में मरी है। अब तू आ मरी।"

मेरा तो सिर घूम गया। उस की गालियाँ तो जैसे मैं ने सुनी ही

नहीं। मैं ने केवल यही सुना कि इस कोठरी में कल ही कोई औरत मर चुकी है। मैं ने झपट कर अपने बच्चे को उठा कर छाती से लगा लिया और वहाँ से हट कर छत के दूसरे छोर पर एक टूटी हुई कोठरी के द्वार पर बैठ कर रोने लगी। बच्चा मेरा छाती से लगा सो रहा था।

दीवारों के उस पार ही तो वे सब वैभव थे, जो इक्कीस वर्ष तक मैं ने भोगे थे। आज अपने जन्म-जन्म के पाप को भोगने मैं इस रौरव-नरक में आ पड़ी थी।

मैं रोती रही, रोती रही, रोती रही। अकेली असहाय। कोई वहाँ सांत्वना देने वाला न था। सूरज चढ़ चला था। धूप फैल गई थी। मैं भूखी-प्यासी वहीं बैठी थी। रोते-रोते थक गई। आँसू बह कर सूख गए। विचारों की, कल्पनाओं की, स्मृतियों की भावना थक कर तिरोहित हो गई। मैं अब एक मूढ़ जीव की भाँति वहाँ जड़ बनी बैठी थी। चैतन्य मुझ में केवल इतना ही था कि मैं यह जान-समझ रही थी कि मेरा बच्चा मेरी छाती से लगा सो रहा है। कभी-कभी मैं उस के भोले-भाले चाँद-से मुखड़े को देख लेती थी।

वह नर-पशु गोला फिर आया। इस बार उस के साथ दो चुड़ैलें और थीं। गन्दी-सी औरतें, जिन के चेहरों पर मनहूसियत टपक रही थीं। मेरे लिए बर्तन और आवश्यक सामान वे लाए थे। आते ही उस ने कर्कश स्वर में कहा--"अभी तक तू ने अपने लिए कोठरी ठीक नहीं की? ऐसे ही बैठी है? बच्चा इन्हें दे दे और उस कोठरी में चली जा।"

मैं ने जोर से बच्चे को छाती से लगा लिया और चीख कर कहा—"बच्चा नहीं दूगी, नहीं दूगी।"

"नहीं देगी? तो ले।" सपाक से चाबुक मेरी पीठ पर पड़ी। कैसे आश्चर्य की बात है। मुझे तनिक दर्द नहीं हुआ। केवल ऐसा लगा, जैसे दोचार चिउंटियों ने काटा हो। मैं ने फिर उसी भाँति चीख कर कहा—"मार डाल, पर बच्चा नहीं दूंगी।" उस ने लात मार कर धरती पर गिरा दिया। खींच कर बच्चा मेरी गोद से उठा लिया। बच्चे को

उन औरतों के सुपुर्द कर के कहा—"ले जाओ इस पिल्ले को।" इस के बाद मेरी छाती पर लात रख कर कहा—"अभी मर कर क्या करेगी राँड़; अभी तो जवान है। जा, उस कोठरी को ठीक कर ले। मुझ से झंझट न करना। इसी में खैरियत है।"

मैं फटी-फटी आँखों से उसे देखने लगी। बोलना चाह कर भी बोल न सकी। मेरी जीभ तालू से सट गई। वह भारी-भारी कदम रखता हुआ चल दिया। मैं विक्षिप्त-सी 'मेरा बच्चा, मेरा बच्चा' कहती उस के पीछे दौड़ी, तो घूम कर उस ने सपाक से एक चाबुक और धर दी। मैं मुँह के बल गिर कर बेहोश हो गई। मेरे दो दाँत टूट गए और मेरा मुँह खून से भर गया।

: ५० :

# विपदा की चरम सीमा

बहुत देर बाद मुझे होश आया। एक वृद्धा स्त्री मेरे ऊपर झुकी मेरे मुँह में पानी डाल रही थी। होश में आने पर मैं ने सुना, वह पूछ रही थी—"कौन हो ? कहाँ से इस नरकधाम में आ फंसीं ?"

अफसोस कि मेरी आँखों के सब आँसू सूख चुके थे और मेरी वाणी भी जड़ हो चुकी थी। उस ने सहारा दे कर मुझे उठाया। अपनी कोठरी में ले जा कर अपनी पथारी में सुलाया। थोड़ा और पानी पी कर मेरा जी तनिक हलका हुआ। मैं ने कहा—भाग्यवती हूँ मा, जो यहाँ नरक की आग में जलने आ कर तुम्हारी गोद पा गई।"

"तो तू कोई भले घर की बहू-बेटी मालूम पड़ती है। चिन्ता न कर, बेटी ! सब्र से काम ले। पत्थर पर सिर टकराने से अपना ही सिर फटता है। चाहे जितना रो, यहाँ कोई सुनने वाला नहीं है।" उस ने एक बासी रोटी और एक प्याज का गण्ठा मुझे दे कर कहा—"खा ले, बेटी ! खाती रह और भुगतती रह। आज तीस बरस से इस नरकधाम में मैं यही करती आ रही हूँ।'

भूख से मेरी सब आँतें निकली पड़ रही थीं। वह बासी रोटी मुझे मोहनभोग-सी लगी। उसे खा कर मैं ने एक लोटा ठण्डा पानी पिया।

खाने-पीने से मेरा दिल ठहरा। अब मैं सोचने लगी कि क्या करूँ।

पर सोचने-विचारने-जैसी तो वहाँ कोई बात थी ही नहीं। वह वृद्धा मेरे लिए जैसे एक दैवी वरदान थी। उस की सहायता से मैं ने पास की एक कोठरी को साफ किया और उस में अपनी पथारी बिछा कर मैं उस पर पड़ गई। अब मैं अपने बच्चे के ध्यान में डूबी थी। वह दुष्ट हत्यारा क्या मेरे लाल को ले जा कर मार डालेगा? हाय, कहाँ हैं मेरे बच्चे? कहाँ है मेरा पति? क्या इन सब को मेरी आज की यह दुर्दशा ज्ञात है? क्या वे सब जीते-जागते दुनिया में हैं? क्या यह भी सम्भव है कि फिर कभी उन से मुलाकात हो? क्या जीते-जी इस नरकधाम से मेरा छुटकारा हो सकेगा? अरे, वह पापात्मा राजा मेरे समूचे आत्मदान को भूल गया? उसे मैं ने शरीर दिया, कौमार्य दिया, धर्म दिया, कर्म दिया। एकनिष्ठ इक्कीस वर्ष उस की सेवा की, आज उस ने मुझे इस प्रकार भुला दिया? भुला दिया क्यों कहूँ? यह तो बहुत छोटा-सा अपराध है। उस ने तो मेरी हत्या का षड्यन्त्र किया। क्यों भला? मैं उस का क्या लेती थी? उस का क्या बिगाड़ती थी? मुझ से उसे भय क्या था? मैं एक निरीह नारी, गोली-गुलाम, तन-मन से उसी की अनुगत दासी। भला उसे कब कहाँ हानि पहुँचा सकती थी? उस ने क्या मुझ से पिण्ड छुड़ाने के लिए ही यह किया था? वह मुझे मेरे पति को सौंप सकता था। मैं तो अपने पति और सन्तान के साथ, राजधानी में या राज्य के बाहर, कहीं भी रह सकती थी। रह कर मुझे खुशी ही होती। अब यहाँ इस नरक में उस ने मुझे किस अभिप्राय से डाला है? इस से तो विष-पान से वहीं आबू की सुरम्य घाटियों में मेरी मृत्यु हो जाती, यही अच्छा था। हाय, आज ही का दिन देखने को मैं ने अपने प्राण बचाए थे? हाय रे प्राणों के मोह? किसी कवि ने कहा है—जिस के अंग-अंग घावों से भरे हैं, उन घावों में कीड़े पड़ गए हैं, खाज से जिस की खाल गल-सड़ गई है, जिस की पूँछ भी गल कर कट गई है, वह कुत्ता भी मरने से अपने प्राणों को बचा कर भागता है। ऐसा ही प्राणों का मोह होता है। नहीं तो

क्या मैं अपने इस गुलाम शरीर को, जो वास्तव में पाप की गठरी मात्र है, बचाने की चेष्टा करती ?

यही सब म सोचते-सोचते सो गई। वृद्धा ने मुझे एक-दो बार जगाया भी। पर मैं नींद में नहीं, कुछ बदहवासी में, नशें में थी। वह नशा शराब का नहीं, भंग का नहीं, विपत्ति का था। उस विपत्ति का, जो पहाड़ से भी अधिक भारी थी और जिस ने मेरे सम्पूर्ण तन-मन का, धैर्य को चकनाचूर कर दिया था।

उस दिन मैं दिन-भर सोती रही। रात-भर भी सोती रही। सुबह मेरी आँख खुली तो सूरज उग आया था और वह मनहूस अशुभ प्रभात मेरा उपहास कर रहा था। मेरा शरीर बहुत गंदा हो गया था। धोती, जो मैं ने पहन रखी थी, वह बहुत मैली थी। वासुदेव महाराज के घर से मै न अपना बिस्तर लाई थी, न कपड़े-लत्ते, न कोई दूसरा सामान। जैसी बैठी थी, वैसी ही चली आई थी। मेरी वह सब रकम भी वहीं रह गई थी, जो मेरे बक्स में थी।

अब मुझे इस बात का ध्यान आया कि मेरी इन सब चीजों का क्या होगा ? क्या ये मुझे मिल जाएंगी ? पर यहाँ उन सब का प्रयोजन भी क्या हो सकता है ? मुझे अपनी सम्पत्ति का भी ध्यान आया। मेरा रुपया रियासत के तथा दिल्ली और बम्बई के बैंकों में जमा था। कई कम्पनियों के शेयर थे। गनीमत यह थी कि वह सब किसुन के हाथ में था। यदि वह जीवित है, स्वतन्त्र है, तो अवश्य ही उस ने इस मेरी सम्पत्ति की रक्षा की होगी। भलाई इसी में है कि मैं जिस हाल में हूँ, उसी में रहूँ। अपनी सम्पत्ति की चर्चा किसी से न करूँ और सन्तोष तथा धैर्य से देखूँ कि भाग्य अब मेरे साथ कौन-सा खेल खेलता है।

कैसे आश्चर्य की बात है कि मैं यहाँ भी खाने-पीने, सोने और सब काम दूसरी औरतों की भाँति करने लगी। उन पीतल के बर्तनों को मैं राख से साफ करती, नल पर जा कर धोती। वहीं नहाती, कपड़े धोती। यद्यपि बच कर चलती थी, तब भी बहुधा औरतों की गालियां खाती।

कभी-कभी धक्कम-धक्का और मार-पीट भी करती। सब के साथ जा कर पेटिया लाती। यह सब काम मैं करती थी और रोती थी। जब मैं राख-भरे हाथों से बर्तन मल कर घण्टों नल पर अपनी बारी आने की प्रतीक्षा में खड़ी रहती, तब मेरी आँखों से चौधारा आँसू बहने लगते, पर उन से न मेरे मैले हाथ धुलते, न कलेजे की आग बुझती। आँसू आप ही सूख जाते थे प्रातः औरतें मेरे ऊपर ताने मारतीं—"जब देखो, तभी रोती रहती है ऐसे ही था तो यहाँ आई ही क्यों थी ?"

धीरे-धीरे मैं सब सह गई। वासुदेव महाराज के घर का एक महीने का सुवास यहाँ मेरे बहुत काम आया और मैं सन्तोष की गठरी बाँध शांत चित्त से यहाँ का जीवन व्यतीत करने नगी। वह वृद्धा इस अवस्थ में मेरी बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

एक सप्ताह बीत गया कि वही नर-पशु फिर आया। एक घटिय

किस्म की चटक रंग की साड़ी उसके हाथ में थी। उसे मेरे ऊपर फेंक कर हंसते-हंसते उसने कहा—इसे पहन ले और मेरे साथ चल।"

पर मैं टस से मस न हुई। जड़ बनी वहीं बैठी रही। यह देखकर क्रुद्ध हो कर उसने चाबुक उठा कर कहा—"कहता हूँ उठ, सो सुनती ही नहीं है तू !"

वृद्धा ने कहा—उस जानवर के मुँह लगने से क्या फायदा बेटी ! जो कहता है वही कर।"मैं ने जैसे-तैसे वह बेहूदा साड़ी अपने शरीर पर लपेट ली और उसके पीछे चल दी। उसी अंधेरी गलियारी-गली को पार कर वह उस के दूसरे छोर पर एक कोठरी में आया। यहाँ दो तीन औरतें और थीं। यहाँ भी काफी अंधेरा था। कमरे में बहुत से बर्तन, कपड़े और फालतू सामान इधर-उधर पड़ा था। कपड़ों की बहुत-सी गठरियाँ भी थीं। कोठरी में मुझे ले जा कर उस ने उन औरतों को बाहर खदेड़ दिया। फिर मेरी ओर कुछ अजीब दृष्टि से देखते हुए अत्यन्त स्निग्ध वाणी में कहा—'देख चम्पा, तेरी हालत पर मुझे तरस आता है। तू जानती है कि अन्नदाता अब तेरी ओर फूटी आँखों भी नहीं देखेंगे। वह तो अपनी नई रानी के साथ मौज-मजा करते हैं। मेरा मन तुझ पर है, तू मुझ से ब्याह कर ले।"

मैं ने आँखें तरेर कर उस की ओर देखा, और सख्त जवाब से कहा "मेरा ब्याह हो चुका है।"

मेरी बात सुन कर वह 'हो-हो' कर के हंसने लगा। उस ने अपने फटे-बाँस के-से स्वर में कहा—"अच्छा-अच्छा, उस किसना गुलाम की बात करती है। वह तो गया जहन्नुम में। उस की आस छोड़ दे।"

"क्या मतलब है ?"

"अरे अन्नदाता ने उस का ब्याह एक गोली छोकरी से करना चाहा था, लेकिन वह माना ही नहीं। और तुम लोगों ने चोरी-चकारी से जो सरकारी रकम उड़ा कर जमा-जत्था जोड़ा है, सो वह बताता ही नहीं। बड़े ही कलेजे का आदमी है। मारते-मारते मैं ने खाल उधेड़ दी,

पर उस ने कुछ बताया थोड़े ही। अन्त में अन्नदाता ने उसे जेल में भेज दिया।"

"तू बकता है।"

"तेरे सिर की कसम, चम्पा! मेरी बात मान ले। मुझ से ब्याह कर ले। बस, तेरा बेड़ा पार। पर सब रकम जमा-पूंजी मेरे नाम तुझे करनी पड़ेगी। बता कितना रुपया बैंक में है? वह गुलमटा तो कुछ बताता ही नहीं।"

"तो तेरा उस से क्या सरोकार है? मैं भी नहीं बताने की।"

"और ब्याह?"

"वाह, क्या हौसला है!"

"मैं ने अन्नदाता की मर्जी ले ली है।"

"इस से क्या होता है। मेरी मर्जी नहीं है।"

"तू क्या अन्नदाता की मर्जी के खिलाफ चलेगी?"

"अन्नदाता से कह दे कि वह मुझे कोल्हू में पेल दें।"

"उन से कहने की क्या जरूरत है, यह काम तो मैं ही कर लूंगा। पर मैं तो तुझे प्यार करता हूँ।"

"और मैं तेरे मुंह पर थूकती हूँ। चोट्टा कहीं का!"

"ऐसी बात?" उस ने हाथ की चाबुक फेंक दी और वह भेड़िए की तरह मुझ पर टूट पड़ा। एक बार तो मैं ने उसे धकेल दिया। उस का सिर दीवार में जा टकराया और उस में से खून बहने लगा। पर इस की उस ने परवाह न की। वह फिर मुझ पर झपटा। मुझे उस ने भूमि पर गिरा दिया, फिर मुझे उठा-उठा कर दो-तीन बार पटका। वे दोनों स्त्रियाँ भी उस की सहायता को आ गईं। उन्हों ने मेरे हाथ-पैर जकड़ लिए। अब तीन-तीन राक्षस मेरे साथ जूझ रहे थे। उस का सारा मुंह खून से भर रहा था। खून उस के ऊपर से बह रहा था। मैं ने अवसर पा कर उसे दाँतों से खूब जोर से काट लिया। इस के बाद तिलमिला

कर उस ने मेरा सिर पत्थर के फर्श पर पटक दिया। मेरा सिर फट गया और खून की धार बह निकली। धीरे-धीरे मैं बेहोश हो गई।

होश में आने पर मै ने अपने को अपनी कोठरी में अपनी पथारी पर पड़ा देखा। मेरे अंग से खून बह रहा था और मेरी पथारी खून से तर थी। मेरे सिर पर पट्टी बंधी थी और दर्द से मै मरी जा रही थी। मेरे प्रत्येक अंग की जैसे जान निकल गई थी और मैं बड़ी देर तक हाथ-पैर न हिला सकी। वही वृद्धा मेरे सिहराने बैठी बूंद-बूंद पानी मेरे सिर पर डाल कर मेरी पट्टी तर कर रही थी। मुझ अभागिनी के लिए वही वृद्धा देवदूत थी और ठण्डे पानी की वे बूंदें औषध। उस नरकावास मे दूसरा उपचार ही क्या था ? मेरी लाज लुट चुकी थी। लेकिन ठहरिए, मैं कैसी बात कह गई। मुझ-जैसी गुलाम गोलियों के पास लाज नाम की वस्तु होती ही कहाँ है ?

बड़ी मख्त जान हूँ। इस बार भी मैं मरी नहीं और धीरे-धीरे इस नारकीय जीवन की भी अभ्यस्त हो गई। वहाँ रहने वाली सभी स्त्रियों की भाँति मैं भी रहने लगी। पर मेरा स्वास्थ्य बिलकुल टूट चुका था। मेरा रूप-सौन्दर्य विदा हो गया था। मेरे आगे के दोनों दाँत टूट गए थे और मै अब बुढ़िया हो चली थी। पुरानी आदतें फिर भी विद्रोह करती थीं और मै वहाँ से मुक्त होने के लिए बहुत-बहुत छटपटाती थी, पर धीरज रखना मै ने सीख लिया था।

अब मै अपने जीवन से निराश हो कर एक मशीन की भाँति जी रही थी। मेरे जीवन में कोई रस न था, कोई आशा न थी, कोई सुख-स्वप्न न था, कोई मधुर भावना न थी। आस-पास की औरतों से लड़ाई-झगड़ा होने पर मै भी गालियाँ बकने लगी थी। मार-पीट पर भी आमादा हो जाती थी। संक्षेप में मेरा रहा-सहा मनुष्यत्व भी समाप्त हो गया था और मै अब न केवल पशु की भाँति, बल्कि कीड़े-मकौड़े की भाँति अपने जीवन की शेष घड़ियाँ पूरी कर रही थी। अब तो मैं अपने जीवन के दिनों को धक्के दे रही थी। चाहती थी कि किसी तरह कोई

विष या हथियार मिल जाए तो जीवन का अन्त कर दूं। मुझे अब न अपने पति से, न बच्चों से मिलने की कुछ आशा रही थी। मैं यह भी नहीं जानती थी कि मेरी सम्पत्ति रही या लुट चुकी। अब तो मैं केवल मौत को ही गले से लगाने की इच्छुक थी। वह मौत, जिस से दुनिया के सभी प्राणी भय खाते हैं, आज मेरे लिए सुखद संदेश लाने का माध्यम बन गई थी। मैं कभी-कभी मौत को चिल्ला-चिल्ला कर पुकारती थी, पर अफसोस वह भी अब मेरे पास न फटकती थी।

: ५१ :

## नव प्रभात

इस तरह तीन साल बीत गए। एक दिन अचानक मैं ने सुना—अन्नदाता मर गए। सुन कर मेरा शरीर सुन्न हो गया। जैसे एक बिजली का धक्का मुझे लगा हो। ड्योढ़ियों में सर्वत्र ही हलचल मच गई। बाहर क्या हो रहा है, यह मैं नहीं जानती थी। पर मैं केवल यही सोच रही थी कि अब हमारे इस नरकावास का क्या होगा।

मैं ने ये तीन साल यों ही नहीं बिताए थे। कुछ अच्छी समझदार स्त्रियों को ले कर अपना एक दल बनाया था। मैं उस दल की मुखिया थी। हम प्रत्येक अत्याचार का डट कर मुकाबला करती थीं। एक-दो बार हम ने उस नर-पशु को पीटा भी। एक बार तो हम ने भी उसे धरती पर पटक कर उस के सारे कपड़े-लत्ते तार-तार कर के भगा दिया था। अब वह भी हम लोगों से डरने लगा था। प्रायः चरित्रहीन लोग कायर होते हैं। वह भी पूरा कायर था। बहुत बार हम ने दल बांध यहाँ से बाहर भाग निकलने के इरादे किए थे। मेरा खयाल था कि हम यदि किसी तरह ए. जी. जी. के कानों तक अपनी पुकार पहुँचा सकें तो कुछ हो सकता है। मैं स्वयं सब की मुखिया बन कर उन तक जाने को तैयार थी। परन्तु अफसोस, हमें अवसर नहीं मिला। हमारा संगठन

कमजोर था और ड्योढ़ियों का प्रबन्ध खूब पक्का था। ज्यों-ज्यों हम दलबद्ध होती जाती थीं, वह पशु भी अपनी सुरक्षा और जिम्मेदारी के लिए चाक-चौबन्द होता जाता था।

अब एकाएक हिज हाइनेस के मर जाने से हम ने फिर निकल भागने के हौसले नए किए और सुअवसर की ताक में बैठीं। अब हम यहाँ तक अमादा थीं कि आवश्यकता हो तो इस नर-पशु को जान से ही मार डाला जाए। अब हमारा संगठन भी बढ़ गया था।

महाराजाधिराज का कोई औरस पुत्र रानियों से न था, इस लिए कुर्सीनामे के अनुसार एक सम्बन्धी युवक ठाकुर गोद आया और वह उसी दिन राजा घोषित हो गया। राजस्थान का ऐसा ही रिवाज है—राजा कभी मरता नहीं है और गद्दी कभी सूनी रहती नहीं है। राजा के मरते ही चाहे औरस पुत्र हो या गोद आया हुआ व्यक्ति, वह तुरन्त राजा घोषित हो जाता है और उस के राजा होने पर मृत राजा राजा नहीं रहता। उस समय नए राजा को सूचना दी जाती है—"पृथ्वीनाथ, एक सिपाही मर गया है, उस के लिए क्या आज्ञा है।" तब नया राजा हुक्म देता है—"उस की हस्ब हैसियत उत्तर-क्रिया की जाए।" तब उस की लाश उठती है, दाह होता है तथा अन्य आवश्यक उपचार होते हैं।

नया राजा न सूतक मनाता है, न मृत राजा की उत्तर-क्रिया में भाग लेता है। उसे प्राय. ऐसा करने का अवकाश ही नहीं मिलता। राजा के मरते ही उसके मित्र, कृपा-पात्र उस की कृपाओं मे लाभ उठाने के लिए उसे आ घेरते हैं। मृतक का शोक और सूतक जैसे उसी में डूब जाते हैं।

राजा को मरे दस दिन बीत चुके थे। अभी हम यह सोच ही रही थीं कि हमें क्या करना चाहिए कि नया राजा ड्योढ़ियों में आया। वह कोई इक्कीस बरस का तरुण, सुन्दर स्वस्थ कुमार था। वह नए युग का सभ्य शिष्ट युवक प्रतीत होता था। उस ने हम सब को एकत्र किया और एक संक्षिप्त भाषण दिया। उस का सार यह था कि अब से हम

सब स्वतन्त्र हैं, जिसका जहाँ जी चाहे चली जाएं। कोई रोक-टोक नहीं होगी। जिस का कोई और बन्दोबस्त अभी न हो, या जिस का कोई ठिकाना न हो, वह चाहे तो यहाँ रह सकती है।

मैं आगे बढ़ी। शिष्टाचार के अनुसार मैं ने राजा का अभिवादन किया और अंग्रेजी भाषा में मै ने उस से कहा—"आप जब इस प्रकार इस नरककुण्ड से हम अभागिनों का उद्धार कर रहे हैं तब इतनी कृपा कीजिए कि इस नर-पशु की छाया यहाँ से हटा दीजिए और एक योग्य अफसर को नियुक्त कर दीजिए, कि वह हम अभागिनों को अपने सगे सम्बन्धियों तक पहुँचा देने की व्यवस्था कर दे।"

मेरी बात सुन कर तरुण राजा मेरे निकट आया। उस ने कोमल स्वर में पूछा—"आप चम्पाजी हैं क्या ?" मेरी स्वीकारोक्ति पर उस ने मुझे प्रणाम किया और कहा—"आप के सम्बन्ध में मै ने बहुत कुछ सुना था। लेकिन आप यहाँ हैं, यह मै न जानता था। सब लोग तो यही समझते हैं कि आबू में आपकी मृत्यु हो गई। एक बार स्वर्गवासी श्रीमान ने भी यही कहा था। पर कल ही वासुदेव महाराज ने आपकी बाबत मुझे बताया।"

मै ने कहा—"भाग्य मुझे यहाँ ले आया। जो होना था वह हुआ। अब आपके प्रताप से यह नरकधाम टूट जाए तो बड़ी बात हो।"

"वह सब तो होगा ही। और मै, जैसा आप ने कहा है, वैसी ही व्यवस्था कर दूँगा। परन्तु अभी आप रंगमहल में पधारिए। जब तक जी चाहे वहाँ विराजिए। आप को मैं राजमाता ही समझता हूँ। स्वर्गवासी महाराज आपको कितना मानते थे, वह मैं जानता हूँ।"

मेरी आँखों में आँसू आ गए। एक बार पुरानी बातें, फिर मस्तिष्क में घूम गईं। मैं ने कहा—"महाराज, मै गोली-चाकर हूँ। मेरे साथ महाराजाधिराज का यह शिष्टाचार सोहता नहीं है। आप ने मुझे रंगमहल में चलने की आज्ञा की, आप की कृपा है; परन्तु वहाँ अब मेरा कोई स्थान नहीं है। फिर अभी तो यहीं मेरी आवश्यकता है। आप की

आज्ञा से मैं यहाँ की प्रत्येक स्त्री की जो बन सके सहायता करना चाहती हूँ। आप ने इन्हें स्वतन्त्र करने का जो पुण्य किया है, उस में मैं अपनी सेवाएं पेश करती हूँ।"

यह तो आपका बहुत ही उत्तम विचार है। इस व्यक्ति को मैं अभी यहाँ से हटाए देता हूँ और एक राजपुरुष को अभी नियुक्त करता हूँ। वह आपकी सलाह से ही इन सब स्त्रियों की समुचित व्यवस्था कर देगा। खर्च भी सब को राज्य से मिलेगा। इस सम्बन्ध में आप जब चाहें तब मुझ से मिल सकती हैं, और यदि इस व्यक्ति के प्रति आप का या किसी का कुछ आरोप हो तो मैं उस का भी इसे दण्ड दूँगा।"

मैं ने कहा—"इस से कुछ लाभ नहीं होगा। यहाँ का वातावरण बहुत भयंकर है। बस, यह नरकावास खत्म हो जाए, यही यथेष्ट है।"

सारी बातचीत अंग्रेजी भाषा में हुई। इस सुजन और तरुण राजा का अनुरोध मैं टाल न सकी। मैं रंगमहल में चली आई। मेरे आराम और सुख-सुविधा का नए राजा ने पूरा प्रबन्ध कर दिया। मेरे भाग्याकाश में नया प्रभात हुआ।

एक योग्य राजपुरुष की नियुक्ति ड्योढ़ियों पर कर दी गई। मैं ने और उसने मिल कर सभी स्त्रियों को उन के सगे-सम्बन्धियों के पास भेज दिया। उन के लिए खर्च की भी व्यवस्था कर दी। जो स्त्रियाँ रह गईं, उन में से कुछ विधवा आश्रम में भिजवा दी गईं, कुछ की आजीवन मासिक वृत्ति नियुक्त हो गई। और वे राजधानी में ही बस गईं। कुछ स्त्रियाँ अस्पताल में भेज दी गईं। एक ही सप्ताह में वह नरकधाम खाली हो गया।

जब तक मैं इस काम में फँसी रही, मुझे अपनी ओर देखने का अवकाश ही नहीं मिला। अब मैं यहाँ से निवृत्त हुई, मुझे अपने बच्चों की, पति की और अपनी सम्पत्ति की चिन्ता ने आ घेरा, और एक दिन सवेरे ही सवेरे मैं वासुदेव महाराज के घर जा पहुँची। एकाएक वह मुझे पहचान नहीं सके। फिर पहचानते ही वह बालक की भाँति ढाढ़ें मार कर

रो उठे। हाथ की लाठी फेंक दोनों हाथ फैला कर "बेटी-बेटी" कहते मेरी ओर लपके। उन्हों ने कहा—"यह हालत कर दी उन्होंने तुम्हारी बेटी ? तुम ने समझा होगा कि वासुदेव तुम्हें भुला बैठा ? ओह ! तुम्हारे लिए मैं ने क्या-क्या न किया। पर बेकार, सब बेकार। अब मर गया वह गुनहगार राजा। बड़ी बात हुई, तुम आ गईं बेटी। न जाने तुमने कितने दुःख सहे होंगे। सूख कर काँटा हो गई। अरे, मैं ने तो तुम्हें पहचाना ही नहीं।"

वासुदेव महाराज की मा और पत्नी दोनों ही का स्वर्गवास हो चुका था। सुन कर मैं बड़ी देर तक रोती रही। इसी बीच उनकी पुत्र वधू ने आ कर मेरे पैर छुए। अब मैं स्थिर न रह सकी। अपने पति और बच्चों के सब हाल जानने को मैं अधीर हो रही थी। पर मेरे मुँह से बोल नहीं फूट रहा था। उन की पुत्रवधू को छाती से लगा कर डबडबाई आँखों से मैं उन्हें देखने लगी। मैं आशा और निराशा के झूले में झूल रही थी। मैं नहीं जानती थी कि मुझे कौन-सा अशुभ समाचार सुनना पड़ेगा।

एकाएक वासुदेव महाराज लाठी सम्हाल कर उठ खड़े हुए। उन्हों ने कहा—"मैं अभी आता हूँ बेटी ! तुम कुछ खा-पी कर थोड़ा आराम कर लेना।" उन्हों ने अपनी पुत्रवधू को मेरे भोजन-विश्राम के बारे में आदेश दिए और वह चले गए।

बड़ी सुन्दर और कोमल बधूटी थी उन की पुत्रवधू। देख कर नेत्र शीतल हो गए। कुन्दन-सा रंग, चम्पे की कली-सी देहयष्टि और वीणा-विनंदित मृदु-मधुर वाणी। विनय और शील की प्रतिमूर्ति-सी। जी में आता था कलेजा चीर कर उस स्निग्ध मुग्धा बाला को उस में रख लूं।

वह जल्दी-जल्दी रसोई बना रही थी और मैं रसोई के द्वार पर पीढ़ा डाल कर बैठी उस से बात कर रही थी। उस की बात-चीत से मेरा तन-मन पुलकित हो रहा था। भूल गई थी मैं उस नारकीय जीवन की दुःखद स्मृतियों को। आह, कहाँ-कहाँ का कोलाहल, गाली-गुप्ता, निर्लज्ज जीवन, और कहाँ यह अमल-धवल कोमल कुसुम-कली।

भोजन तैयार होने पर उस ने बहुत आग्रह किया कि मैं भोजन कर लूं। पर मैं ने कहा--"नहीं, नहीं, बेटी! अभी नहीं। पिता जी आ जाएं तो उन्हें भोजन करा कर प्रसाद लूँगी। आओ तुम, तब तक अपनी मीठी-मीठी बातों से मेरे मन को शीतल करो।"

बड़ी देर तक हम बातें करती रहीं। तीन वर्ष के बाहर के दुनिया के बहुत से समाचार मुझे ज्ञात हुए। परन्तु अपने पति और बच्चों के सम्बन्ध में तो मैं कुछ पूछने का साहस न कर सकी, इस भय से कि न जाने क्या अशुभ समाचार सुनने को मिले।

वासुदेव महाराज आ गए। मेरी छोटी लड़की उन की उंगली पकड़े हुए उन के साथ थी। स्वर्ग की परी के समान सुन्दर थी वह बालिका। मैं ठगी-सी देखती रह गई। मेरा कलेजा धड़कने लगा—क्या यह मेरी ही बेटी है? इस आशंका ने मुझे अधीर कर दिया। मुझ अभागिन की मूढ़ता तो देखिए, अपनी ही सन्तान को मैं न पहचान सकी। पर दूसरे

ही क्षण मेरे सारे संदेह निवृत्त हो गए। मेरा पति मेरी दोनों लड़कियों को साथ लिए उन के पीछे-पीछे आ रहा था। देखते ही मेरी आँखें बरस पड़ीं। आँसुओं ने मेरी दृष्टि बन्द कर दी। मैं ने केवल अपने हाथ पसार दिए। अब तीनों बालक मेरी छाती से आ लगे थे। ओह, मैं स्वर्गीय सुख का अनुभव कर रही थी। मैं फिर से जी उठी थी। कोई कुछ भी न बोल रहा था। यह हमारा मूक मौन-मिलन बड़ा अद्भुत था। कोई भला कैसे हमारे उस सुख-मिलन का अनुमान कर सकता है। क्या इस पृथ्वी पर कोई मेरे समान भी ऐसा प्राणी होगा, जो सदेह नरक से लौट कर स्वर्ग में आ पहुँचा हो!

धीरे-धीरे मैं स्थिर हुई। हम सब दालान में बिछे फर्श पर जा बैठे। बच्चियाँ मुझे आँखें फाड़-फाड़ कर देख रही थीं। हाय-हाय, वे नहीं जानती थीं कि यह अभागिन उन की मा है, यद्यपि मेरे पति ने और वासुदेव महाराज ने उन से बारम्बार कहा था कि तुम अपनी मा के पास चल रहे हो। इस अभागिन मा की बहुत-बहुत मीठी, खट्टी, झूठी, सच्ची बातें मेरे पति ने बच्चों को बताई थीं। वे शायद अब सब उन के सरल-तरल बाल-मस्तिष्क में घूम रही थीं। पर वे एकाएक सर्वथा अपरिचित स्त्री को कैसे मा कह सकती थीं। ऐसी स्त्री को, जिस के दो दांत टूट चुके थे, चेहरे पर विषाद और वेदना की असंख्य रेखाएँ खिंच गई थीं, बाल पक कर खिचड़ी हो गए थे और शरीर सूख कर हड्डियों का ढेर रह गया था।

मैं ने छोटी मुन्नी को खींच कर अपनी छाती से लगा लिया। उस ने विरोध नहीं किया, चुपचाप मेरी गोद में मुंह छिपा कर बैठ गई। मैं धीरे-धीरे उस के शरीर पर हाथ फेरती रही। आप को मैं कैसे कहूँ कि मुझे—हाँ-हाँ, मुझ मा को—अपने किसी बच्चे का नाम नहीं ज्ञात था। अब भला मैं मा हो कर किस से पूछूँ कि मेरी बेटियो, तुम्हारा क्या-क्या नाम है।

फिर मेरा बोल भी तो नहीं फूट रहा था। मेरी मुन्नी आठ वर्ष

को थी, जो मेरी गोद में मेरे घुटनों पर मुँह रखे बैठी थी। वह कभी-कभी अपनी कमल-सी आँखें उठा कर मेरा मुँह देख लेती थी, और फिर लाज से अपना मुँह मेरे घुटनों में छिपा लेती थी। दूसरी लड़की बारह वर्ष की थी और तीसरी पन्द्रह वर्ष की। दोनों ही रूप-उजागरी थीं। उन्हें देख कर मुझ जलमुँही को अपने बचपन के दिन याद आ रहे थे। मैं भी तब ऐसी ही थी। मैं ने जैसे अपना ही रूप अपने बच्चों को दिया था। देखते नहीं थकती थी। जी चाहता था कि घोल कर उन्हें आँखों में पी जाऊँ। बड़ी बेटी शायद बहुत-कुछ समझती-जानती थी। वह बड़ी-बड़ी आँखें उघाड़ कर मेरी ओर देख लेती और फिर आँखें नीची कर लेती थी। मझली लड़की देख रही थी और मुसकरा रही थी। वह बीच-बीच में अपने पिता से धीरे-से पूछ बैठती थी—"मा बोलती क्यों नहीं है?"

अपने पति की ओर तो अभी मेरी आँखें ही नहीं उठ रही थीं। क्षमा कीजिए। अब तो मैं उन का नाम लूँगी नहीं। चाकर की भाँति उन का उल्लेख करूँगी नहीं। वह मेरे पतिदेव हैं, परमेश्वर हैं। इसलिए अब तो मैं उन्हें पति कह कर ही पुकारूँगी। बच्चों से छुटकारा पा कर मेरी आँखों ने उन्हें देखा। एक लुटा-पिटा-सा शरीर। वह गठीला बदन अब न था। न वह उज्ज्वल घनश्याम रंग। बहुत काला हो गया था उन का रंग। माथे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं। सादा मोटे वस्त्र शरीर पर थे। पर चेहरे पर प्रसन्न मुद्रा थी, जैसे कुछ हुआ ही नहीं है। अपने मन का आन्तरिक आनन्द वह छिपा नहीं पा रहे थे। बीच-बीच में बच्चों से धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। दांत एकाध उन का भी टूट गया था। फिर भी वह बहुत मजबूत थे। अत्याचार उन पर भी बहुत हुए थे, यह उन की दृष्टि से ही प्रतीत हो रहा था।

हमारा यह मूक मिलन न जाने कब तक होता रहता। इसी समय वासुदेव महाराज की पुत्रवधू ने भोजन का संकेत किया। वासुदेव महाराज ने चौंक कर कहा—"अरे, तुम ने अभी भोजन नहीं किया?" और

वह फुर्ती से उठे।

सब ने हँसी-खुशी से एक साथ भोजन किया। वासुदेव महाराज का सुपुत्र भी आ गया था। दो साल से स्टेट कोर्ट में ही वकालत करता था वह। वासुदेव महाराज ने कहा—"बड़ी बहन है, पैर छुओ।" और मेरे रोकते रहने पर भी उस ब्राह्मण-कुमार ने मेरे पैर छुए। मेरे ही क्यों? कहते लाज आती है, महाराज ने मेरे पति को दामाद कह कर अपने पुत्र से परिचित कराया और उस सुशील कुमार ने उन के भी पैर छुए।

हम गोले-गुलाम, जन्म-जन्म के शूद्र, अछूत, सेवा करते बीत चुकी, जिन के जीवन में कलुष-सेवा करते बीत चुकी, जिन के जीवन में कलुष ही धर्म के रूप में विचरण करता रहा—उन के चरण आज एक विद्वान् ब्राह्मण कुमार छू रहा था। और, हम सब गोले-गुलाम और ब्राह्मण एक साथ, एक आसन पर बैठ कर समान-भाव से एक परिवार के अभिन्न सदस्य की हैसियत से भोजन कर रहे थे।

मेरे गत बयालीस वर्ष के जीवन का यह प्रथम अनुभव था। अन-होनी घटना थी। आज हमारे जीवन का फिर नव प्रभात उदित हुआ था। हम पवित्र हो कर जैसे जन्म-जन्म की गुलामी से शुद्ध, मुक्त हो कर इसी जन्म में, सभ्य-शिष्ट नागरिक बन रहे थे।

: ५२ :

# किसुन की दुःख-गाथा

भोजन के बाद लड़कियाँ तो दुलहिन को घेर कर बैठ गईं। दुलहिन ने अपनी प्रिय मधुर बातों से बच्चों का क्षण-भर में ही मन जीत लिया था। सब मिल-जुल कर बहुत खुश हो रहे थे। वासुदेव महाराज भी हमें एकान्त का मौका दे कर खिसक गए थे। कमरे में रह गए थे—हम दोनों—पति-पत्नी।

कुछ देर तक हम मौन बैठे रहे। फिर मेरे पति ने आप-बीती सुनानी आरम्भ की। उन्हों ने कहा—"खवास हमारा आरम्भ ही से बैरी था—हम दोनों का। हम से उसे कभी कुछ लाभ नहीं होता था। उस ने बहुत बार—पहले संकेत से और फिर खुल्लम-खुला—मुझ से हमारे कारोबार, सम्पत्ति और आमदनी में से पाँचवाँ अंश माँगा। पर मैं ने नहीं दिया। बहुत बार इस बात को ले कर मेरी उस की तकरार हुई। इस की मैं ने कभी तुम से चर्चा नहीं की। मैं जानता था कि तुम झुक जाओगी और एक बार झुक जाने पर वह दुष्ट हमें और भी निचोड़ेगा। मैं उसे खूब जानता था। इस लिए मैं उस से अकेला ही लोहा लेता रहा। इस काम में वासुदेव महाराज से मैं कभी-कभी सलाह लेता रहता था। बहुत बार उस ने मुझे मार डालने की भी धमकी दी। अन्त में उस ने अन्न-

दाता के कान भरने आरम्भ किए कि हम लोग मिल कर उन्हें लूट रहे हैं। परस्पर गुप्त सम्बन्ध रखते और उन से विश्वासघात करते रहे हैं। अन्त में उस ने यहाँ तक उन्हें विश्वास दिला दिया कि हम लोग उन्हें मार डालने की खटपट भी कर रहे हैं। मुझे इन सब बातों का बहुत दिन तक पता न लगा। जब महाराजाधिराज विलायत चले तब वह आबू ले जा कर तुम्हें खत्म कर डालने और हमारी सब सम्पत्ति, जमा-पूंजी पर कब्जा कर लेने का उसे हुक्म देते गए। मैं इस काम में बाधा डाल सकता था, अतः मुझे उन्हों ने साथ ले लिया। मुझे ये सब बातें मालूम भी न होतीं, पर एक दिन बम्बई में शराब की झोंक में उन्हों ने बहुत-सी बातें कह दीं। उस के बाद ही उन्हों ने मुझे एक खत रजिस्ट्री करने को दिया। वह खवास के नाम था। पर मैं ने उसे खोल कर पढ़ लिया। अपने जीवन में स्वामी से मेरा यह पहला ही विश्वासघात था। खत में पचास हजार रुपये का एक चैक था तथा तुम्हारी हत्या के षड्यन्त्र का विवरण भी। पत्र खवास के पत्र के उत्तर में लिखा गया था, अतः बहुत-सी बातों का उस में उत्तर के रूप में उल्लेख था। पत्र मैं ने वैसा-का-वैसा ही डाक में डाल दिया और मैं सोचने लगा कि मुझे क्या करना चाहिए, कैसे मैं तुम्हें सावधान करूँ। एक विचार यह भी आया कि भाग चलूं और तुम्हें सब बातों से आगाह कर दूं। पर इस का अवसर नहीं मिला। साहस भी मैं इतना नहीं कर सका। मैं ने यह भी देखा कि मेरे ऊपर भी बड़ा पहरा था। अन्नदाता एक क्षण को भी मुझे आँख से ओझल न होने देते थे। पतलून की रक्षा का भार भी मुझ पर ही था। मैं वहाँ से हिल ही न सकता था। फिर भी मैं अवसर पा कर वहाँ अपने बैंकर तथा वकील से मिला और तुम्हारा जो एकाउन्ट इम्पीरियल बैंक में था, तथा जो कुछ शेयर-स्टाक था, उस की मैं ने खूब पक्की व्यवस्था कर दी। एक संक्षिप्त पत्र में मैं ने सब बातों का संकेत तुम्हें भी लिख दिया। अफसोस कि वह पत्र तुम्हें न मिल सका। हम लोग भारत से रवाना हो गए। अब मैं और तो कुछ तुम्हारी मदद कर ही न सकता था; मैं ने यही

इरादा पक्का कर लिया कि जैसे भी बने, अन्नदाता का कोई खत जाने ही न दूंगा। यही मैं ने किया भी। वह जो भी खत लिखते, मैं उन्हें अपने कब्जे में कर लेता, पढ़ता और नष्ट कर डालता। मै ने दो चूकें भी कीं। एक तो वे खत नष्ट कर दिए जो उन के षड्यन्त्र के पक्के प्रमाण थे, और जिन में उस पाजी खवास की बहुत-सी बातों का उल्लेख था। दूसरी गलती मैं ने यह की कि वकील को इस सम्बन्ध में सावधान नहीं किया। ये भूलें मैं ने इसी भय से कीं कि कहीं भण्डाफोड़ न हो जाए और मेरे पास ये खत कभी बरामद हो गए तो नतीजा और खराब निकलेगा। मै ने तो भगवान् ही पर भरोसा किया। विलायत में तो अन्नदाता ने खुल्लम-खुल्ला कहना आरम्भ कर दिया कि अब तू लौट कर उस गोली को न देख सकेगा। बह बहुधा शराब पी कर मुझे गालियाँ बकते और पिस्तौल से शूट कर देने का भय दिखाते थे। मुझे इस बात का तनिक भी संदेह न था कि वह मुझे रियासत में लौट कर अवश्य मरवा डालेंगे। तुम्हारे लिए मैं भगवान् से प्रार्थना करता और रात-रात भर रोता रहता। बस यही गनीमत थी कि उन के वे भयंकर आदेश उस खवास तक पहुँचने से पहले ही मैं ने नष्ट कर दिए थे।

विलायत से जब हम लौटे तब उन्हों ने मेरे ऊपर दबाव डाला कि तुम्हारी सब सम्पत्ति, नकदी तथा जवाहरात मै उन्हें दे दूं। पहले तो मैं ने टाल-टूल की। पीछे साफ-साफ कह दिया कि अन्नदाता, जिस की जमा-पूंजी है उस की आज्ञा बिना में कुछ नहीं कर सकता। मैं तो केवल उस का रक्षक हूँ, स्वामी नहीं। राह में तो उन्हों ने केवल गाली-गुफ्ता ही की, पर रियासत में आ कर वह मार-पीट करने लगे। बहुधा वह चाबुक से मेरी खाल उधेड़ते थे। रात को शराब पीने पर मुझे अपने पास बुलाते और कहते—"क्यों रे गुलाम, देता है वह सब जमा-पूंजी कि नहीं ?" और फिर चाबुक की मार पड़ती। मैं चुप्पी साध लेता या यह उत्तर देता—"नहीं अन्नदाता, मैं नहीं दे सकता।" प्रायः नित्य ही यह मार-पीट होती।

मैं ने एक काम और होशियारी का किया था। अपने पास एक कौड़ी भी न रखी थी। यद्यपि बहुत-सा रुपया और प्रायः सभी जवाहरात बम्बई के इम्पीरियल बैंक में थे, फिर भी काफी रकम स्टेट बैंक में भी थी। पर बैंक का मैनेजर मेरा दोस्त था। वह पारसी था। एक अवसर पर मैं ने उस के पुत्र को एक झंझट से बचाया था। वह तब से मुझे बहुत मानता था। उस ने मुझे आश्वासन दिया था कि यहाँ से एक पाई अन्नदाता नहीं ले सकते, न हिसाब ही देख सकते हैं। हाँ, अदालत का हुक्म ले आएं तो बात जुदा है।

यहाँ लौट आने पर मैं यद्यपि रोज पीटा जाता था तथापि एक तसल्ली मुझे थी। मैं यह जान गया था कि तुम जीती-जागती सही-सलामत आबू में हो।

विलायत से लौटने पर महाराज कुछ झक्की से हो गए थे। उन्हें मुझ पर ही नहीं, और भी कई सेवकों पर यह शक हो गया था कि हम सब लोग उन्हें जहर दे कर मार डालना चाहते हैं। वे हमारे लाए हुए खाने-पीने की तश्तरी और ट्रे बहुधा उलट देते। थाल फेंक देते। गरज गरज कर गालियाँ देते या चाबुक से मारते थे। पर तुम सलामत हो, तुम्हारी सम्पत्ति सलामत है, तुम्हारे बच्चे सलामत हैं, इस बात की मुझे तसल्ली थी और मैं खुशी से वह मार और दूसरे कष्टों को सहता चला गया।

विलायत से लौट कर महाराज जल्सों में उलझ गए। उन की पतलून की सनक ने उन्हें बहुत हास्यास्पद बनाया। अभी यहाँ जश्न ही चल रहे थे कि तुम्हारा मुकदमा उठ खड़ा हुआ। उस से वह बहुत डर गए। एक प्रकार से वह पागल ही हो गए थे। पर रुपए के जोर से तथा तुम्हारे बयान से वह बच गए। इस के बाद उन्हों ने एक और नया ब्याह कर डाला। शायद ब्याह की यह बात विलायत जाने से पहले ही चल चुकी थी। सब बातें उस पाजी खवास ने पक्की की थीं। सुना, उस ठकुरड़े को तीन लाख रुपया दिया गया। ब्याह में कुछ अधिक धूमधाम नहीं

हुई। उस रानी को तुम्हारे ही महल में रखा गया। मेरा विरोध-अनुरोध नहीं माना गया। महल में तुम्हारा सारा साज-सामान जो भी था, सब उस रानी को दे दिया गया। पर गनीमत इतनी ही थी कि रुपया-पैसा और कोई कीमती चीज वहाँ न थी।

पर सब से कठिन बात यह थी कि मुझे ही नई रानी की चाकरी में रखा गया। गंगाराम उसके बाप के यहाँ का गोला था। वह दहेज में उसके साथ आया था। पर न जाने क्यों, महाराजाधिराज ने उसे उसके महल से हटा कर ड्योढ़ियों पर लगा दिया था। बड़ा हरामजादा था वह। ज्यों ही उसने सुना कि महल पर मैं नई रानी की खिदमत पर बहाल किया गया हूँ, वह मुझ पर बहुत बिगड़ा, पर मैं तो लाचार था। स्वयं मैं उस रानी की चाकरी में रहना नहीं चाहता था। समझती तो है वह बड़ी सुन्दरी अपने को। चन्द्रमहल उसका नाम है। गोरी चिट्टी चमड़ी भी है। पर चेहरा अच्छा नहीं है। दिल भी वैसा ही खराब है। बोली कर्कश है। बड़े घर की बेटी नहीं मालूम देती। हर वक्त माथा चढ़ा रहता है। दारू बहुत पीती है। उस की चाकरी मुझ से सधी नहीं। एक और बात हुई, जिसे बताते शर्म आती है। एक दिन नई रानी ने मुझ से कुछ ऐसा प्रस्ताव किया, जिसे मानने से मैं ने इन्कार कर दिया। इस पर उसने शोर मचा कर उल्टा मुझे ही बदनाम कर दिया। मुझे बुरी तरह पीटा गया। मैंने जो कहना चाहा वह कुछ सुना न गया। उसी दिन मुझे जेल में डाल दिया गया। जेल में मैं ने खवास को भी देखा। वह तो वहाँ भी नवाब की भाँति रहता था। मुझे देख कर हंसा, कहने लगा, "तू भी आ गया भाया। अच्छा हुआ। अब वह गोली भी आ जाए तो मजा रहे।"

वह जब मिलता, इसी भाँति बक-बक करता। मैं उस के सामने से टल जाता। जेल में अन्नदाता के संकेत से मेरे हाथ बहुत सख्ती होती थी। भगवान के भरोसे सहता था। एक बार मुझ से फिर कहा गया कि सब माल-मता दे दूँ तो छोड़ दिया जाऊंगा। अन्नदाता ने स्वयं जेल में

आ कर कहा, पर मैं ने यही उत्तर दिया—"अन्नदाता नहीं। यह नहीं हो सकता, जान भले ही चली जाए।"

फिर बहुत दिनों तक कुछ ठीक-ठाक खबर ही नहीं मिली। एक दिन अकस्मात् ही मुझे जेल से छुट्टी दे दी गई। बाहर आने पर एक खवास मुझे अन्नदाता के पास ले गया। वह नई रानी के महल में बहुत बुरी हालत में पड़े थे। बहुत कम होश उनको था। टूटी-फूटी भाषा में उन्हों ने कुछ शब्द कहे, जिन का मैं पूरा अर्थ नहीं समझा। पर उन्हों ने तुम्हारे लिए कुछ कहा था। शायद तुम से मिलना चाहा था। पर तब तुम ड्योढ़ियों में थीं। मैं यह बात नहीं जानता था। अन्नदाता और कुछ कहना चाहते थे, पर नई रानी सिर पर सवार थी। ऐसा प्रतीत होता था कि वह उस से डरते थे। वह विशेष कुछ न कह सके। केवल टूटती भाषा में इतना कहा—"बच्चों को तुम रख···" और उनके हृदय की गति रुक गई।

सारे रंगमहल में कोहराम मच गया। पर मैं ने एक क्षण भी समय नष्ट नहीं किया। दौड़ा हुआ मैं वासुदेव महाराज के पास पहुँचा और सब हकीकत मैं ने उन से कह सुनाई। यह भी कहा कि बच्चों को मुझे देने का आदेश अन्नदाता दे गए हैं। उन्हीं से मुझे मालूम हुआ कि तुम ड्योढ़ियों में हो। हम दोनों—मैं और वासुदेव महाराज—नए महाराज की सेवा में पहुँचे। नए महाराज वासुदेव महाराज को गुरु मानते थे। इन से कुश्ती और छुरी-तलवार के हाथ सीखे थे। उन्होंने आदर पूर्वक उन की बातें सुनीं और उनकी कृपा से बच्चे तीनों मुझे मिल गए। वासुदेव महाराज ने जब तुम्हारी बात कही तब वह बोले—मैं स्वयं ड्योढ़ियों में जा रहा हूँ।" उन्हों ने उन से इस सम्बन्ध में फिर मिलने को भी कहा। तभी से लड़कियां मेरे पास हैं।"

सब सुन कर मैं बड़ी देर तक चुपचाप आँसू बहाती रही। फिर मैं ने पूछा—मेरे दोनों बेटे कहाँ हैं?"

उन्हों ने बताया—"लालजी बम्बई में ही कानून पढ़ रहा है, पर

छोटे बच्चे के विषय में हम कुछ नहीं जानते। हम तो यही समझते थे कि वह तुम्हारे ही पास है।"

तब मैं ने भी अपने नरकावास की सब बातें रोते-रोते कह सुनाईं। अपनी लाज लुट जाने की भी बात कह दी। सुन कर मेरे पति पत्थर की मूर्त्ति की भाँति कुछ देर जड़ बने बैठे रहे, फिर एक दीर्घ साँस छोड़ कर उन्हों ने कहा—"जाता हूँ, बच्चे का पता लगाना आवश्यक है।" बच्चे के लिए मैं भी अधीर हो रही थी। वासुदेव महाराज और वह, दोनों ही घर से चले गए और मै अपनी पुत्रियों को छाती से लगा कर आँसुओं मे उनके मुँह धोने लगी।

: ५३ :

# सन्तान के बीच

आश्चर्य की बात है या कि लज्जा की, यह आपही बताइए, कि मा को अपने बच्चों के नाम ही नहीं मालूम थे और वह उन से उन के नाम पूछने में लजा रही थी। पर लाज शर्म अब मैं कहाँ-कहाँ, किस-किस से करूँ ? फिर अपनी ही सन्तान से ? मेरी बड़ी लड़की जैसे समूचे हीरे के टुकड़े से काट कर बनाई गई थी। वह १५ बरस की थी। यौवन उसके अंग में फूटा पड़ता था। स्वास्थ्य और सौंदर्य का वह मिश्रण कैसा मनोहर था, भला यह बात मैं मा होकर आपको क्या बताऊं। मेरी आँखों में राई-नोन। उस की बड़ी बड़ी झुकी हुई पलकों के भीतर फुल्लारविन्द-सी आँखों की ओर प्यासी चितवन से देर तक मैं देखती रही। ठगी-सी। फिर मैं ने धीरे से कहा, तुम्हारा नाम क्या है, बेटी ?"

उस ने लजाते हुए कहा—"सुषमा।"

अरे, गोली की लड़की का नाम सुषमा ? कुछ ठहर कर मैं ने पूछा—"क्या पढ़ती हो ?"

"इन्टर के फाइनल में बैठी हूँ।"

मैं सोचने लगी। यह भला मुझ पतिता की पुत्री हो सकती है ?

यह तो किसी बड़े घर की बेटी है। मैं ने फीकी मुसकान होठों में भर कर कहा—"जानती हो बेटी, मैं कौन हूँ ?"

"आप हमारी मा हैं।"

"नहीं बेटी, मैं तुम्हारी मा की दासी हूँ। तुम्हारी भी दासी। तुम्हारी मा मेरी-जैसी गन्दी बुढ़िया थोड़े ही थी। वह तो रानी थी, बेटी !"

मेरी छोटी बच्ची ने बड़ी बहन की आँखों मे आँख मिला कर फिर मेरी ओर देखा और कहा—"तुम हमारी मा हो।"

"तुम से किस ने कहा बेटी ?"

"पापा ने।"

पापा ने ? कौन पापा ? हे ईश्वर, ये तो सभी लड़कियाँ बड़े लोगों के समान भाषा बोल रही हैं।

मै ने पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है, बच्ची ?"

"माया, मेरा नाम माया है।"

"और इस का ?" मै ने मझली लड़की की ओर इशारा किया।

उस ने कहा—"यह कुसुम है।"

"अच्छा तो तुम सुषमा, कुसुम और माया हो !"

छोटी बच्ची शर्मा कर हँसने लगी। मझली ने शर्म मे मुँह फेर लिया। बड़ी नीची नजर किए बैठी रही।

मेरी दूसरी लड़की ७वीं में और तीसरी चौथी में पढ़ रही थी। उन्हें मैं देख रही थी और निहाल हो रही थी। मैं यह नहीं जानती थी कि केसर इस प्रकार मेरे बच्चों को नए जीवन के संस्कार देगी, जब कि वह एक गोली, जन्म-जात गोली थी, और जिस ने मेरे गोली-जीवन का अपने हाथों श्रीगणेश किया था। आज मेरी आँखों की कृतज्ञता देखने को वह जीवित नहीं रही थी। अफसोस, मै एक बार उस के दर्शन तक न कर सकी। मेरे बच्चों की कल्याण-कामना में उस ने अपने को होम

कर डाला। भाग्यवती थी वह, स्वर्ग की देवी थी वह, ईश्वर उस की आत्मा को सद्गति दे।

तीनों लड़कियाँ उन कुछ घंटों में ही मुझ से परच गई। छोटी बच्चियाँ तो खेल-कूद में लग गई, पर बड़ी और मेरे पास सरक कर बैठ गई। उस ने धीरे-धीरे मुझे बताया कि उस के कारण केसर पर कितना गजब ढाया गया। पर केसर ने किसी भी हालत में मेरी बच्ची को रंगमहल में भेजना स्वीकार नहीं किया। उस ने स्वयं भी रंगमहल छोड़ दिया। राजा ने बड़ी-बड़ी कसमें खाई कि वह मेरी लड़की को राजकुमारी की भाँति रंगमहल में रखेगा, बेटी ही समझेगा, बड़े घर ब्याह करेगा। पर केसर तनिक भी नहीं पतियाई। उसे उस दुरात्मा खवास की दुरभिसंधि का पता लग गया था। मेरी बेटी ने बताया कि उस की प्रधान अध्यापिका मिसेज टंडन ने भी कितने हौसले और मुस्तैदी से उस की रक्षा की। केसर ने मिसेज टंडन को सारी हकीकत बता दी थी और उन्हों ने उसे होस्टल में दाखिल कर लिया। सुरक्षा के विचार से केसर को यही ठीक प्रतीत हुआ। पति उन दिनों जेल में ठुँसे हुए थे। फिर वह बेचारी सहारा किस का लेती। वासुदेव महाराज अवश्य उस की पीठ पर थे, पर वह अब बूढ़े और अशक्त हो चले थे। उन्हें केसर ज्यादा तंग करना नहीं चाहती थी। अतः उस पापपुरी में होस्टल में रह कर मेरी बेटी प्रतिष्ठा के साथ ज्ञानार्जन करने लगी। अब तो वह अपने हृदय में ज्ञान-दीप जला चुकी थी। वह तेजस्विनी, मेधाविनी, प्रतिभा-सम्पन्न और महा-मानवती थी। उसे देख कर तो जैसे मैं गंगा में स्नान कर पवित्र हो गई थी। बारम्बार मैं उसे छाती से लगा कर चूमती और फिर भी तृप्त नहीं होती थी।

छोटी लड़की बड़ी चंचल थी। वह बीच-बीच में आ कर अपनी अटपटी भाषा में मुझ से बातें करती रहती थी। मझली अलबत्ता शर्मीली थी। पर तीनों सचमुच राजकुमारी प्रतीत हो रही थीं।

दिन बच्चों में बीत गया। शाम हो गई पर अभी मेरे पति नहीं

लौटे। मैं उन के लिए अधीर होने लगी। बार-बार पुत्री से कहन लगा—"बेटे, वह तो अभी तक नहीं आए। दिन डूब रहा है।" मेरी बेटी कहती—"मा, चिन्ता की बात क्या है, दादा महाराज पापा के साथ हैं। वह किसी काम से ही रुक गए होंगे।" मेरी इस भाग्यवती बेटी को अभी यह नहीं मालूम था कि वे मेरे लाल की खोज में गए हैं। वह जानती तो थी कि उस के दो भाई हैं। बड़े भैया से तो वह मिल चुकी थी, पर छोटे की सिर्फ चर्चा सुनी थी। पर उसे नहीं मालूम था कि वह कहाँ है। संकोचवश उस ने मुझ से अब तक पूछा भी नहीं था। अब मैं ने ही कहा—"बेटी, वे तेरे छोटे भाई की खोज में गए हैं। न जाने उसे हत्यारों ने कहाँ छिपा रखा है। वह मिलेगा भी या नहीं।" यह सुन कर मेरी बेटी भी उदास हो कर मेरा मुंह ताकने लगी।

शाम हो गई। रात को गई और एक पहर रात गल गई, पर मेरे पति नहीं आए। हम लोगों ने भोजन नहीं किया। बच्चों को खिला पिला कर हम तीनों स्त्रियाँ—मैं, मेरी बेटी और बहू—धड़कते कलेजे से द्वार की ओर ताकती बैठी रहीं।

ग्यारह बजने के बाद वे आए। आगे-आगे मेरे पति थे। पीछे लाठी हाथ में लिए वासुदेव महाराज। मेरे पति की गोद में बच्चा था। उसे मेरी गोद में देकर उन्हों ने धीरे से कहा—"बहुत बीमार है। शायद बे-होश भी है। पर चिन्ता की बात नहीं, डाक्टर अभी आ रहे हैं।" वासु-देव महाराज हकला-हकला कर बहू पर नाराज होने लगे कि मुझे उस ने खाना पीना क्यों नहीं कराया। पर बहू ने कोई जवाब नहीं दिया। थोड़ी देर में डाक्टर आ गए। वासुदेव महाराज के मित्र और डाक्टर राबर्ट के सहयोगी थे। मुझे नाम से जानते थे। उन्होंने बालक की परीक्षा करके कहा—डबल निमोनिया है। पर चिन्ता मत करो। समुचित चिकित्सा से ठीक हो जाएगा।" उन्हों ने सुइयाँ लगाईं तथा रात-भर तीन-तीन घंटे पर सुइयाँ लगाने के लिए अपने असिस्टेन्ट को वहीं नियुक्त कर गए। खा-पीकर सब निपटे। दो कौर हमने भी पेट में डाले। सब

सो गए। केवल हम तीन नहीं सोए। सारी रात जागते बैठे रहे—बहू, मेरी बेटी और मैं। हाँ, डाक्टर भी हमारे साथ सजग रहे। वह ठीक समय पर सूई देते रहे। हम बच्चे को घेर कर चुपचाप बैठे उस के मुर्झाए, पीले और मूर्च्छित मुँह की ओर ताकते तथा भगवान के दरबार में मन-ही-मन उसके प्राणों की भिक्षा माँगते रहे।

: ५४ :

# पति-परमेश्वर

भगवान ने मुझ अभागिन की अरदास सुन ली। वह प्रभात मेरे लिए मंगल प्रभात हो गया। मेरे बच्चे को होश आ गया था। उस ने आँखें खोल दी थीं। उस का टेम्परेचर भी नीचे आ गया था। वह मेरी ओर देख-देख कर मुसकरा रहा था। शायद वह मुझ अभागिनी मा को पहचान रहा था। मैं रो रही थी और उस की बलैया ले रही थी। मेरे पति, महाराज वासुदेव, उन के पुत्र, डाक्टर सभी मुझे समझा-बुझा रहे थे। बड़े डाक्टर आए, उन के साथ कर्नल रार्बट भी थे। बड़े ध्यान से उन्हों ने बच्चे को देखा, नुसखा तजवीजा और छोटे डाक्टर तथा एक नर्स की वहीं रहने की व्यवस्था कर दी, फिर वह मेरी ओर घूमे। अफसोस करते हुए कहा—"आप का स्वास्थ्य तो बहुत गिर गया, मिसेज कृष्णा! यह क्या बात है?" शायद मेरी यम-यातना से वह अपरिचित थे। इस समय सब बातों को कहने-सुनने का अवसर भी न था। इस समय हम लोगों ने अंग्रेजी ही में बातचीत की। मेरे मुँह से अंग्रेजों-जैसी स्वाभाविक अंग्रेजी सुन कर मेरी लड़की आँखें फाड़-फाड़ कर मेरी ओर देखने लगी। उसे पता न था कि उस की यह अभागिनी मा भी अंग्रेजी पढ़-लिख सकती है और कई बार विलायत हो आई है। शायद केसर और मेरे पति ने

जान-बूझ कर महाराजाधिराज से मेरे सम्बन्ध छिपाने को ये सब बातें उन्हें नहीं बताई थीं। ईश्वर का धन्यवाद है कि मेरे बच्चे मेरे जीवन का कलुष नहीं जानते थे। ये मेरे पति को ही अपना वास्तविक पिता समझते और कहते थे। स्कूल-कालेजों में भी वही नाम उन्हों ने लिखाया था। यद्यपि अपने ही बच्चों से उन्हीं के जन्म के रहस्य को छिपाने से मेरी छाती फटी जा रही थी, पर वह भेद तो मुझे छिपाना ही था। सो लज्जा से अधमरी होने पर भी मैं प्रसन्न हुई।

डाक्टरों से निवृत्त हो कर मैं ने स्नान किया, घर के ठाकुर की पूजन-आरती की और फिर मैं आरती का थाल सजा सब के सामने, सब लाज-लगाम तज, अपने पति के पास आई। उन के चरणों को मै ने धोया, अपने आँचल से उन्हें पोंछा। धूप-दीप से पति-परमेश्वर का पूजन किया। चरणोदक लिया और अपना मस्तक उन के चरणों में टेक दिया। वह सब निर्विघ्न नहीं हुआ। उन्हों ने बहुत बाधा दी। भला बाधा क्यों न देते। इक्कीस बरस तक जिस स्त्री की, धर्म से पत्नी होने पर भी, सरकार कह कर उस की चाकरी की, उस की पूजा कोई आसानी से कैसे ग्रहण कर सकता था ! पर मैं तो अपने में मगन थी। पृथ्वी पर अब ऐसा कौन था, जो मुझे मेरी इच्छा की पूर्ति करने से रोक सकता ! तिस पर वासु-देव महाराज यह सब देख हो-हो कर के पागल की तरह नाच उठे। वह आँखों से आँसू बहाते हुए ठाकुरद्वारे से शंख उठा लाए। उन्हों ने जोर से शंख में फूंक मारी और वह शंख-ध्वनि शंकर के कैलाश में जा पहुँची। साक्षात् शंकर और जगज्जननी उमा ने मर्त्यलोक में झाँक कर मुझ अभा-गिनी, नरक-कीट कलुषित गोली की पति-पद-पूजा देखी।

: ५५ :

# नई अफवाह

मेरा बच्चा धीरे-धीरे ठीक हो रहा था। अब अपने बड़े लड़के को देखने के लिए मेरी आँखें तरस रही थीं, पर उस का एल-एल० बी० का फाइनल चल रहा था। इस से मैं ने उसे बुलाना ठीक नहीं समझा। दो दिन मैं, अपने बच्चों में रह कर फिर रंगमहल में लौट आई। बच्चे को अभी मैं ने वासुदेव महाराज के घर ही में छोड़ा। मेरे बच्चे और पति भी अभी वहीं रहे। अनेक कारणों पर विचार कर के यह व्यवस्था की गई थी। महल में इस समय एक नई अफवाह उठ खड़ी हुई थी। यद्यपि वह बाहर अभी नहीं गई थी, फिर भी रंगमहल उथल-पुथल हो रहा था। छोटे-बड़े प्रत्येक की जबान पर यह बात थी कि चन्द्रमहल रानी सगर्भा हैं। यह साधारण बात न थी। इस का सब से भारी प्रभाव वर्तमान नए राजा पर पड़ने वाला था। नया राजा, मृत राजा के औरस पुत्र के न रहने पर, गोद आया था। पर अब यदि औरस पुत्र विवाहिता रानी से होता है तो गद्दी का वही अधिकारी होगा। नए राजा को गद्दी छोड़नी होगी। तख्तनशीनी का अभी दरबार भी नहीं हुआ था। पर दरबार की तारीख ए. जी. जी. ने नियत कर दी थी, जब कि वह स्वयं या उन का प्रतिनिधि दरबार में आ कर अंग्रेज सरकार की ओर से उन्हें महाराजा

स्वीकार करने की घोषणा करने वाले थे। अब यह अफवाह यदि सच्ची प्रमाणित होती है और सचमुच ही नई रानी के पुत्र होता है, और यह खबर ए. जी. जी. तक पहुँचती है तो निश्चय ही दरबार रुक जाएगा। सब मामला ऊलट-पुलट हो जाएगा। नया राजा एक सुशिक्षित और भद्र तरुण था। नए विचार और भावनाएँ उस में थीं। वह मेयो कालेज का ग्रेजुएट था, विचारों और भावों में उदार और सुधारक। उस ने गद्दी पर बैठते ही अनेक नए कदम उठाए थे, जिन में एक ड्योढ़ियों के नरक का उन्मूलन था। उस से सभी को अच्छी आशाएँ बंध गई थी। मेरे तो जीवन ही की उस ने रक्षा की थी। मृत राजा के जीवन-काल ही में यह प्रायः निश्चित हो गया था कि उस के बाद राजा वही होगा। कुर्सीनामे के अनुसार उसी का हक प्रमाणित था, क्यों कि राजा की कोई औरस सन्तान रानियों से न थी, न आशा ही थी। परन्तु इस नई रानी के सगर्भा होने से अब पुत्र की आशा हो गई थी।

बड़ा ही विचित्र है यह उत्तराधिकार और औरस पुत्र का युग-युग से चला आता हुआ सिलसिला। स्त्री विवाहिता पत्नी ही हो, स्वजातीय हो, तभी उस का गर्भजात औरस पुत्र पिता का उत्तराधिकार पा सकता है। अविवाहिता स्त्री से भले ही उस पुरुष के वीर्य से पुत्र हो, पर वह उत्तराधिकारी नहीं है। विवाहिता पत्नी से उत्पन्न पुत्र बालक हो, मूर्ख हो, कोढ़ी हो, नालायक हो, तो भी वही उत्तराधिकारी है। यदि उत्तराधिकार में राज्याधिकार मिलता है तो वही राजा है—उस राज्य का सब से बड़ा, सब से प्रमुख, सब का पूज्य पुरुष। बड़े-से-बड़े योग्य विद्वान भी उस से छोटे हैं।

धीरे-धीरे यह बात रंगमहल के बाहर फैली और अब नगर में यही बात चर्चा का मुख्य विषय बन गई। नया राजा तो इस घटना से बहुत विचलित हो गया था। उस का भाग्य ही अस्त होने का समय आ गया था। पर वह इस समय भी धीर और शान्त था। अब तो रानी के पुत्र-प्रसव की प्रतीक्षा थी। यदि पुत्री होती है तो भी राज्य का अधिकार

नए राजा को मिलता है। पर यदि पुत्र-प्रसव हुआ तो नए राजा का राज्यच्युत होना अनिवार्य था।

दरबार की तारीख अनिश्चित काल के लिए टाल दी गई थी और सब राजदरबारी एक अनिश्चित स्थिति में आने वाले क्षणों की प्रतीक्षा कर रहे थे।

रंगमहल में रहना अब मुझे भाता न था। परन्तु अभी मेरी बहुत-सी सम्पत्ति रियासत में फँसी थी। मुझे धैर्य और युक्ति से काम लेना था। साँप मरे न लाटी टूटे। यद्यपि मेरा सारा ध्यान बच्चे की बीमारी पर था, फिर भी मैं अपनी सम्पत्ति से बेखबर न थी। मै बीच-बीच में राजा से मिलती रहती थी। उस ने मेरे ऊपर अपरिसीम अनुग्रह किया। उस की कृपा से धीरे-धीरे मेरी लगभग सारी ही धन-सम्पत्ति मेरे कब्जे में आ गई। उसे चुपचाप मैं ने रियासत से बाहर भिजवा दिया। कुछ रकम मैं ने बम्बई के बैंकों में जमा कर दी और कुछ दिल्ली के बैंकों में। रकम में मै ने कई विभाग किए और उस का अधिकांश भाग पुत्र-पुत्रियों के नाम पृथक्-पृथक् जमा कर दिया। अब मै राजधानी से निकल भागने का सुअवसर ताकने लगी।

: ५६ :

# रानी का बुलावा

६ महीने बीत गए। नई रानी ने पुत्र प्रसव किया। प्रसव राजधानी में नहीं हुआ था, रानी के मायके के ठिकाने में हुआ था। राजस्थान का यह पुराना रिवाज है कि पुत्री का प्रथम प्रसव मातृ-गृह में होता है। रानी कई महीनों से पीहर गई हुई थीं। सगर्भावस्था में और प्रसव-काल में जो समारोह होते हैं, वे सब धूम-धाम से रानी ने अपने पितृ-गृह में किए थे। प्रसव-कार्य के लिए राज्य की अंग्रेज लेडी डाक्टर बुलाई गई थी। बालक का प्रसव होते ही उस की सूचना ए. जी. जी. साहब बहादुर को दे दी गई थी तथा राजधानी में भी यह खबर आग की भाँति फैल गई थी। प्रजा के हर्ष का ठिकाना न था। बड़ी विचित्र बात है कैसे एक निरीह मांस के लोथड़े का स्वामी कह कर स्वागत किया जाता है। नित नए शोषण, नित नए अत्याचार इन स्वेच्छाचारी राजाओं की प्रजा निरीह भाव से सहती है, फिर भी नए राजा की—नए अत्याचारी की अवाई का धूमधाम से स्वागत किया जाता है। मेरी तो कुछ बात ही नहीं। जन्मजात गुलाम हूँ, परन्तु रियासत का बच्चा-बच्चा सभी में तो यह दासता का भाव भरा है। सभी तो दासता की शृङ्खला में बँधे हैं। समाज-रचना ही स्वामी-सेवक के सम्बन्धों पर हुई है।

कई पीढ़ियों से राजा के औरस सन्तान नहीं हुई थी। उत्तराधिकारी गोद आते थे। अब यह औरस उत्तराधिकारी जो मृत राजा का आया, तो इस से प्रजा हर्ष से खिल गई। पर राजधानी में विशेष धूमधाम नहीं हुई। रानी ने इच्छा प्रकट की थी कि जब वह बालक-महाराज को ले कर राजधानी में आएँ तभी धूमधाम, उत्सव, मुजरे, जलसे हों। सो सारी रियासत में छोटे-बड़े सभी भाँति-भाँति के मन्सूबे बाँध रहे थे। भाँति-भाँति के अनुमान लगाए जा रहे थे। दूर-दूर के कलावन्त, रंडी-भड़ुए, भाँड़ अभी से राजधानी में धंसे पड़ रहे थे। केवल एक व्यक्ति था, जिसे यह सब धूमधाम फोड़े की भाँति दुःख रही थी—वह था नया तरुण राजा।

मैं अधीर हो रही थी। हर बार मेरा मन कह रहा था कि मुझे अब रंगमहल से नहीं, राजधानी से भी चल देना चाहिए। पर क्या मुझे यहाँ से चले जाने की अनुमति मिल जाएगी? मुझे? गोली को? जन्मजात गुलाम को? मुझे इतनी स्वतन्त्रता मिल सकती है? मैं गुलाम चाकर हूँ, मेरी सन्तान राजा की सम्पत्ति है। सौभाग्य ही की बात थी कि नया राजा भलामानुस था और उसने मेरे साथ आशातीत भद्र व्यवहार किया था। परन्तु रियासत में न तो मैं और न मेरी सन्तान ही गुलामी से बच सकती थी। जन्म-जन्म से जिस दासता को हमारे पूर्वजों ने अपने पल्ले बाँध लिया था, उस से तो वह राजा भी हमें बचा नहीं सकता था।

मुझे अपने से भी अधिक लड़कियों की चिन्ता थी। मेरी बड़ी लड़की समझदार थी। वह नए वातावरण में पली थी। उसे कदाचित् इस बात पर विचार करने का भी अवसर न मिला था कि वह जन्मजात गोली गुलाम है।

मेरा बच्चा अब पूरा नीरोग हो गया था तथा मेरे बड़े पुत्र ने एल-एल. बी. प्रतिष्ठा-सहित पास किया था। उसे देखने को मैं छटपटा रही थी। पर मैं ने उसे रियासत में बुलाना निरापद न समझा। बम्बई ही में रोक दिया। अब तो मैं किसी तरह यहाँ से निकल भागने की जुगत सोचने लगी। मैं बहुधा अपने पति और वासुदेव महाराज से सलाह

करती। पर कोई योजना स्थिर नही हो पाती थी। मैं स्वीकार करती हूँ कि मुझ में साहस की कमी थी, नहीं तो मेरे भाग निकलने का यह अच्छा अवसर था। राजा मेरे अनकूल था, रानी पीहर में थी। विरोधी शक्तियाँ भी उसी के साथ थीं। यदि कुछ बाधा हो सकती थी तो वह कुछ खर्च करने से पूरी की जा सकती थी। वासुदेव महाराज ने मुझे बच्चों को ले कर तुरन्त दिल्ली भाग जाने की सलाह दी थी। पर मैं सोच-विचार ही करती रही। क्या करूँ, मेरे भाग्य में अभी जो भोग भोगना बदा था, उसी ने मेरी बुद्धि नष्ट कर दी।

इसी से मैं ने सुना, नई रानी राजधानी में लौट आई हैं। नवजात शिशु उन के साथ है। नए राजा के जन्म की खुशी में धूमधाम, जलसे और जश्न मनाए जा रहे हैं। नए राजा ने स्वयं महल में जा कर रानी का मुजरा किया। शिशु राजा का अभिवादन किया। वह चाहता था कि राजा नहीं तो जब तक बालक राजा बालिग न हो जाए, वह उस का प्रतिनिधि हो कर ही राज्य-शासन करे। पर रानी की तो योजना ही दूसरी थी। रंगमहल पर रंग-बिरंगी रौशनी हो रही थी, नगर के बाजार सजाए गए थे, ठौर-ठौर पर नाच-गान और जलसे हो रहे थे। सारी राजधानी मौज-शौक और आनन्द में डूब-उतरा रही थी। मैं भौचक-सी यह सब विधाता का खेल देख रही थी। इतने ही में मेरे ऊपर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। वासुदेव महाराज को अकस्मात् हैजा हुआ और वह दो दिन की बीमारी में चल बसे। दो दिन-रात मैं ने इस ब्राह्मण मित्र की अथक सेवा की। पर उसे जाना था, वह चला गया। ईश्वर उसे स्वर्ग दे। मैं बहुत रोई, बेचारे उस के पुत्र और पुत्रवधू निरीह रह गए। मै उन्हीं के घर रह कर उन्हें ढाढ़स देती रही। अभी वासुदेव महाराज का दसवाँ भी नहीं हुआ था कि एक दिन रंगमहल के सिपाहियों ने आ कर मुझे रानी का हुक्म सुनाया। रानी ने तुरन्त मुझे अपनी खिजमत में हाजिर होने का हुक्म भेजा था। प्यादों के साथ मेरे लिए कोई सवारी नहीं भेजी गई थी। इन सिपाहियों का जमादार मेरा परिचित

एक बूढ़ा राजपूत था। वह मेरी ड्योढ़ी पर पहरे पर रह चुका था। मेरे राजसी ठाठ उस ने देखे थे और मेरी कृपाओं का भी वह आभारी था। उस की आँखें वेदनापूर्ण थीं। वह मुझे से कुछ कहना चाह रहा था, पर कह नहीं सकता था। उसका नाम रामसिंह था।

मैं ने उस से पूछा—"क्या बात है रामसिंह ?" उस ने पुराने ही अभ्यास के अनुसार कहा—"सरकार को महारानीजी ने याद फर्माया है।" फिर जैसे वह असमंजस में पड़ गया। मेरे लिए सरकार का शब्द इस्तेमाल करने में जैसे उस ने भूल कर डाली हो, उसे ऐसा भास हुआ। मैं ने उस की भाव-चेष्टा से यह भी भाँप लिया कि मेरे लिए कोई सवारी रंगमहल से नहीं आई थी। बेचारा बूढ़ा राजपूत गोली के भाग्य-पृष्ठों का रहस्य कहाँ ससझता था। उस ने झिझकते हुए कहा—"सवारी के लिए एक किराए का बहल मंगा लूं क्या ?" म ने हँस कर कहा—"नहीं रामसिंह, मै पैदल ही तुम्हारे साथ चलती हूँ।" परन्तु मेरी यह हँसी केवल हँसी ही थी। वास्तव में यह सब देख कर मेरा रोम-रोम काँप उठा था। भय और आशंका से मेरा कलेजा धड़क रहा था। भाँति-भाँति के विचार मेरे मस्तिष्क में आते-जाते थे। एक अज्ञात अशुभ भावना ने मुझे घेर लिया था। पर अब तो जो कुछ मुझ पर बीतती थी, उसे झेलने को तैयार होने में ही कुशल थी। मैं ने बच्चों को तसल्ली दी और सब की नजर बचा कर पति को संकेत ही में कह दिया कि वह कोई भी अशुभ संदेश सुनने को तैयार रहें तथा बच्चों को सुरक्षित स्थान में पहुँचा दें। मै पैदल ही उस के साथ चल खड़ी हुई।

: ५७ :

# लहू का घूंट

मैं चन्द्रमहल से मिलने अपने महल में गई—उसी महल में जहाँ मैं इक्कीस बरस तक रानियों की भाँति रह चुकी थी, जहाँ मेरे जीवन के मध्य भाग की बहुत-सी मीठी-कड़वी स्मृतियाँ दफन थीं। महल की ड्योढ़ियों में पैर रखते ही मेरा मन न जाने कैसा हो गया। सब से प्रथम जिस व्यक्ति पर मेरी नजर पड़ी, उसे देखते ही मैं सिर से पैर तक काँप गई। यह वही नर-पशु गंगाराम गोला था। उस ने मुझे कड़ी नजर से देखा, मुसकराया—उस मुसकराहट में कितनी अवज्ञा थी। मैं क्या कहूँ! उसने कहा—"अभी बाहर ठहर! रानीजी पूजा में हैं, अभी मुलाकात नहीं होगी।" इस आदमी के मुँह लगना मैं नहीं चाहती थी। मैं चुपचाप एक ओर दालान में जा खड़ी हुई। उस ने मेरे पास आ कर कर्कश स्वर में कहा—"बैठ क्यों नहीं जाती?" उस ने मुझे उस जगह की ओर इशारा किया जहाँ मेरी दासियाँ बैठती थीं, पर मैं भी कड़ी बन गई। मैं ने रुखाई से कहा—"तू अपना काम कर, मेरा मन होगा तो बैठूंगी।"

सुन कर वह बेशर्म हँसने लगा। उस ने व्यंग्यमयी भाषा में कहा—"अभी भी अपने को रानी समझ रही हो! गोली-गुलाम का कलेजा तो

छोटा नहीं है। वे दिन लद गए।" पर मैं ने जवाब नहीं दिया। मैं बड़ी देर तक खड़ी इधर-उधर ताकती रही। बैठने का मेरा मन ही न हुआ। कभी-कभी इच्छा होती थी कि चली जाऊँ। पर मैं ने ठहरना ही ठीक समझा। इतनी देर में एक दासी ने आ कर कहा—"चलो, रानीजी बुलाती हैं।"

इस प्रकार अवज्ञा का सम्बोधन अपने ही महल में सुन कर मैं क्रोध से तलमला उठी। पर लोहू का घूंट पी कर मैं भीतर पहुँची। मेरे ही छपरखट पर वह रानी एक शाल अंग पर डाले लेटी थी। मेरे साथ उस ने एक दासी ही की भाँति बात की। स्वर उस का बहुत ही रूखा था, नजर भी बड़ी खराब थी।

उस ने कहा—"चम्पा गोली तू ही है ?'

मैं ने असीम धैर्य का परिचय दिया—फिर चम्पा गोली तो म थी ही। कहा—"जी।"

एक विचित्र दृष्टि से उस ने मुझे देखा और एक कुटिल हास्य-रेखा उस के होंठों पर फैल गई। उस ने कुछ रुक कर कहा—"तू ही इस महल में रहती थी।"

"जी।"

"मेरा यहाँ रहना तो तुझे भाया न होगा ?"

"मैं प्रसन्न हूँ कि आप यहाँ हैं, क्या मैं आप की कुछ सेवा कर सकती हूँ ?"

वह कुछ देर तक घूर-घूर कर मेरी ओर देखती रही। फिर बोली—"तू क्या मेरी चाकरी में रहेगी ?"

"जी नहीं।"

"यदि मैं चाहूँ ?"

"नहीं।"

"नहीं क्यों, क्या तू इस घर की चाकर नहीं है ?"

"लड़ाई करने से क्या लाभ है, रानीजी ! मेरे योग्य कोई सेवा हो तो कहिए, मुझे प्रसन्नता होगी।"

"तू तो इस तरह बोलती है जैसे कोई अहसान मेरे ऊपर करना चाहती हो।"

"मैं अहसान किसी पर नहीं करती।"

"तो तू मेरी चाकरी में रह, मैं तुझे निहाल कर दूंगी। तेरे बाल-बच्चों का भी ध्यान रखूंगी।"

"बडी कृपा है आप की। तो क्या अब मैं जाऊँ ?"

"तू इन्कार करती है मालजादी। उस भाड़े के टट्टू राजा के भरोसे न रहना। राजा यहाँ मेरी गोद में बैठा है। अब रंगमहल पर मेरा ही अदल है।"

"जब कभी भी आप मुझे याद करेंगी, मैं आप की सेवा कर के प्रसन्न होऊँगी," इतना कह कर मैं वहाँ चल दी।

वह विष-भरी नागिन की भाँति फुफकार उठी। उस ने चीख कर कहा—"तू मेरी चाकरी में नहीं रहती तो अपनी लड़की को हाजिर कर।"

सुन कर मैं चोटी से एड़ी तक काँप गई। धरती-आसमान मुझे घूमते दिखाई देने लगे। मैं चली आई। यह उस की बड़ी कृपा थी कि उस ने मुझे रोका नहीं, पिटवाया नहीं। मैं चाहे भी जो हूँ, अन्ततः जन्म-जात गुलाम हूँ, और वह रानी है, ठाकुर की बेटी। रंगमहल में वह मुझे पिटवा भी सकती थी, मरवा भी सकती थी, कायदे के अनुसार इस बात की कोई सुनवाई नहीं हो सकती थी।

बालक को मृत महाराज का उत्तराधिकारी मंजूर कर लिया है। शायद मुझे कुछ गुजारा मिलेगा, पर अभी उस का कुछ ठिकाना नहीं है। मुझे आपकी चिन्ता है। अभी किसुन मेरे पास आया था। उस ने मुझे बताया कि आप को रानी ने बुलाया है। क्या महारानी से आपकी मुलाकात हुई ?

मैं ने संक्षेप से सब बातें बताईं और रोते-रोते कहा—"मेरी जान भले ही चली जाए, पर मेरी लड़की की इज्जत पर आँच न आने पाए।" राजा ने कहा—"यह समय दिल को मजबूत रखने का है। अब आपका रंगमहल में या रियासत में एक मिनट भी ठहरना निरापद नहीं है। रंग-महल में आपके बैरी नर-पशु गंगाराम गोले का अदल चल रहा है। उस पाजी को मैं जानता हूँ। वह धूर्त भी है और क्रूर भी। कल न जाने क्या हो। आप अभी इसी समय तुरन्त यहाँ से दिल्ली चली जाएं। सामान कुछ नहीं ले जा सकेंगी। मेरी मोटर आप को चौराहे पर खड़ी मिलेगी। उसे आप मेरी तुच्छ स्नेह-भेंट समझिए। आप यहाँ से अभी इसी शाम के झुटपुटे में पैदल ही निकल जाएं और चौराहे पर जाकर गाड़ी में बैठ जायं। बच्चों को लेकर किसुन आप को गाड़ी में मिलेगा। मेरा ड्राइवर,

मेरा विश्वास-भाजन बूढ़ा राजपूत है। उस पर आप भरोसा कर सकती हैं। आप सीधी दिल्ली की राह पकड़िए। यह थोड़ा-सा राह खर्च है सो साथ रखिए।

उस ने एक पर्स मेरे काँपते हाथों में थमा दिया और ठंडी साँस लेकर कहा—"जाइए।" उस ने मुझे हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। मैं पीपल के पत्ते की भाँति काँप रही थी। बहुत चेष्टा करने पर भी मेरे मुँह से एक शब्द नहीं फूटा और मैं धड़कते हृदय और काँपते पैरों से चल खड़ी हुई।

*　　*　　*

मोटर यथास्थान खड़ी थी। उस में सब बच्चे भी थे, पर मेरा पति न था। मेरी बड़ी लड़की मेरे बच्चे को छाती से लगाए बैठी थी। उस के नेत्रों में भय व्याप रहा था। यह पहला ही अवसर था, जब मैं ने अपनी लड़की को इस तरह चिंतित और उदास देखा। शायद उसके पिता ने उसे कुछ बातें बता दी थीं। छोटी लड़कियाँ भी घबराई हुई थीं, यद्यपि सारी बातें वे नहीं समझती थीं। मुझे देखकर उन्हें ढाढस मिला। उन्हों ने बताया कि मेरा पति मेरी ही तलाश में उधर गया है। मैं बौखलाई-सी इधर-उधर देखने लगी। कुछ करते-धरते नहीं बन पड़ रहा था। ड्राइवर का कहना था कि यहाँ खड़ा रहना निरापद नहीं है, कहीं ऐसा न हो कि रंगमहल में मेरी ढूंढ मच रही हो। पर मैं वहाँ अपने पति को छोड़ कर कैसे जा सकती थी। मैं ने पति की तलाश में जाने का इरादा किया तो ड्राइवर ने बाधा देकर कहा—"आप मौत के मुँह में जा रही हैं।" वह तुरन्त चल देने के पक्ष में था और मेरे पति के लिए रुकना नहीं चाहता था। अभी मैं इस असमंजस में ही थी कि मैंने देखा, पाँच-सात सिपाही मेरे पति को उसी की पगड़ी से बाँध उसे पीटते हुए उधर ही आ रहे हैं। देख कर मेरे मुँह से चीख निकलते-निकलते रह गई। ड्राइवर ने मुझे खींच कर गाड़ी में ढकेल दिया और चिक डाल

दी। वे लोग उसे मारते-पीटते और धक्के देते ले गए। मैं ने सुना वे कह रहे थे, "बता कहाँ है तेरी लड़की और वह गोली ? बता और जल्दी बता।"

वे उसे मार रहे थे, धकेल रहे थे और मेरा धीर-वीर पति अपना मुँह जैसे सिए हुए था। वह न हाय करता था, न आह। न मारने का विरोध करता था, न घसीटने का। वह चुपचाप सब कुछ सह रहा था।

मैं ने एक बार गाड़ी से उतर कर उस के पीछे जाने की चेष्टा की। पर ड्राइवर ने डाँट कर कहा—"बेवकूफी मत करो, एक के पीछे सब की मौत मत बुलाओ।" उस ने एक झटक के साथ गाड़ी स्टार्ट कर दी। मैं औंधे मुँह गाड़ी में गिर पड़ी और गाड़ी तीर की भाँति सड़क, राह, चौराहे पार करती हुई दिल्ली की राह पर उड़ चली।

* * *

मैं नहीं जानती कि मैं विक्षिप्तावस्था में थी या कि बेहोश। पर जब मैं होश में आई तब बहुत देर तक यह नहीं समझ सकी कि मैं कहाँ और किस अवस्था में हूँ। बहुत देर बाद समझ में आया कि मै मोटर में पड़ी हूँ और दिल्ली की राह पर भागी जा रही हूँ। मै ने खिड़की से बाहर देखा—चौथ या पंचमी की क्षीण ज्योत्स्ना रूखे-सूखे पहाड़ी टीलों पर पड़ रही थी और उन के बीच टेढी-मेढ़ी सड़क पर हमारी गाड़ी दौड़ी जा रही थी। मेरी लड़की ने पानी का गिलास मेरे होठों में लगा दिया और मेरा सिर वह अपने घुटनों में दबा कर बैठ गई। अब मेरी ज्ञान-भावना जाग गई थी और मेरे मानस-नेत्रों के सम्मुख मेरे पति की उसी की पाग से बंधी हुई काया थी, जो निर्दय सिपाहियों से पीटी जा रही थी—निर्वाक्, मौन धुनी जा रही थी। हाय, मै इस त्याग और तप के देवता को उन पशुओं के बीच छोड़ कर भागी चली जा रही हूँ, अपनी अधम देह ले कर। न जाने उस पर कैसी बीत रही होगी। जिस पुरुष के प्रेम और सेवा से इस अधम शरीर का रोम-रोम बंधा पड़ा है, जिस के अपरि-

मित धैर्य और सहिष्णुता ने उसे जीवित रखा है, और जिस ने तिल-तिल अपनी आहुति दे कर मुझे अपने मूक मौन प्यार से सम्पन्न किया, उसे मैं कैसे आज अपनी आँखों विपन्नावस्था में देख कर भी यहाँ भाग आई अपने प्राणों को ले कर ! इन प्राणों का अब क्या होगा भला ? किस की भलाई में इन का सदुपयोग होगा ? मेरा मन मचल पड़ा। मै आहत पशु की भाँति चीख उठी—"रोको, रोको। पीछे लौटो, मैं उन के बिना नहीं जाऊँगी। मै मर मिटूंगी, जान दे दूंगी, वापस चलो। लौट चलो।"

पर बूढ़ा राजपूत दृढ़तापूर्वक स्टीयरिंग का चक्का पकड़े बैठा था। हवा में उस की सफेद दाढ़ी फहरा रही थी। उस की बड़ी सफेद पाग शरदाभ्र की भाँति उस क्षीण चाँदनी की मंद ज्योत्स्ना में अपूर्व शोभा धारण कर रही थी। उस ने पीछे मुँह फेर कर संकेत से ही मेरी पुत्री से कहा ;—"सावधान रहना, पकड़े रहना इन्हें, चोट न मार लें।"

और एक बार मैं फिर मूर्च्छित हो गई, या कहिए सो गई। बहुत देर तक मैं सोती रही और जब मैं जागी तब पौ फट रही थी। पूर्व में आकाश पर सफेदी फैल रही थी। चारों तरफ समतल मैदानों में हरे-भरे खेत लहलहा रहे थे। बूढ़ा कर्मठ राजपूत उसी भाँति अपनी जगह पर डटा बैठा था। गाड़ी उड़ी चली जा रही थी। उस की सफेद डाढ़ी उसी भाँति हवा में फहरा रही थी। मैं फटी-फटी आँखों से अपने जीवन में उस अद्‌भुत नवीन दिवस के आगमन को देख रही थी। विरोध-भावना मेरी जैसी सो गई थी, चैतन्य का देवता जैसे मर गया था। मैं निश्चल, निष्प्राण-सी बैठी अपने भाग्य के ये खेल देख रही थी।

अन्ततः हम दिल्ली आ पहुँचे। अभी पहर भर दिन चढ़ा था। नगर के एक भाग में पहुँच कर ड्राइवर ने एक छायादार स्थान पर गाड़ी रोक दी। उस ने कुँए से पानी खींचा। बच्चों को जगा कर उन का हाथ-मुँह धुलाया। नित्य कर्म से भी बच्चे निवृत्त हुए। फिर उस ने अपनी झोली से कुछ सूखी मेवा निकाल कर बच्चों को दी। इस के बाद उस ने मेरे निकट आ कर कहा—"मा जी, आप घबराइए नहीं। इन बच्चों की

रक्षा का ध्यान आप को सब से पहले करना चाहिए। बड़ी बात समझिए कि आप इन्हें ले कर निकल आईं। अब सब ठीक हो जाएगा।"

मैं ने कहा—"ठाकुराँ, मैं कैसे धीरज धरूँ ? उन्हें मैं ने किस हालत में देखा था ! मैं कितनी निर्दय हूँ कि उन्हें उस हालत में छोड़ आई। तुम्हीं कहो, यह कहाँ तक ठीक हुआ ?" उस ने कहा—"ठीक हुआ। आप की लड़की की आबरू बच गई।" उस ने एक भेदभरी दृष्टि से मेरी ओर देखा। फिर धीरे से कहा—"किसुनसिंह को मैं ले आऊँगा। आप अभी यहाँ इन बालकों को ठीया-ठिकाने लगाइए। अन्नदाता ने मुझे हुक्म दिया है कि आप की सेवा में मैं यहीं रहूँ। सो आप मेरे रहते कोई चिन्ता न करें।" उस की बातों से मुझे ढाढ़स हुआ। अब यह सलाह होने लगी कि कहाँ चलना चाहिए। भलाई इसी में थी कि हमें यथा-सम्भव गुप्त वास ही करना चाहिए और अपने दिल्ली में आने तथा रहने का किसी को पता भी न लगने देना चाहिए। दिल्ली में मेरे वकील का घर था। वही मेरी सम्पत्ति की भी देख-भाल रखता था तथा मेरा कानूनी सलाहकार था। हम ने सब आगा-पीछा सोच कर उसी के पास चलने की ठानी।

ईश्वर का किस मुँह से धन्यवाद करूँ कि उस ने इस विपत्ति में केसरीसिंह जैसे सच्चे हितैषी सहायक को मुझे दिया। वह केवल ड्राइवर ही न था, नए राजा का दूर का सम्बन्धी, अच्छे खानदान का राजपूत था। राजा को बचपन में उसी ने गोद खिलाया था। राजा ने मेरे उपर और भी जितने छोटे-बड़े एहसान किए थे उन सब से बड़ा एहसान यह था कि उस ने इस सच्चे बुजुर्ग राजपूत को मुझे दे दिया था। उसी ने इस विपत्ति-काल में भंवर से मेरी नैया निकाली, मेरी इज्जत और मेरे जीवन की रक्षा की।

मेरा वकील भी एक सज्जन पुरुष था। उसी की सहायता से एक महल्ले में हमें एक छोटा-सा घर मिल गया और हम उस में जा कर ठहर गए।

: ५६ :

# पति की रक्षा को निकल पड़ी

दिल्ली उन दिनों महत्वपूर्ण राजनीतिक वार्ताओं का केन्द्र हो रही थी। एक विचित्र गर्मी उन दिनों दिल्ली शहर के विचार-वातावरण में फैली हुई थी। उन दिनों अखबारों में बड़े-बड़े उत्तेजक शीर्षक निकलते थे। आम चर्चा थी कि अंग्रेज सचमुच भारत को छोड़ कर जा रहे हैं। मुसलमान पाकिस्तान की धुन अलाप रहे थे। दिल्ली के मुसलमानों में भी बड़ी सरगर्मी थी। बड़ी-बड़ी सभाएँ रोज होती थीं। एक हद तक भय का भी वातावरण था। इस समय सारे ही देश के हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के विपरीत रुख धारण किए हुए थे। गांधीजी के प्रवचन नित्य होते थे और उन की चर्चा जगह-जगह होती थी। बहुत लोग गांधीजी से नाराज थे, खास कर हिन्दू महल्लों के जनसंघी तरुण गांधीजी के विरोध में बड़े उत्तेजक भाषण देते थे। पर जवाहरलाल और पटेल पर सब की दृष्टि थी। लोगों का आकर्षण सब से अधिक पटेल की ओर था। पटेल बहुत कम भाषण करते थे, पर उन का रुख ठाटदार था।

दिल्ली का वातावरण काफी उत्तेजक था। परन्तु मेरी तो सम्पूर्ण चेतना में मेरे पति का अभाव व्याप्त था। रह-रह कर मैं अपने पति के उद्धार के लिए रियासत में जाना चाह रही थी। अपना वश चलते मैं

अपने पति को वहाँ अत्याचार का शिकार नहीं होने देना चाहती था। केसरीसिंह ने मुझे बहुत समझाया, ढाढस दिया, पर बेकार। मैं जाने का हठ ठान बैठी। अन्ततः यह तय हुआ कि केसरीसिंह वहाँ जा कर सब हाल-चाल मालूम करे और सम्भव हो तो वह मेरे पति को वहाँ से ले आए। मैं ने सब बातें समझा-बुझा कर उसे रवाना किया, साथ में काफी रुपया भी दिया। यह भी कह दिया कि यदि रुपया खर्च करने से काम हो सके तो खर्च में कमी न की जाए।

केसरीसिंह चला गया और मैं उँगली पर गिन-गिन कर दिन काटने लगी। जितना ही मैं मन को समझाती थी उतना ही मन अधीर होता जाता। मैं दिन-दिन-भर रोती रहती थी। रह-रह कर मुझे वे बीते दिन याद आ रहे थे जब मैं राजा के साथ विलास करती थी और वह निरीह पुरुष वहीं हाजिर रहता था। उन सब बातों को याद कर के आज मेरे मन में हूक उठती थी। मैं सोचती थी कि कैसे मैं वह सब कर सकी। और कुछ नहीं तो मैं अपनी जान तो दे ही सकती थी। पर अब तो यह वियोग हिमालय से भी भारी प्रतीत हो रहा था। रात-दिन मेरी आँखें बरस रही थीं।

दस दिन बाद केसरीसिंह आ गया। उस ने यह हृदय-विदारक समाचार सुनाया कि वह रानी की चाकरी में हैं। उस पर बड़े-से-बड़े अत्याचार हो रहे हैं। उसे नित्य पीटा जाता है। उस से धन सम्पत्ति के बारे में सारा ब्यौरा पूछा जाता है। उसे मारा भी जाता है, लोभ-लालच भी दिए जाते हैं, पर वह तो मुँह सिए बैठा है। एक शब्द भी मुँह से नहीं निकालता। केसरीसिंह ने उसे निकाल लाने की बहुत चेष्टा की। किन्तु सब व्यर्थ। उसी से यह भी मालूम हुआ कि नया राजा अब रियासत में नहीं है। वह आबू में है।

अब मैं क्या करूँ ? किस की सहायता लूं ? मै ने अपने वकील से पूछा कि क्या किया जा सकता है। पर उस ने कोरा जवाब दिया कि कानून आप की मदद नहीं कर सकता। फिर भी मैं ने जनाब वाइसराय

को, ए. जी. जी. को और दूसरे अफसरों को अर्जियां लिखीं। अनेक नेताओं से मिली। दर-दर की धूल फाँकी। सब की हा-हा खाई। पर बेकार। कोई भी उपाय मेरे पति को वहाँ से उबारने में कारगर नहीं प्रमाणित हुआ।

अब तो एक ही उपाय था कि मैं अपनी जान पर खेल जाऊँ और वही मैं ने तय किया। मैं ने स्वयं रियासत में जाने और अपने पति का उद्धार करने का निश्चय किया। घर-बार मैं ने केसरीसिंह के सुपुर्द किया। मेरा लड़का बम्बई से आ गया था, उसे मैं ने समझा-बुझा कर अपने वकील के सुपुर्द किया। बड़ी लड़की को मैडीकल कालेज में भरती कर दिया। छोटे बच्चों के लिए एक बंगाली महिला गार्जियन नियत कर दी। सारी व्यवस्था कर के, केवल थोड़े-से रुपए साथ ले कर मैं एक दिन फिर रियासत की ओर चल दी। मेरा कलेजा फटा जा रहा था। मैं नहीं जानती थी कि मैं लौट कर आऊँगी या नहीं। मैं अपने बच्चों को अनाथ किए जा रही थी। परन्तु मेरे ऊपर मेरी गैरत का तकाजा था। मैं ने ठान ली कि खून करना पड़ेगा तो खून करूँगी, बिगाड़ होगी तो जान दूँगी, परन्तु मैं अपने पति को दासता के बंधन से मुक्त करूँगी या मर मिटूँगी। मैं ने रोते-कलपते बच्चों की ओर से मुँह मोड़ वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

कई दिन से मैं ने कपड़े नहीं बदले थे। बालों में कंघी नहीं की थी। पेट में अन्न का दाना नहीं डाला था। वास्तव में जब से वासुदेव महाराज मरे थे, मैं अपना आपा खो बैठी थी। एक के बाद दूसरी विपत्ति मेरे ऊपर टूटी थी और जब मैं ने रात भर तीसरे दर्जे में सफर किया था। मेरा रूप तो समय ने पहले ही कम कर दिया था और अब मैं बड़ी ही घिनौनी बन गई थी। मैं सीधी रंगमहल जा पहुँची। किसी परिचित से मेरी भेंट नहीं हुई। मैं अपने रंगमहल की पौर पर जा खड़ी हुई।

सब से पहले मुझ पर उसी काने गंगाराम की नजर पड़ी। मुझे देख कर वह ऐसा चौंका जैसे अकस्मात सांप को देख कर लोग चौंक पड़ते हैं।

पर तुरन्त ही उस के चेहरे पर एक कुटिलतापूर्ण मुसकराहट फूट पड़ी। उस ने एक दो बार सिर हिलाया और होंठों में वह बड़बड़ाया। मैं ने उस से बात न की। चुपचाप पीर में घुस कर मैं एक ओर बैठ गई। हां, वहीं जहाँ मेरी दासियां बैठती थीं और जहाँ बैठने से मैं ने एक बार इन्कार कर दिया था। परन्तु आज तो तेज और दर्प कुछ भी मेरे पास न था। मैं भूखी थी, थकी थी, शोक और चिन्ताओं से अधमरी हो रही थी। आज तो मैं सड़क पर भी बैठ सकती थी। अब मान, सम्मान मर्यादा की क्या बात रह गई थी भला !

पर मुझे देर तक बैठना न पड़ा। एक दासी मुझे तुरन्त ही रानी के कक्ष में ले गई। रानी शायद अभी सो कर ही उठी थी। सम्भव है रात को अधिक दारू पी हो। आँखें उस की अब भी नशे में झूम रही थीं। वह बड़ी देर तक मेरी ओर बाघिन की भाँति घूर-घूर कर देखती रही। फिर उस ने कहा—"तेरी छोकरी कहाँ है, बोल ?"

मैं ने कहा—"मैं अन्नदाता की खिजमत में आई हूँ।"

"आई है सो तो ठीक है, पर तेरी छोकरी कहाँ है ? उसे हाजिर कर, वर्ना जीती खाल खींच लूंगी। मालजादी तू समझती थी कि तू छिप कर बैठी रहेगी। पर मैं तेरे खसम से ही सारा हिसाब बेबाक कर रही हूँ।" उस ने पुकार कर कहा—"कहाँ है रे किसना गुलाम।"

लड़खड़ाते पैरों से मेरा पति आया। उस का सारा मुंह सूजा हुआ था। पैरों में पट्टियां बँधी थीं। जगह-जगह उस के चेहरे और गर्दन पर घाव थे। उस के बाल बिखरे थे, उन में खून लग कर सूख गया था। मुझे देखते ही वह आहत पशु की भाँति कराह उठा। उस ने आह भर कर कहा—"तुम यहाँ क्यों आईं ?"

"अच्छा तो तू गूंगा नहीं है, बदजात बोलना जानता है। पर बात उस मालजादी से ही करेगा। इधर आ।"

मेरा पति नई रानी के पास जा खड़ा हुआ। रानी ने निर्लज्जतापूर्वक घुटनों से ऊपर तक अपनी टाँगें उघाड़ दीं और कहा—"पैर दबा।"

रानी की बेहयाई पर मेरी आँखें जल उठीं। मैं ने उधर से आँखें फेर लीं। पर मेरे पति ने रानी का हुक्म नहीं माना। रानी ने गर्ज कर कहा—"हमारा हुक्म सुना नहीं रे बदजात !"

पर मेरे पति ने इस पर भी कोई जवाब नहीं दिया। उस ने रानी की आज्ञा का पालन नहीं किया। रानी ने दाँत किटकिटा कर कहा—"लगा रे गंगाराम दस पाँच।"

और गंगाराम की बेंत मेरे पति की कनपटी पर सपाक से पड़ी। पर दूसरा हाथ उठने से पहले ही मैं लपक कर उस के आगे हाथ पसार कर आ खड़ी हुई। रानी ने कहा—"लगा, लगा, इस मालजादी को भी चखा।" दूसरी बेंत ने मेरे सीने और गले का माँस उधेड़ दिया। पर इसी समय मेरा पति मुझे पीछे धकेल आगे आ गया और अब हम पर बेभाव की मार पड़ने लगी। हम दोनों ही एक-दूसरे को बचाने में लोहू-लुहान हो गए।

मैं शीघ्र ही बेहोश हो गई। जब होश आया तब मैं ने अपने पति को अपने पास बैठे और बूंद-बूंद पानी मेरे मुंह में डालते देखा। मैं ने दोनों हाथ उठा कर उस के गले में डाल दिए और मैं फूट-फूट कर रोने लगी। यह हमारा प्रथम प्रेमालिंगन था।

मेरे पति के सब दाँत टूट गए थे। होंठ सूज रहे थे। उन में घाव भी थे। मालूम होता था कि उसे बुलवाने के लिए बहुत मार मारी गई थी। उसे गर्म लोहे से दागा गया था। उस ने बड़ी ही कठिनता से कहा, "इस नर्क में तुम नाहक आईं।"

मैं ने उस के गले में शिथिल बाहें डालते हुए कहा—"तुम्हारे बिना मैं कैसे रह सकती थी?"

उस की आँखों में भी एक आँसू आया। पर उस ने उसे पोंछ लिया। वह बहुत कुछ कहना चाहता था, पर कह न सकता था। उसे बोलने में बहुत कष्ट हो रहा था। उस की यह दशा देख कर मैं भय से पीली पड़ गई।

मैं ने कहा—"कहो, भाग निकलने की कोई राह है?"

"नहीं है हम जन्मजात गुलाम हैं, भागेंगे कहाँ? हमारे बाप-दादा भी इसी भाँति मरे और हमें भी यहीं मरना होगा।" आँसू फिर उस की आँखों से झरने लगे। पर मैं ने कहा—"नहीं, मैं नहीं मरूँगी। मैं तुम्हें भी नहीं मरने दूंगी।"

उस ने हताश वाणी में कहा—"क्या करोगी तुम? तुम न आती, सो ही अच्छा था।"

उस की वाणी में वेदना भरी हुई थी। मैं ने ध्यान से उस की ओर देखा। ऐसी कौन-सी यातना थी जो उसे नहीं दी गई हो। उस के नाखूनों में सूइयाँ घुसेड़ी गई थीं। लाठी के हूदों से दाँत तोड़े गए थे। धरती पर डाल कर लातों से उसे खूंदा गया था, गर्म सलाखों से उसे दागा गया था। यह आश्चर्य की ही बात थी कि वह जीवित था। उस ने कुछ कहा, मैं ने अन्दाज से ही समझ लिया, वह कह रहा था—"तुम कैसे यह यातना

बर्दाश्त करोगी।" मैं ने कहा—"कोई चिन्ता नहीं, अब तो तुम्हारे दुःख में हाथ बटाने मैं आ ही गई हूँ, अब तो जो कुछ होना है, एक साथ ही होगा।"

आँख के आँसू पोंछ वह उठ खड़ा हुआ। उठने बैठने और चलने में भी उसे कष्ट हो रहा था। उस ने उठ कर ताक से एक प्याला अपनी सूजी हुई उंगलियों में उठाया। उस में छाछ-बाजरे की बासी राबड़ी थी। वही हम गरीब गुलामों का प्रसिद्ध भोजन है। उसे मेरे हाथों में दे कर कहा—"थोड़ी खा लो, भूखी हो।" भूखी तो मैं थी ही। मै ने दो-चार कौर गले से उतारे, फिर बहुत-सा पानी पी गई। पर वह बासी पथ्य मुझ अभागिन के पेट में पचा नहीं। जोर की उलटी हुई और मुझे जूड़ी चढ़ आई। म ऐसी हिलने लगी कि जैसे आँधी में वृक्ष हिलते हैं। दाँत मेरे किटकिटा रहे थे। गूदड़ी-जैसी एक कथरी, जो वहाँ थी, उस ने मेरे ऊपर डाल दी। थोड़ी देर बाद मैं फिर बेहोश हो गई।

: ६० :

# भेद की बातें

दूसरे दिन जब मैं जगी तब मुझे बड़ा तेज बुखार था। मेरा सारा शरीर तप रहा था। मेरा पति चिंतित भाव से मेरे पास बैठा था। और मैं उस गन्दी कोठरी में भूमि पर पड़ी छटपटा रही थी। हमारा कोई हमदर्द न था। हमारी हालत उस कुत्ते के समान थी, जिसे मर जाने पर भंगी घसीट कर ले जाता है।

परन्तु गंगाराम के व्यवहार में बहुत अन्तर था। यद्यपि मेरे पूरे होश-हवास कायम न थे, फिर भी मैं यह बात समझ रही थी कि वह एकाएक मेरे ऊपर सदय हो गया है। वह कहीं से मेरे लिए दूध ले आया था और मेरे पति से कह रहा था कि एक कम्बल भी वह मेरे लिए ला देगा। उस दिन वह कई बार मेरे हालचाल लेने आया। मेरी तबियत कैसी है, यह भी पूछा। उस की वाणी में अब कर्कशता भी न थी। मैं उस के इस बदले हुए रुख पर ध्यान देने लगी। मैं ने अपने पति से कहा कि अगर यह कुछ लोभ लालच से हमें दिल्ली भाग जाने में सहायता कर सके तो चेष्टा करनी चाहिए। पर मेरा पति मुझ से अधिक सावधान था। उस ने कहा—"यह बड़ा पतित है। इस की इस नर्मी का भी कुछ रहस्य है।" उस की बात सत्य थी। कई दिन वह आता रहा, मेरे लिए

दवा भी लाता। इस बीच हमारे साथ मारपीट नहीं हुई। रानी ने हमें तलब भी नहीं किया। बड़ी बात समझिए। पर ज्यों ही मेरी तबियत जरा सुधरी उस ने अपना मतलब हमारे सामने रख दिया। उसने कहा कि यदि हम अपनी लड़की उस के सुपुर्द कर दें और एक खासी रकम दें तो वह हमें दिल्ली भगा सकता है। खासी रकम उसे दी जा सकती थी, पर मैं अपनी लड़की उस जानवर को कैसे दे सकती थी! घृणा से मै इतनी भर गई कि मै ने उसे कोई जवाब ही नहीं दिया।

हमारे ऊपर फिर सख्तियाँ होने लगीं। हमारे ऊपर जब-तब मार पड़ती। हमारे रोग-शोक की किसी को चिन्ता न थी, न हमारे खाने-पीने की किसी को सुध थी। रानी बारम्बार मेरी लड़की को तलब कर रही थी और हमारी जमा-पूंजी कहाँ है, यह पूछ रही थी। पर मैं ने स्पष्ट कह दिया था कि मैं इस सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी नहीं बतलाऊंगी।

अब कुछ विचित्र बातें भी मैं देख रही थी। मैं ने देखा कि रानी और गंगाराम में भी झगड़ा होता है। यह बड़े आश्चर्य की बात थी कि रानी गंगाराम से दबती थी। वह उसे कभी-कभी बड़ी-बड़ी बात कह देता था। कभी-कभी तो दोनों में गाली-गलौज भी हो जाती थी। गंगाराम रानी का अदब कायदा भी कुछ नहीं करता था। वह एक प्रकार से वहाँ का स्वामी था और वह जो चाहता था, रानी से करा लेता था।

दूसरी विचित्र बात यह थी कि रानी को अपने बच्चे से कुछ भी लगाव न था, फिर भी मैं ने न तो कभी रानी को उसे अपना दूध पिलाते देखा, न प्यार करते। लड़का या तो धाय के पास रहता या गंगाराम ही बालक का सबसे अधिक ध्यान रखता था।

रानी उस नीच गुलाम कुत्सित गोले से इतना क्यों दबती है, यह भेद मेरी समझ में नहीं आ रहा था, पर गंगाराम यद्यपि हमें अब भी धमकियाँ देता था, पर मारपीट और ज्यादती नहीं करता था। वह जैसे हम से मेल-मिलाप करना चाहता था।

ज्यों ही मैं कुछ स्वस्थ हुई, गंगाराम ने बालक-राजा को मेरे सुपुद कर दिया। उस ने मुझ से कहा—"बालक राजा का ध्यान रख, नही तो जीती नहीं छोड़ूंगा। मुझे खुश रखेगी तो किसना तेरे साथ रहेगा। तुझे कोई कुछ कहेगा भी नहीं।"

मैं ने बालक को अपने अधिकार में ले लिया। मै ही उसे नहलाती-धुलाती, खिलाती-सुलाती। अब मै ने और निकट से यह देखने का अवसर पाया कि रानी को बालक से बिलकुल लगाव नहीं है, अपितु वह उसे घृणा की नजर मे देखती है।

गंगाराम मेरी लड़की से ब्याह करना चाहता था, यह उस ने मुझ से स्पष्ट कह दिया। पर मै ने भी उसे बता दिया कि यह कभी होने का नहीं। गंगाराम के दबाव से रानी मुझ से मेरी लड़की की तलबी तो अवश्य करती थी, पर वह मेरी सम्पत्ति की चिन्ता में अधिक थी। अब तो यहाँ तक नौबत आई कि जब कभी रानी मुझ पर और मेरे पति पर कोई सख्ती करती, तब गंगाराम हमारा ही पक्ष लेता।

दिन बीतते चले गए। मैं बहुधा अपने बच्चों की सुध करती, जिन के समाचार तक जानने का मेरे पास कोई साधन नही था। साथ ही मैं अपने पति की दुरवस्था देखती, जिस का शरीर भीतरी मार से जर्जर हो गया था और जो अब उठने-बैठने के योग्य भी न रह गया था। मेरी धन-सम्पत्ति उसी के हाथ में थी, इस से रानी उसी को अधिक साँसत में रखती थी, पर वह मेरी भाँति रानी को स्पष्ट जवाब नहीं देता था, चुप्पी साथ जाता था।

रानी अब उसे स्वयं मारती-पीटती थी, क्यों कि गंगाराम ने मार-पीट से इन्कार कर दिया था। अनेक बार तो उस ने मेरे पति को रानी की मार से बचाया भी था। मेरा पति पथारी पर पड़ा रहता और मै उसे देख-देख कर आँसू बहाती रहती। उसे कहीं ऐसी चोट लगी थी कि उस के पेशाब के साथ खून आने लगा था। पर यहाँ न उस के पथ्य-पानी का कुछ प्रबन्ध था, न दवा-दारू का। मैं तो इसी को बड़ी बात

समझती थी कि आने वाला दिन सही-सलामत बीत जाए और हमारे साथ मार-पीट या कोई कड़ाई न हो। अब मैं यह भी देख रही थी कि रंगमहल में केवल रानी ही हमारी बैरिन है, दूसरा कोई नहीं। दास-दासियाँ भी प्रायः उस से बेजार थीं और उस की अवज्ञा कर बैठती थीं। वह बड़ी पियक्कड़ थी। दारू पी कर वह बहुत रात तक गाली-गुप्ता करती थी। गालियाँ उस की बहुत फूहड़ और अश्लील होती थीं।

एक दिन रात को गंगाराम मेरे पास आया। उस दिन मेरे पति की तबियत कुछ ठीक थी। अपनी गोद के सहारे बैठा कर मैं उस के पैरों में छाने की राख मलर ही थी, क्यों कि उस के दोनों पैर सूज गए थे। गंगाराम ने एक पुड़िया मेरे हाथ में थमा कर कहा—"इसे रानी को दे दो, उस चुड़ैल का बेड़ा पार हो जाए। फिर राजा को तू ही पालना। मैं दीवान जी से कह कर तेरा मुशाहरा बँधवा दूंगा। तू मौज से रहना।"

सुन कर मैं कांप गई। जहर की पुड़िया मैं ने फेंक दी। मै ने कहा—

"यह काम मैं नहीं कर सकती। मेरा जो होना है वह हो जाए।"

उस ने बहुत समझाया, डराया-धमकाया भी। पर मैं ने एक न सुनी। अन्त में वह यह कह कर चला गया कि इस बात की जरा-सी भी चर्चा रानी से की तो मार ही डालूंगा। मैं ने संक्षेप में कह दिया कि मैं किसी से न कहूँगी।

उस दिन से गंगाराम मुझ से भी दबने लगा, क्यों कि उस का एक भेद मैं जान गई थी। वह मेरे मुकदमे का हाल भी जानता था। सख्ती अब हम पर नहीं होती थी। मेरा पति तो अब उठ-बैठ भी न सकता था। बालक राजा की सार-सम्हाल के बाद जो समय बचता, उसे में अपने पति की सेवा में लगाती। पर बहुत यत्न करने पर भी मैं उस के लिए दवा-दारू न जुटा सकी। डा० राबर्ट अब रियासत से विलायत चले गए थे। दूसरे डाक्टर थे, पर मेरी वहाँ पहुँच न हो पाती थी। गंगाराम से कहा भी, तो उस ने यों ही इधर-उधर से गोलियाँ-पुड़िएं ला दीं। मेरा पति घुलता जा रहा था और मुझे उस के प्राणों का अन्देशा होने लगा था।

और भी कुछ दिन बीत गए। एक दिन आधी रात के समय रानी ने मुझे बुलाया। इस समय वह पूरे होश-हवास में थी। मुझे भीतर कर के उस ने द्वार बन्द कर लिया। फिर एक वैसी ही पुड़िया, जैसी गंगाराम ने मुझे दी थी, मेरी हथेली पर रख कर उस ने कहा—"खिला दे, उस छोटे शैतान को। फिर तेरी और तेरे आदमी की छुट्टी।"

जैसे अंगारा छूते ही आदमी चिहुँक पड़ता है, मैं ने अनायास ही वह पुड़िया दूर फेंक दी। भय-विस्फारित नेत्रों से मैं ने रानी को देखा और कहा—"यह क्या महारानी, आप अपने ही पुत्र की जान लेना चाहती हैं?"

उस ने कहा—"तुझे इस से क्या? तू छुट्टी चाहती है तो मेरा यह काम कर दे।"

मैं ने स्पष्ट कह दिया कि यह काम मैं नहीं कर सकूंगी और म द्वार खोल कर तीर की भाँति वहाँ से निकल आई। सो अच्छा ही हुआ। रानी मुझ पर उस समय कोई घातक आक्रमण करने वाली थी। मैं ने उस की गालियाँ सुनीं, पर रुकी नही। भय से मैं पीली पड़ रही थी। आकर मैं ने अपने पति से सब बातें कह दीं।

गंगाराम से मैं ने यह बात तो न बताई, पर इतना संकेत कर दिया कि बालक राजा खतरे में है और अब मै उस की रक्षा की जिम्मेदारी नहीं उठा सकती, वह कोई दूसरा प्रबन्ध कर ले।

मैं ने उस का भेद नहीं खोला था, इस से वह मुझ पर प्रसन्न था। अब वह सब बातें समझ गया था। उस ने मुझ से बहुत अनुनय-विनय की कि मैं बालक का ध्यान रखूं। इस के बाद रानी से उस की खूब लड़ाई हुई। यद्यपि मैं ने देखा नहीं, पर मैं समझती हूँ कि उसनेउस दिन रानी को मारा-पीटा भी।

मेरी बुद्धि चकरा रही थी। यह नीच गोला इतने अधिकार से यहाँ कैसे रह रहा था। यहाँ तक उस का साहस था कि रानी से मार-पीट तक करे? पर कैसे आश्चर्य की बात थी कि रंगमहल में यह हुड़दंग हो रहा था और उसे कोई देखने, समझने, रोकने वाला न था।

दूसरे ही दिन मैं ने सुना, रानी अपने मायके चली गई है। गंगाराम अब प्रसन्न था। उस ने मुझ से कहा—"अब तू चल कर महल में अपने कमरे में रह कर बालक को पाल-पोस। चली गई वह डायन रानी, तेरी दुश्मन। पर मुझे इस पशु पर पर तनिक भी भरोसा न था। फिर मेरे पति की दशा ठीक न थी। मैं अपने बच्चों के लिए भी चिन्तित थी। मैं ने उसी गंदी कोठरी में रहने का संकल्प किया। गंगाराम का अनुरोध नहीं माना।

*

: ६१ :

# किसुन का देहान्त

रानी के चले जाने से मुझे बहुत राहत मिली। गंगाराम अब हमारा बहुत ख्याल रखता था। भोजन भी हमें रनवास के रसोड़े से आता था। बच्चा अब डेढ़ वर्ष का हो गया था। पर अभी से इस बालक में बहुत-से दोष उत्पन्न हो गए थे। देखने में वह सुन्दर और सुरूप न था। जिद्दी भी था। कदाचित् पिछली धाय ने ये दोष उत्पन्न किए थे, या माता के दोष थे। मैं तो स्वभाव से ही बच्चों से प्रेम रखती थी। प्रेम मेरा इस बच्चे पर भी था, पर न जाने क्यों ममता नहीं उत्पन्न होती थी। फिर यह तो मेरे ऊपर जबर्दस्ती का एक भार लादा गया था। फिर भी मैं उस का लालन-पालन यत्न से करती थी। आखिर वह हमारा राजा था, अन्नदाता था, स्वामी था।

एक दिन मेरे पति ने रात के समय मुझे जगाया। उस की दशा एकाएक बिगड़ चली थी। उसे निरन्तर दस्त लग रहे थे। उस ने मेरे दोनों हाथ अपने सीने पर रख कर मन्द स्वर में कहा—"अब मैं जा रहा हूँ चम्पा, मेरे गुलाम जीवन का यह अन्त है। तुम हिम्मत न हारना। भगवान् पर भरोसा रखना। यहाँ से कभी तुम्हारी मुक्ति हो जाए तो बच्चों को अच्छी राह पर लगाना। मैं भगवान् के दरबार में अरदास

करूँगा कि वह तुम्हें और तुम्हारे बच्चों पर रहम करे।"

आँसू उस के गालों पर ढरक गए। मेरे मुँह से बड़ी देर तक बोली न निकली। बड़ी कठिनाई से मैं ने कहा—"ऐसी बातें क्यों करते हो, तुम बहुत जल्द अच्छे हो जाओगे।" इस का उस ने केवल एक फीकी मुसकान में जवाब दिया। मैं ने उस का बिछौना साफ किया, उस का शरीर साफ किया और दौड़ कर मैं गंगाराम को बुला लाई। गंगाराम ने कहा—"ठहरो, मै वैद्यराज को लाता हूँ।"

परन्तु वैद्यराज नहीं आ पाए और थोड़ी देर बाद मेरे प्रियतम चल बसे—सेवा, धैर्य और तप का आजीवन उद्यापन कर के। मेरा हाथ उन की छाती पर ही रहा। उन्होंने दो हिचकियाँ लीं और आँखें उलट दी। मेरा एक मात्र सहारा टूट गया। मेरी जिन्दगी अँधेरी हो गई। मैं हाय कर के उन की छाती पर गिर गई। मेरे दुःख का आज कोई साथी न था। मैं अकेली ही अपने दुःख में डूब-उतरा रही थी। मेरा दुःख इस रंगमहल में केवल मुझे ही छू रहा था। मैं याद कर रही थी उस दिन को, जिस दिन मेरा उन से ब्याह हुआ था। झूठ-मूठ का। केवल दिखावे के लिए। पर वह मेरे लिए कैसा सच्चा पति प्रमाणित हुआ। उस ने मुझे संसार के सभी पतियों से अधिक प्यार किया। सब कुछ मुझे दिया, मुझ से लिया कभी कुछ नहीं। धन्य था वह पुरुष-रत्न और धन्य थी मैं अभागिन गोली, जिसे इस नर-रत्न की पत्नी कहलाने का गर्व प्राप्त हुआ।

बड़ी देर तक मैं उन के वक्ष पर सिर धरे रोती रही। फिर मैं ने अपने मन को ढाढ़स दिया। मैं ने सोचा, अच्छा ही हुआ, इस दासता से उन की मुक्ति हो गई। अब कोई उन्हें वहाँ परलोक में गोला-गुलाम नहीं कह सकता था। वह अब भगवान् के दरबार में पहुँच चुके, जो दीन-बन्सल हैं, दीन-दयालु है, दीनानाथ हैं।

मैं ने आँसू पोंछ लिए। दिन निकल आया था। गंगाराम वैद्यराज को ले आया था। पर अब उन का क्या काम था?

मैं ने अकेले ही उन के शरीर को भली-भाँति साफ किया। मेरे

पास एक ही धुली साड़ी थी। उसी से मैं ने उन के शरीर को लपेट लिया। रंगमहल के सभी गोले-गोलियाँ वहाँ आ जुटे। पर सभी तमाशाई थे, वे अब भी अपनी-अपनी आलोचना कर रहे थे। गंगाराम ने अवश्य इस समय मेरी मदद की। मेरे पति की शव-यात्रा हुई और चिता भी जली। मेरा मन हुआ मैं चिता में कूद कर सती-धर्म का पालन करूँ, परन्तु फिर सोचा यह तो महा-पाखण्ड होगा। मैं ने अपने अतीत कुत्सित जीवन पर नजर डाली। बच्चों का ध्यान किया। कदाचित् मुझे बच्चों के बीच रहने का अवसर मिल जाए। मैं ने अभी तक हिम्मत नहीं छोड़ी थी। जब तक चिता जलती रही, मैं एकटक उसे देखती रही। फिर धरती पर माथा टेक कर मैं ने उस जाने वाले देवता को विदा किया और लौट आई उस सूनी कुटिया में, जहाँ तब भी उनकी वेदनाएँ मूर्त्त हो रही थीं।

: ६२ :

# मुक्ति

और भी कुछ दिन बीते। एक दिन ऐसा भी आया कि आँसू सूख गए और मेरे प्रियतम की एक स्मृति ही मेरे साथ रह गई। मैं कभी अपनी मा को, कभी कुँवरी को, कभी केसर को, कभी वासुदेव महाराज को, कभी अपने प्रियतम और कभी राजा को याद कर लेती थी और बहुधा विचार में मग्न हो जाती थी। परन्तु सब सूना, सब कुछ असार ही दिखाई देता था। कैसा विचित्र था यह संसार का खेल। जीवन समाप्त हो रहा था पर गुलामी के बन्धन थे कि टूट नहीं पाते थे। मुझे अपने बच्चों की कोई खोज-खबर नहीं मिलती थी। उन्हें छोड़ कर जिस प्रियतम की खोज में आई थी, वह भी बिछुड़ गया था। रह गई थी यह दासता, जो मेरे रक्त के साथ थी। अब तो मेरा सारा ही प्यार, सारा ही रस इस एक बालक राजा पर केन्द्रित हो गया था, जिस के पालन-पोषण का भार मेरे ऊपर था। धीरे-धीरे उस पर मेरी ममता भी उत्पन्न होती चली जा रही थी। संक्षेप में अब वही मेरे जीवन का सहारा था।

उधर दुनिया में नई-नई घटनाएं घट रही थीं। महाराज्यों की सीमा रेखाएं खण्डित हो रही थीं। यूरोप का राष्ट्रवाद कराह रहा था। आसमान तक चढ़ी हुई अंग्रेजों की मूंछें नीचे झुक गई थीं। वे भारत का

छोड़ कर जा रहे थे। भारत में अब अपना ही—भारतीयों का राज्य होने वाला था और सब मुसलमान पाकिस्तान जा रहे थे। भाँति-भाँति की बातें सुनने में आ रही थीं, जिन्हें मैं गोली ठीक-ठीक नहीं समझ पाती थी। मैं तो यही चाहती थी कि अंग्रेजों का राज्य चला जाए, इन सब राजाओं को भी वे अपने साथ-साथ समुन्दर पार ले जाएं, तो हम गोली-गुलामों को मुक्ति मिले।

कुछ दिनों बाद सचमुच ही अंग्रेज भारत छोड़ गए। गांधी जी का भगीरथ प्रयत्न सफल हुआ। मुसलमानों ने भी पाकिस्तान बना लिया। यह अफवाह जोरों पर थी कि पाकिस्तान से सब हिन्दू निकाले जा रहे हैं। लाहौर जल रहा है, मगर दिल्ली के घंटाघर पर सतरंगी रोशनी हो रही है। फिर सुना, दिल्ली में भी मारकाट मची है। भगदड़ मची हुई है, किसी की जान-माल की खैरियत नहीं है। अपने बच्चों के लिए मैं छटपटाने लगी। न जाने उनका क्या होगा। मैं केवल भगवान से प्रार्थना करती थी। मारकाट और खून-खराबी की घटनाओं की खबर पंजाब, सिन्ध और राजस्थान के भिन्न-भिन्न अंशों से विकृत हो कर रंग-महल में आ रही थी, जिन्हें सुन-सुन कर मेरा कलेजा काँप जाता था। लेकिन मैं कहाँ तक रोती ! कहाँ तक कलपती। किन-किन बातों पर विचार करती। मैं ने तो अब अपने को भगवान के ही अर्पण कर दिया था। 'निर्धन के धन राम धनी रे' मैं गाती और आँसू बहाती। बालक-राजा की सेवा मेरा व्रत था। गंगाराम मेरे ऊपर सदय था। फिर भी मैं उस पर विश्वास नहीं करती थी। कौन-जाने कब यह पशु क्या करे। यद्यपि रंगमहल में वह बहुत धींगामुश्ती करता था, पर रानी की गैर-हाजिरी में उस की जोत भी फीकी पड़ गई थी। रियासत के सब काम नया अंग्रेज दीवान कर रहा था, जिस ने शायद उस के काले कारनामे सुने थे और उस की तम्बीह भी की थी। इसी से वह अब अधिक नम्र बन गया था—खास कर मेरे साथ, चूंकि बालक राजा मेरे ही हाथों पल रहा था।

एक दिन एक सर्वथा अनहोनी बात हुई। वासुदेव महाराज का पुत्र और मेरा बड़ा लड़का दोनों ही एक दिन सुबह दिन निकलते ही रंगमहल में अनपेक्षित रूप में आ धमके। मेरे बेटे ने मेरे चरणों की रज ली। वासुदेव महाराज के लड़के ने भी प्रणाम किया। उनके साथ और भी अनेक कांग्रेसी जन थे। तभी मुझे ज्ञात हुआ कि पुण्य-प्रताप सरदार पटेल ने सब देशी राज्यों का विलय कर लिया है। अब भारत में कोई राजा नहीं है। अखण्ड भारत में अब जन-राज्य की स्थापना हुई है। इस विलय ने अब हम जन्म-जन्म के गुलाम—गोलियों को भी मानवीय अधिकारों से सम्पन्न कर दिया है। अब हम भी अपने को मनुष्यों में गिन सकते हैं।

मैंने भूमि पर सिर टेक कर देवता-स्वरूप उस सरदार पटेल के पुण्यनाम को नमस्कार किया। दुनिया ने तो यही जाना कि देशी राज्यों के विलय के साथ वहाँ की सरकार भी प्रजातंत्री हो गई। लोग जानते होंगे कि मैं और मेरे जैसे हज़ारों गुलाम गोली-गोले भी उस के पुण्यहस्त से सदा के लिए स्वतंत्र हो कर मानवीय अधिकारों से सम्पन्न हो गए।

मेरे पुत्र ने हंसकर कहा—"चलो मा, हम सब तुम्हें लेने आए हैं।" मेरी आँखें तो आँसुओं से अंधी हो रही थीं। चुपचाप मैं ने बालक-राजा को एक बार चूम कर उसे गंगाराम के हवाले किया। उस निर्मम पशु के भी नेत्रों में जल भर आया। उसने हाथ जोड़ कर मुझे प्रणाम किया।

मैं वहाँ से चल दी। अपने जन्म-जन्म की दासता को वहीं झाड़-पोंछ कर।

वासुदेव महाराज के घर आ कर हमारा नहाना-धोना, खाना-पीना हुआ। तभी मुझे ज्ञात हुआ कि वासुदेव महाराज का यह सुशील पुत्र अब मिनिस्टर बन गया है। राजस्थान में भी अब जन-राज्य का श्री-गणेश हो गया है।

मैं अपने बच्चों को देखने के लिए अधीर हो रही थी। उसी दिन

मैं अपने पुत्र के साथ दिल्ली चली आई। उन्हें अपनी छाती से लगा कर मैं ने बहुत आँसू बहाए। पर ये सुख के आँसू थे। बच्चों ने भी अपने पिता—मेरे पति के लिए रुदन किया। अन्त में दुःख के बीते हुए दिनों को एक ओर धकेल कर हम अपने नए जीवन में प्रविष्ट हुए।

: ६३ :

# शेष जीवन

मेरा वकील बहुत सज्जन पुरुष था। उसने मेरी सम्पत्ति की बहुत उत्तम व्यवस्था कर दी थी तथा मेरे बच्चों की भी अच्छी देखभाल की थी। मेरा पुत्र उन्हीं के साथ दिल्ली-कोर्ट मे प्रैक्टिस करने लगा था। अपनी प्रखर बुद्धि, कठोर श्रम और मिलनसारी से वह इसी अल्पकाल में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया था। उसकी प्रैक्टिस चमक चली थी और कोर्ट में उसका नाम आदर से लिया जाने लगा था।

केसरीसिंह एक प्रकार से मेरे लिए वरदान सिद्ध हुआ था। उस ने पिता की भाँति मेरे बच्चों की रक्षा की थी। हम लोग भी उसे नौकर नहीं, अपने परिवार का एक सदस्य ही समझते थे।

अब तो हमारे सामने कोई विघ्न-बाधा नहीं थी। मैं ने अपने सब फालतू हीरे-जवाहरात बेच दिए और पृथ्वीराज रोड पर यह कोठी खरीद ली। कोठी बहुत शानदार है। उसे मैं ने अपनी रुचि के अनुसार सजाया है। अब आसपास के सभी भद्रजन मुझे एक भद्र महिला के रूप में जानते हैं। यह कौन जानता है कि मैं जन्म-जन्म की गोली, अधम स्त्री जाति की कलंक गोली चम्पा हूँ।

मेरा बंगला बहुत प्रसिद्ध हो गया है। वास्तव में मुझे फूलों से बहुत प्रेम है। दूर-दूर देशों के विदेशी दुर्लभ फूलों के पौधे मैं ने अपने यहां

लगाए हैं। मेरे गुलाब लोगों को बहुत पसन्द हैं। इन फूलों के कारण राजधानी के अनेक गण्य-मान्य महापुरुषों से मेरा सौहार्द है। ये लोग मुझे चम्पा बहन कहते हैं। पुण्यश्लोक सरदार पटेल की पूरे कद की संगमर्मर की मूर्ति मैं ने अपने बंगले के प्रांगण में स्थापित की है। प्रति दिन ताजे फूलों से मैं उसका शृङ्गार करती हूँ।

जैसे वे दिन बीत गए, उसी भाँति ये दिन भी बीतते चले जा रहे हैं। मेरी लड़की ने एम० बी० बी० एस० पास कर लिया है, और मैं ने उसका विवाह उसी की पसन्द के एक दक्षिणात्य अभिजात्य कुल के ब्राह्मण से कर दिया है। यह तरुण-सुशल और मेधावी है। चरित्रवान है, पर दरिद्र परिवार का है। वह मेरी लड़की के ही साथ चिकित्सा-शास्त्र पढ़ता था। विवाह कर के मैं ने दोनों को अमरीका भेज दिया था, वहां से वे दोनों उच्च-शिक्षा प्राप्त कर लौट आए हैं और अब एक बड़े अस्पताल के संचालक हैं। दूसरी लड़की ने भी साहित्यरत्न और एम० ए० कर लिया है। उसका विवाह हाल ही में मैं ने पदच्युत राजा से कर दिया है, जिस के अहसान के भार से मैं दबी हुई हूँ। ये दोनों मेरे साथ ही रहते हैं। मेरे पुत्र का विवाह भी एक बड़े अफसर की विदुषी पुत्री से हुआ है। वे कुछ दिन पूर्व तक मेरे पड़ोस में ही रहते थे। अब अपनी यह कोठी पुत्री और दामाद को देकर मसूरी की अपनी कोठी में चले गए हैं। मेरी छोटी लड़की दिल्ली विश्वविद्यालय में तथा छोटा पुत्र घर पर ही पढ़ रहा है।

अब मेरी यह अकथ कहानी समाप्त ही हो गई थी। हमारे सुख के दिन बीत रहे थे। पुरानी स्मृतियाँ कभी-कभी अवश्य चोटें कर जाती थीं, पर मैं एक निर्लिप्त वीतराग पुरुष की भाँति सन्तोष से अपने जीवन का शेष भाग व्यतीत कर रही थी। मेरी पुत्री के पुत्र हुआ था, और पुत्र को पुत्री। इस से मेरे सुख में और भी वृद्धि हो गई थी। मैं चाहती थी कि अब मैं अपनी कलम रख दूं, कि अकस्मात् एक अद्भुत घटना घट गई। अब मैं आपको बिना उसे सुनाए तो लेखनी रखूंगी नहीं।

*

: ६४ :

# नई रानी की करुण कहानी

इस नई कोठी में आए मुझे सात बरस बीत चुके थे। मैं अपने नए जीवन की इतनी अभ्यस्त हो चुकी थी कि पुरानी बातों को लगभग भूल ही गई थी। पदच्युत राजा अब मेरे साथ ही मेरी कोठी में रहते और मेरी स्टेट की देखभाल करते थे। अब तो वह मेरे दामाद थे। मेरा काम तो अब अपनी बेटी के बेटे को गोद में खिलाना-उछालना ही था। मेरा बेटा पड़ोस की कोठी में रहता था। दिन में वह कचहरी चला जाता तो बहू बच्ची को ले कर मेरे पास चली आती थी। मुझे अपने बच्चों को खिलाने का सौभाग्य तो प्राप्त नहीं हुआ था। अब मैं अपने बच्चों के बच्चों को खिला कर स्वर्गीय सुख की अनुभूति करती रहती थी।

दिन अपनी राह जा रहे थे कि एक दिन एक दीन-हीन मुसलमान वृद्धा स्त्री मेरे सम्मुख आ खड़ी हुई। केसरीसिंह उसे ले आया था। वह बहुत डरी हुई थी और घबरा रही थी। केसरीसिंह ने मुझे बताया कि वह सुबह से ही धरना दिए बैठी है, आप से मिलने की हठ किए है। मैं ने उस की ओर देखा और पूछा—"तुम्हारा किस से काम है बूढ़ी मा ?" उस ने कहा—"चम्पारानी से।" इतने दिन बाद अपना पुराना नाम सुन कर मैं चिहुँक उठी। सब लोगों को वहाँ से हटा दिया। एकान्त होने पर

मैं ने उस से पूछा—"कहो, मेरा ही नाम चम्पा है. तुम्हारा मुझ से क्या काम है ?"

उस ने कहा—"आप मेरे साथ चलिए। वह मर रही है और आप को याद कर रही है। मैं बडी कठिनाई से यहाँ आ पाई हूँ। उस की हालत बहुत खराब है।"

"वह कौन ? तुम किस की बात कह रही हो ?"

"उस का नाम चन्द्रमहल है, रानीजी। वह कहती है कि आप उसे जानती हैं। वह आप ही के देश की रहने वाली है।"

चन्द्रमहल का नाम सुन कर मैं जड़ हो गई। तो क्या चन्द्रमहल रानी यहाँ आई है ?

मै ने उस मे पूछा—"वह कहाँ हैं ? और किस हालत में हैं ?"

उस ने कहा—"पहाड़गंज में है, मेरे ही घर में रहती है, डेढ़ बरस हो गया। आदमी उस का मर गया है और उस के पास फूटी कौड़ी भी नहीं है। और अब तो वह कुछ घड़ी की ही मेहमान है। आप से मिलने को उस की आत्मा तरस रही है, आप चल कर उस से मिल लीजिए।"

मैं ने धड़कते कलेजे से कहा—"उस का आदमी क्या करता था ?"

"जी, हमारे यहाँ नगीने घिसे जाते हैं। उस का आदमी हमारे यहाँ सान खींचने की नौकरी करता था। तनखा पाता था तीस रुपए। पर दमे का बीमार था। पहले तो वह दूसरे महल्ले में रहती थी। अपने आदमी के लिए रोटी ले कर आती थी तो दोपहरी में मेरे पास बैठती थी। इस से उस के साथ मेरा मोह हो गया। मै ने एक कोठरी अपने घर में खाली कर दी थी, तब से वह उसी में रहने लगी थी। पर छः महीने हुए उस का आदमी मर गया। वह बहुत रोई, कलपी। मुझे तरस आ गया। आखिर रानीजी, आदमी ही आदमी के काम आता है। सो मैं ने उसे वहीं रहने दिया। किराया कुछ नहीं लेती। अब वही अपने आदमी की जगह सान खींचती है। पर तुम जानो रानीजी, यह तो

कसाले का काम है। वह बीमार पड़ गई। हकीम कहते हैं हड्डियों में बुखार बैठ गया है।"

मैं कुछ समझ नहीं पा रही थी। मै ने उस से और दो-चार प्रश्न पूछे और अब मुझे भरोसा हो गया कि यह अवश्य ही रानी चन्द्रमहल है। मैं ने उस औरत को दासी के साथ कुछ खाने-पीने के लिए भेज दिया और केसरीसिंह से गाड़ी निकालने को कहा। फिर मैं ने अपने दामाद को बुला कर संक्षेप में सारी बातें कहीं और उसे संग ले कर मैं बुढ़िया के साथ चल दी।

चन्द्रमहल रानी ही थी वह। अथवा यों कहिए कि वह चन्द्रमहल का कंकाल था। एक रत्ती भर भी मांस उस के अंग पर न था। एक दम सूख कर काँटा हो गई थी। वह धरती पर एक टाट के टुकड़े पर पड़ी थी। बदन पर कहने को एक चिथड़ा था। मुझे देख कर उस ने बड़े कष्ट से दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। फिर उस की दोनों आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। उस के मुँह से शब्द नहीं निकले। देख कर मेरा कलेजा मुँह को आने लगा। मै वहीं गंदी धरती पर बैठ गई और उस का सिर उठा कर मैं ने अपनी गोद में रख लिया। अपने आँचल से उस के आँसू पोंछे। न जाने कब मेरी आँखों से भी गंगा-जमुना की धारा बह चली। बुढ़िया को मै ने टरका दिया। मेरा दामाद भी मेरे पास बैठ गया। मै ने कहा—"रानीजी, यह आप की कैसी हालत हो गई है? और यहाँ आप इस हालत में कैसे आ पड़ीं?"

वह बड़ी देर तक रोती ही रही। मैं ने उसे बहुत ढाढ़स बंधाया। पानी उस के मुँह में डाला, तब उस ने अपनी अकथ कहानी कहनी आरम्भ की, जिसे सुन कर मेरी हड्डियाँ भी ठण्डी पड़ गईं।

उस ने बताया—"दो बरस हुए तब मैं ने एक दिन तुम्हें चाँदनी चौक में देखा था। राजा तुम्हारे साथ था और शायद तुम्हारी लड़की भी थी। मैं ने तुम्हें पहचान लिया और फिर तुम्हारी कोठी का भी पता लगाया। बहुत बार चाहा कि तुम से मिलूं। अपनी पाप-कथा तुम से

कहूँ, शायद माफ कर दो। पर हिम्मत नहीं हुई। कैसे मैं तुम्हें अपना काला मुँह दिखाती, कैसे अपनी पाप-कथा तुम्हें सुनाती ? क्या दुनिया में मुझ-जैसी पापिन कोई दूसरी भी पैदा हुई है ?"

मैं चुपचाप सुनती रही। विघ्न डालना मैं ने ठीक नहीं समझा। कुछ दम ले कर उस ने फिर कहा—"तुम बड़ी तेजवती हो, उदार हो, तुम ने दुःख सहे हैं, दर्द झेले हैं। दुःख-दर्द का मर्म समझती हो। फिर स्त्री हो। शायद तुम माफ कर देतीं। पर राजा को मैं कैसे मुँह दिखा सकती थी। मेरा जुल्म, मेरा पाप क्या साधारण था ? मैं ने ही राजा को राज-सिंहासन से उतारा। उस के भाग्य का सितारा अस्त कर दिया। उसी पाप का यह दण्ड भोग रही हूँ।"

वह मेरे दामाद की ओर देख कर फिर झर-झर आँसू बहाने लगी। मेरे दामाद ने आदर-पूर्वक उस का हाथ अपने हाथों में ले कर कहा—"माताजी, आप ने तो मेरा कुछ अपराध किया नहीं। आप के पुत्र का गद्दी पर हक था। उस के लिए गद्दी छोड़ने में मुझे क्या उज्र हो सकता था ?"

रानी ने कहा—"झूठ, झूठ, झूठ ! मेरा कोई पुत्र नहीं था। मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ ही नहीं। सब जाल था, जाल। कोरी धोखेबाजी। वह मेरा पुत्र नहीं, हर्गिज नहीं, कभी नहीं।" आवेश में आ कर उस का सर्वांग काँपने लगा। मैं ने दामाद की ओर देखा, उस ने भी आँखों ही के संकेत से कहा—"कदाचित् रानी का दिमाग खराब हो गया है।"

पर रानी ने दृढ़, किन्तु धीमे स्वर में कहा—"तुम समझते हो कि मैं पागल हूँ और मेरा दिमाग खराब हो गया है ? पर मैं बिलकुल होश में हूँ। मैं सच कह रही हूँ। बड़ा भारी कुचक्र चला था, चम्पा ! एक दम जाल, वह लड़का मेरा नहीं, उस पतित, पापी कुमार्गी गुलाम गंगा-राम का था।"

इतना कह कर रानी हाँफने लगी। हम दोनों की हालत ऐसी हो गई थी, जैसे रगों में खून सर्द हो कर जम गया हो। मुझे वे सब बातें अब

याद आ रही थीं। रानी का उस बालक के प्रति विराग, उसे मार डालने की चेष्टा और गंगाराम का उस बालक के प्रति आकर्षण। उस के कारण मेरे प्रति सदय भाव। बहुत-सी बातें जो तब समझ में नहीं आ रही थीं, आज साफ हो रही थीं। पर अभी मैं सत्य बात समझ नही रही थी, मैं कुछ हतबुद्धि-सी रानी की ओर देखने लगी।

मैं ने कहा—"रानी जी, आप का जी इस समय ठीक नहीं है। आप अपना मन शान्त कीजिए।"

"मेरा मन तभी शान्त होगा जब सब बातें सच-सच तुम्हें बता दूंगी। देखो, यहाँ कलेजे में मेरे आग धधक रही है। मैं उस में जली जा रही हूँ। वह तभी ठण्डी होगी जब सब बातें तुम्हें बता लूंगी। तुम जो दण्ड दोगी वह मैं सहर्ष स्वीकार करूँगी। तुम्हारा दण्ड स्वीकार कर के मेरा पाप हलका हो जाएगा।"

मैं ने कहा—"खैर, आप जो कुछ कह रही थीं, वही कहिए।"

उन ने कहा—"उस पतित गंगाराम से मेरा बचपन से ही सम्बन्ध था। वह हमारे घर का गोला था। एक गोली से उस का ब्याह मेरे पिता ने कर दिया था। पर उस की मुझ पर शुरू से ही बुरी नजर थी। मैं कच्ची उम्र की अज्ञान लड़की, उस के फन्दे में फँस गई और उस ने मुझे उसी उम्र में भ्रष्ट कर दिया, जिस उम्र में लड़कियाँ इन बातों को समझती भी नहीं हैं। फिर उस ने लाल जी खवास से मिल कर एक बड़ी रकम ऐंठी और राजा से मेरा ब्याह हो गया। खवास ने और इस गंगाराम ने राजा को तुम्हारे विरुद्ध खूब भड़काया और मेरे रूप की बढ़-बढ़ कर तारीफ की। मेरे बाप का ठिकाना कर्जदार था। तीन लाख रुपया ले कर मेरे बाप ने बूढ़े राजा के साथ मुझे ब्याह दिया। उस समय तुम आबू में थीं। वहाँ से तुम लौट कर आओगी, इस का किसी को विश्वास न था, क्यों कि तुम्हें जान से मार डालने का सारा प्रबन्ध लाल जी खवास और गंगाराम ने कर डाला था। राजा को भी यह भरोसा

दे दिया गया था कि मेरे मरने पर मेरा सारा धन राजा को वापस मिल जाएगा तथा मेरे साथ मौज-मजा करने में कोई बाधा न रहेगी।

"पर तुम न केवल बच गईं, बल्कि तुम ने उन का भण्डाफोड़ ही कर दिया। लालजी जेल गए, पर राजा को तुम ने बचा लिया। अब हम ने राजा की हत्या करने की ठान ली। इस समय गंगाराम की औरत को गर्भ था। हम ने यह योजना बनाई कि राजा की हत्या कर डाली जाए, फिर गंगाराम के लड़के को अपना लड़का कह कर उसे राजा बना, उस की आड़ में रियासत में मौज-मजा किया जाए।

"राजा को जहर देने में हमें कुछ भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। उसे हम ने शराब में मिला कर जहर दे दिया। राजा मर गया। हमारे ऊपर किसी ने संदेह नहीं किया। राजा के मरने पर नए राजा गोद आए। गद्दी-नशीन हुए। उस समय हम चुप रहे। हमें डर था कि कहीं हमारा खेल न बिगड़ जाए। पर बाद में मैं ने अपने को गर्भवती प्रसिद्ध कर दिया और भेद खुल जाने के भय से रंगमहल से हट कर मायके चली आई। वहाँ बालक होने का पूरा नाटक खेला गया। लेडी डाक्टर को उस की फीस देने के लिए अवश्य मुझे अपने सारे जेवर बेचने पड़े, पर अब मुझे इसकी परवाह न थी। मैं तो अब राज्य की मालकिन ही होने वाली थी। हमें एक यह अन्देशा अवश्य था कि कहीं गंगाराम की औरत के लड़की न पैदा हो जाए। इस के लिए हम ने दो-तीन और ऐसी औरतें जुटा ली थीं, जिन को उन्हीं दिनों बच्चा होने वाला था। परन्तु गंगाराम की औरत के लड़का ही हुआ। उस औरत को हम ने डाक्टर की मदद से जचकी में ही खत्म कर दिया, और तब यह प्रसिद्ध कर दिया कि मेरे बच्चा हुआ है, जो राज्य का उत्तराधिकारी है।

"सब काम ठीक-ठाक हो गया था और गंगाराम का लड़का राजा स्वीकार कर लिया गया था। उस पापी का मतलब पूरा हो चुका था। अब मैं उस की आँखों का काँटा बन गई थी। क्यों कि मैं ही अकेली इस मामले की राजदाँ थी। अब वह मुझे दबाने लगा। मैं भी उस से दबती

थी। उस से मिल कर मैं बड़े-बड़े अपराध कर चुकी थी। मुझे अपने भी फँसने का भय था। उसी ने मुझे मजबूर किया कि मैं तुम्हें और तुम्हारी लड़की को उस के हवाले कर दूँ। उस ने मुझे इस बात के लिए मजबूर किया कि मैं तुम्हारे पति को फँसा कर उस से तुम्हारी सब रकम वसूल कर के उसे दे दूँ। पर तुम्हारा पति तो मर मिटा, लेकिन उस ने मेरी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखा। मैं जवान थी, रानी थी, सुन्दरी भी थी। तुम्हारा जैसा जीवन गया था, वह मैं जानती थी। मुझे आशा थी कि वह मेरे हत्थे चढ़ जाएगा। पर इस में मुझे सफलता नहीं मिली। बहुत बार हम ने उसे जहर देने की सोची, पर हमें अभी उस से कोई बड़ी रकम मिलने की आशा थी। उसे जितनी यातना दे सकते थे, हमने दी। उस ने जान दे दी, पर आन न छोड़ी। ऐसे कांटे का था तुम्हारा पति।"

रानी फिर कुछ देर को चुप हो गई। हमारी हालत विचित्र हो रही थी। मैं नहीं जानती थी कि अब आगे और क्या सुनने को मिलेगा। रानी ने फिर कहना शुरू किया—"जब तुम्हारे पति से हमें कोई आशा न रही तब हम ने तुम्हारी खोज-ढूंढ़ की। पर तुम न जाने कहाँ जा छिपी थीं। अगर दुर्भाग्य से तुम और तुम्हारी लड़की उस समय हमें मिल जाती तो न जाने क्या होता।

"उस दिन जब अकस्मात् तुम मेरे सामने आ खड़ी हुईं, तब मेरा मन जल उठा। मैं तुम्हारे सामने ही तुम्हारे पति को गिराना चाहती थी, पर मुझे सफलता नहीं मिली। इसी समय गंगाराम के मन का भाव बदल गया। उस ने अब तुम्हें अपना साधन बना कर मुझे दूध की मक्खी की भाँति निकाल फेंकना चाहा। अपना लड़का उस ने तुम्हारे सुपुर्द कर दिया। जब तक सरकारी कागज-पत्र दुरुस्त नहीं हुए और बड़े लाट ने जब तक उसे राजा स्वीकार नहीं किया, तब तक तो वह इधर-उधर करता रहा। पर ए. जी. जी. का हुक्म आते ही तो वह मेरी जान का गाहक बन बैठा। कब वह मुझे जहर दे कर मार डालेगा, इस का कोई

भरोसा न था। अतः मैं रंगमहल से भाग निकली। पीहर आई तो यहाँ का भी रंग ठीक न था। कुछ लोग तो ऐसे थे ही, जो सच्ची बात जानते थे। अतः मेरे वहाँ जाते ही काँव-काँव मच गई।

इसी समय भाग्य ने मुझे एक ठोकर दी। एक ठाकुर बाबू रियासत में कहीं बाहर से सर्वे करने को आया हुआ था। एक-दो बार गंगाराम ने ही मुझ से उस का परिचय कराया था। ठाकुर पढ़ा-लिखा, सुन्दर जवान था। इन दिनों वह यहीं मेरे पीहर में ठहर कर सर्वे कर रहा था। यहाँ मेरी उस की और भी घनिष्टता हो गई। अब मैं अधिक अपनी लाज उघाड़ना नहीं चाहती। संकेत ही से समझ लो। मेरी-जैसी मूढ़ पतिता स्त्री को गिरने में देर क्या लगती थी। उस ने मुझे बड़े-बड़े सब्ज बाग दिखाए। अब इधर मुझे अपनी जान का खतरा था, सो सब माया-मोह छोड़ मैं चुपचाप उस बाबू के साथ भाग खड़ी हुई। वह मुझे यहाँ अपने गाँव ले आया। मेरठ के निकट उस का गाँव था। गाँव में उस को छोटा-सा कच्चा छप्पर वाला घर था, जिस में एक अन्धी बुढ़िया उस की मा या दादी थी। उस ने मुझे अपनी ब्याहता जोरू कह कर सब को मेरा परिचय दिया। पर यहाँ का वातावरण तो मुझे भाया ही नहीं। यहाँ मुझे दूर कुएँ से पानी भर कर लाना पड़ता। रोटी पकानी और बर्तन साफ करने पड़ते। ये काम तो मैं ने कभी जीवन में किए न थे। पर अब क्या हो सकता था! मैं घर छोड़ चुकी थी और मेरा खुल्लम-खुल्ला मुँह काला हो चुका था। इस से तो उस पतित गंगाराम की गुलामी करना या उस के हाथ से जान खो देना लाख अच्छा था। पर अब तो तकदीर मुझे यहाँ खींच लाई थी। जैसे-तैसे दिन काटने आरम्भ किए, पर यहाँ तो खाने का भी ठिकाना न था। उस ने मुझे झूठे ही सब्ज बाग दिखाए थे।

मैं ने उस से काम-धन्धा रोजगार करने को कहा और वह मुझे ले कर रोजगार की तलाश में दिल्ली आया। दरीबे में हम ने बारह रुपए माहवार पर एक छोटा-सा घर किराए पर लिया। पर वह आदमी, जो

मेरा पति बनता था, किराया भी न दे सकता था। एक दिन वह दो दिन के लिए गाँव गया और फिर लौट कर नहीं।

अब मैं सोलह आना उस घर के मालिक की कृपा पर निर्भर थी। उस की दरीब में पीतल के जेवरों की एक दूकान थी। उस ने अब मुझे उस मकान से हटा कर पहाड़गंज के एक मकान में रख दिया। वह मुझे तीस रुपए माहवार देता था और दूसरे-तीसरे दिन मेरे पास आता था। तीस रुपयों में बड़े कष्ट से मेरा निर्वाह होता था। परन्तु मेरी तकदीर देखिए कि कुछ दिन बाद वह भी मर गया और मैं निपट निरीह हो गई।

इसी मकान में मेरा परिचय एक और आदमी से हुआ। वह जात का मुसलमान था, नीचे की एक कोठरी में रहता था। वह इन लोगों के यहाँ सान खींचने का काम करता था। कभी-कभी वह मेरा कुछ सौदा-सुलफ ला देता था और मैं उसे बचा-खुचा खाना दे देती थी। बनिए के मरने पर मेरी बुरी हालत देख उस ने मुझे अपने घर में डाल लिया और खाने के खर्च से मैं बेफिक्र हुई। पर उसे तनख्वाह सिर्फ तीस रुपए मिलते थे। हमें उसी तनख्वाह में गुजर करनी थी। मै उसी की गंदी कोठरी में आ रही। वह सुबह ही सान खींचने चला जाता और मैं रोटियाँ ले कर दोपहर को वहाँ जाती। शाम तक सान वाले की बीवी से बातें करती। बुढ़िया भलीमानस है। कुछ-न-कुछ देती रहती थी। पर अभी तो मेरी किस्मत को चार चाँद लगने थे, एक दिन वह भी चार दिन की बीमारी में मर गया।

अब तो मुझे इन्हीं लोगों का आसरा था। उस की जिन्दगी में ही हम यहाँ आ रहे थे। बुढ़िया ने दया कर के मुझे निकाला नहीं और अब मैं ही सान खींचने का काम करने लगी। बड़े कसाले का काम था। मै तो पहले से ही बीमार और कमजोर थी। शीघ्र ही मैं खाट से लग गई। बुखार मेरा टूटता ही न था। जब तक हड्डियाँ चलीं मैं ने काम किया। अब तो चला-चली की वेला है बहन, माफ कर सको तो माफ कर दो वरना खैर। इसी लिए मैं ने तुम्हें बुलाया है। तुम आ गईं, बड़ी बात

हुई। मरते हुए को आराम देने का बड़ा सवाब है बहन ! मुझे जो कहना था कह चुकी, अब तुम्हें जो जंचे सो करो, जो सजा मुनासिब समझो, दो।"

वह चुप हो गई। बड़ी देर तक हम सब चुप, नीरव, निस्पन्द बैठे रहे। फिर एकाएक जैसे मैं नींद से जाग पड़ी। मैं ने आँख के आँसू पोंछ कर कहा—"चलो बहन, अब मैं तुम्हें यहाँ नहीं छोड़ सकती, तुम्हें मेरे साथ चलना होगा।"

रानी को विश्वास न हुआ। उस ने भर्राए गले से कहा—"क्या कहा ?" मैं ने उस की गर्दन में अपनी बाहें डाल कर उठा लिया। मेरे दामाद ने भी सहारा दिया। हम उसे मोटर में डाल अपने घर ले आए। केवल दो दिन वह और जीवित रही। उसे बचाने के सभी उपाय व्यर्थ प्रमाणित हुए।

बस, मुझ अभागिन की पाप-कथा समाप्त हो गई। पर अभी मेरा जीवन तो शेष है ही और उस में वे सब अच्छी-बुरी स्मृतियाँ गुंथी हुई हैं, जो मेरे ऊपर गुजरी थीं।

# उपसंहार

मुझ अभागिन की पाप कथा समाप्त हो गई। अभी मेरा जीवन शेष। और उन में वे सब अच्छी-बुरी स्मृतियां गुथी हुई हैं, जो मेरे ऊपर गुजरी थीं। पर अब तो मैं सब सह गई हूँ। अब तो दर्द ही मेरा शृंगार है। जब दर्द का मैं ने प्यार में विसर्जन किया—तो यह दर्द तो पीड़ानन्द का रूप धारण कर गया। पीड़ानन्द दुनिया का सब से गहरा आनन्द है, इसे मुझ अभागिनी से बढ़ कर कौन जान सकता है।

अब मैं आप से बिछुड़ रही हूँ, मेरा मन छटपटा रहा है, न जाने मेरी पाप-कथा सुन कर कितनी बहनों ने आंसू बहाए होंगे, कितने भाई गुस्से से तलमला उठे होंगे। परन्तु अब तो हँसने का दिन है। हँस कर ही मैं अपने दिन काट रही हूँ। अब मैं—जन्म-जात दुखिया हँस सकती हूँ। आप भला क्यों न हँसे! किसी दिन आइए, मेरे घर, मेरे गुलाब देखने। देखिए और दाद दीजिए। कितने किस्म के गुलाब हैं। इन में कुछ मैं ने पैदा किए हैं। अपने बच्चों ही की तरह मैं उन्हें पालती-पोसती हूँ, प्यार करती हूँ। फूलों को कौन प्यार न करेगा भला? और अब तो मिसेज कृष्ण के गुलाब राजधानी में प्रसिद्ध हो गए हैं। मैं ने बताया न कि इन फूलों के कारण राजधानी के अनेक गण्य-मान्य महापुरुषों से मेरा सौहार्द्र स्थापित हो गया है। वे मेरे फूलों की बहार का आनन्द लेने आते ही रहते हैं। पर लाल गुलाब मैं किसी को देती नहीं। आप

को भी नहीं दूंगी, कह देती हूं। लाल गुलाब तो प्रधानमन्त्री नेहरू के लिए हैं। हर सोमवार को मैं और मेरी लड़की एक टोकरी लाल गुलाब लेकर प्रधानमन्त्री के घर खूब भोर ही में पहुँच जाते हैं। बहुत खुश होते हैं वे मेरे फूलों से। मेरी दुःख-गाथा सुन कर वे भी आँखें गीली कर चुके हैं। पर अब तो देखते ही हंसते हैं। और अब मेरी बेटी एक लाल कली अपने हाथ से उन की शेरवानी में लगा देती है, तो वे उसकी ठोड़ी पकड़ कर उसका दुलार करते हैं। क्या कहूं बिना चाय पिलाए आने देते ही नहीं।

*　　*　　*　　*

कदाचित् किसी दिन आप मेरे यहां आएं, जब मन हो तभी आइए। ४२०० पृथ्वीराज रोड नई दिल्ली। कृपया ४२० को न भूलिए।